प्राक्कथन

'हिन्दी का आधुनिक साहित्य' अपने विषय की पहली रचना नही है। इस विषय पर अब तक बहुविध प्रयत्न हो चुके है। उन सब मे ही पर्याप्त विस्तार से कालक्रमानुसार व विविध साहित्यांगो के अनुसार विचार किया गया है। ऐसा होते हुवे भी, लेखक ने इस पुस्तक के लिखने की आवश्यकता समझी, यह बात कुछ मनो मे उठेगी।

इसका एक उत्तर यह दिया जा सकता है कि प्रत्येक लेखक अपनी ही शैली मे किसी विषय को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार हर नये प्रकाशन के साथ शैली के रूप मे नया व्यक्तित्त्व सामने आता है। इस उत्तर मे वजन भी है। किन्तु, केवल इसी कारण यह पुस्तक नही लिखी गई।

इसके लिखने का एक कारण यह है कि गत तीन दशको के अपने अध्ययन मे एक विशाल साहित्य-भण्डार के अवलोकन का अवसर लेखक को मिला है। इसमे भारत की प्राचीनतम से लेकर अर्वाचीनतम तक सभी भाषाओ का चुना हुवा अश गृहीत हो जाता है। इस सब के अध्ययन से भारतीय साहित्य के विषय मे उसकी समग्रतः कुछ धारणायें स्थिर हो गई है, जिनके विषय मे देश-विदेश के कुछ प्रसिद्धतम विद्वानो से विचार-विमर्श और परामर्श भी हुवा है। विशेषतः रूस के प्रो० चेलिशेव, फ्रांस के प्रो० मैंल्, इटली के प्रो० तुची एवं प्रो० गार्गानो, तथा अपने ही देश के डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० सत्येन्द्र आदि विविध विद्वानो का नाम इस दिशा मे उल्लेखनीय है। इन सबके प्रोत्साहन का ही परिणाम था कि हमे हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर कलम उठाने का साहस हुवा। यह कृति हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध मे उचित तथ्याकन के साथ उस (हमारी अपनी) विशिष्ट दृष्टि को भी प्रस्तुत करती है।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय हिन्दी का आधुनिक साहित्य मात्र है। सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के विषय मे एक अन्य प्रबन्ध का स्वतन्त्र प्रकाशन हुवा है। प्रस्तुत

विवेचन मे लेखक की आधारभूत 'मानसिक भूमि' का परिचय आरम्भ के आठ पृष्ठो मे 'विषय-प्रवेश' के नाम से दे दिया गया है।

ग्रन्थ मे चर्चित विविध साहित्यांगो की सख्या पर्याप्त बढ गई है। उनका विवेचन भी विस्तृत हुवा है। इसीलिये कुछ ऐसे विषयो को देने का लोभ सवरण कर लिया है, जो हमारी दृष्टि में प्रस्तुत विषयो के अतिरिक्त भी आवश्यक थे। फिर भी यह निबन्ध विद्वान् पाठको एव छात्रो के लिये यत्किंचित् भी उपयोगी हो सका, तो लेखक अपना श्रम सार्थक समझेगा।

प्रकाशक महोदय का आभार स्वीकार करना ही चाहिये, जिन्होने अत्पल्प समय मे भी इसका प्रकाशन पूर्ण किया।

अन्त मे, उन सभी व्यक्तियो के प्रति आभार स्वीकृति भी एक आह्लाद-प्रद कर्त्तव्य है, जिनसे निबन्ध के प्रणयन व मुद्रण मे सहायता मिली है। सहायक-ग्रन्थ-सूची पृथक् से न देकर हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध मे, तथा विविध भारतीय साहित्यो के सम्बन्ध मे, लिखने वाले सभी देशी-विदेशी विद्वानो का आभार भी यही सावसर होता है। स्थान-स्थान पर उनकी कृतियो से सहायता ली गई है।

जल्दी में मुद्रण की त्रुटियाँ कुछ रह गई हैं, वे अगले सस्करण मे नही रह पायेगी।

—सत्यकाम वर्मा

विषय सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

आधुनिक साहित्य : विहंगम दृष्टि

विषय-प्रवेश

हिन्दी के आधुनिक साहित्य के अध्ययन के विषय मे अब तक विविध प्रयत्न हो चुके है। परिणामतः विचार-वैविध्य के साथ-साथ आधारभूत सामग्री भी प्रभूत मात्रा मे अब तक सामने आ चुकी है। साहित्य-निर्माण की दृष्टि से पिछले डेढ़-पौने दो सौ वर्ष की अवधि मे हिन्दी ने जो विविधतामय प्रगति की है, वह पहले किसी भी युग-विशेष के साहित्य की अपेक्षा अधिक है। इस युग ने बाह्य-प्रभावो के लिये जितने द्वार खोले है, तथा जितना बाह्य-सम्पर्क इस अरसे मे हुवा है, उसकी सम्भावना मात्र ही उसे शेष साहित्य से पृथक् कर देती है। इस साहित्य में जीवन ने खुलकर व सीधे-से अभिव्यक्ति पाई है। मानव के सुख-दु:ख ने कविता की पंक्तियो को ही अपनी ओर आकृष्ट नही किया, अपनी अभिव्यक्ति के लिये नई-नई विधाओ को भी जन्म दिया है। और, सबसे बडी बात यह कि इस अरसे का साहित्य, भारत की सीमाओं को लाँघ कर, विश्व-साहित्य से आदान-प्रदान के लिये उत्सुक रहा हैं, और यत्किंचित् समर्थ भी हुवा है।

'आधुनिकता' व साहित्य-विभाग

परम्परागत रूप मे सन १८०० ई० या १८०३ ई० के बाद से आज तक के हिन्दी-साहित्य को 'आधुनिक' कहा जाता है। फिर, इस 'आधुनिक-काल' को छह उपविभागो मे विभक्त कर लिया जाता है। इन्हें क्रमशः संक्रान्ति-युग (सन् १८७५ ई० तक), भारतेन्दु-युग (सन् १९०० ई० तक), द्विवेदी-युग (सन् १९१८ ई० तक), छायावादी-युग (सन्१९३५ ई० तक), प्रगतिवादी-युग (सन् १९४७ ई० तक), तथा नवीन-युग (वर्त्तमान) के रूप मे कहा जाता है। इन छहो नामो को पढकर यह लगता है कि कदाचित् इस युग को 'आधुनिक' कहने का आधार इस साहित्य का खड़ी-बोली में होना है। अन्यथा कोई एक लक्षण इन विविध कालो को एक वर्ग में रखने का प्रत्यक्ष नही होता।

इन छहो विभागो मे से भी प्रथम विभाग को छोड कर अन्यों का पारस्परिक विभाजन किसी एक निश्चित आधार पर किया गया नही दीखता है। यदि दूसरे व तीसरे काल को 'गद्य का प्रथम व द्वितीय उत्थान' नाम भी दे दिया जाय, तब भी समस्या हल नही होती। ये नाम सर्वग्राही न होकर एक देशीय हो जायेगे। इसके विपरीत अगले युग को 'प्रगतिवादी' कह कर हम वाद का आधार ले रहे होगे। इस प्रकार सब के नामकरण का आधार एक न होने से, उनके इस प्रकार के विभाजन का आधार भी भ्रान्त सिद्ध हो जाता है।

इसके विपरीत हमने इस सम्पूर्ण साहित्य को कुल तीन विभागों मे विभक्त किया है। अध्येताओ की सुविधा के लिये उपर्युक्त छहो विभागो मे से क्रमश दो-दो को उन तीनो विभागो के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। वस्तुतः ऐसा करते हुवे काल-सीमाओ को यत्किंचित् परिवर्त्तित भी करना पडा है। प्रथम विभाग को हमने 'उत्क्रान्ति-युग' माना है, और इसकी काल-सीमा भारतेन्दु के कृतित्व के कुछ बाद तक, सन् १८९० ई० तक, स्वीकार की है। हमने इस सम्पूर्ण युग की एक ही आधार भूमि स्वीकार की है—विद्रोह व क्रान्ति! समाज, धर्म, राजनीति के क्षेत्रो मे इस सत्य को हर कोई स्वीकार करेगा। किन्तु साहित्य के विषय मे इस सत्य को एकदम ग्राह्य नही समझा जाता। सत्य यह है कि साहित्य अपने युग के धर्म, समाज, व राजनीति से पृथक् नही रह सकता। यदि ऐसा हो भी तो वह साहित्य 'मृत' होता है, अतएव नगण्य। किन्तु इस काल के साहित्य को नगण्य और उपेक्षणीय हम तब तक ही समझते हैं, जब तक भारतेन्दु से पूर्व के काल तथा भारतेन्दु के काल को हम भिन्न-भिन्न वर्गों मे रखते हैं। उन्हे एक वर्ग मे रखते ही, यह बात कतई स्पष्ट हो जायेगी कि भारतेन्दु से पहले वर्षो मे जो कुछ भी हुवा, उसका एकत्र व समवेत रूप ही भारतेन्दु के साहित्य मे मिलता है। इस पृष्ठभूमि पर पढने के बाद भारतेन्दु का साहित्य कोई सर्वथा नवीन दिशा लेकर बढता नही दिखाई देता। बल्कि, उसमे धर्म, समाज, राजनीति व साहित्य की पूर्वकालिक प्रवर्त्तमान क्रान्ति ही अपनी पूर्णता पाती दिखाई देती है। भारतेन्दु के बाद का साहित्य उसे ही आधार बनाकर आगे बढता है।

द्वितीय युग को हमने **'नव-दृष्टि-युग'** नाम दिया है। उसकी काल-सीमा

भी सन् १८६० ई० से सन्० १६३५ ई० तक रखी है। भारतेन्दु की मृत्यु के बाद उनकी 'मित्र-मण्डली' ने सन् १८६० के आस-पास ही 'नागरी-सभा' का रूप धारण कर लिया था। नवयुवक छात्रो की उस टोली के अग्रणी थे—श्यामसुन्दर दास, रामनारायण मिश्र आदि। उनमे भारतेन्दु का उत्साह भी था, किन्तु नव-निर्माण की भावना भी। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को भी सामने लाने का श्रेय श्यामसुन्दर दास को ही है। उनके व्यक्तित्व को द्विवेदी जी से किसी प्रकार भी कम महत्त्व नही दिया जा सकता। बल्कि, सच तो यह है कि द्विवेदी जी से पहले भी इस व्यक्तित्व की जो प्रतिष्ठा थी वह, तथाकथित 'द्विवेदी-युग' के बाद भी घटी नही, बढ अवश्य गई। तभी इस व्यक्ति ने भारत के प्रथम भारतीय हिन्दी-विभागाध्यक्ष के रूप मे हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस मे 'प्राध्यापक' का पद सम्भाला। परन्तु इसी आधार पर इस युग को उनके नाम से सम्बद्ध कर देने का हमारा सुझाव नही है। वे भारतेन्दु का उत्साह लेकर उठे थे, और एक चहुँमुखी सृजन-प्रेरणा जीवन-भर देते रहे। अतः कम से कम नवयुग का आरम्भ, द्विवेदी जी मे न मान कर, हमने उनसे मानने का आग्रह किया है। इस युग की परली काल-सीमा तथा इस युग के नामकरण के निर्धारण का प्रश्न परस्पर उलझा हुवा है। जिस प्रकार प्रथम युग मे लेखक की भावना 'सुधारक', 'प्रचारक', या 'क्रान्तिकारी' की मिली जुली भावना थी, उसी प्रकार इस युग मे सबसे प्रमुख भावना रही—**अपनी संस्कृति पर पुनर्विचार की**। ऐसा होना आवश्यक भी था। पाश्चात्य विद्वानो ने नियमित एव व्यवस्थित रूप मे भारतीय इतिहास एवं सस्कृति को विकृत रूप मे प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया था। नव-शिक्षा मे शिक्षित भारतीय स्वयं अपनी ही परम्परा और रीति से अनभिज्ञ हो चुका था। सहस्राब्दियो पुरानी हमारी सस्कृति और सभ्यता को 'जगली' व 'निकृष्ट' ठहराया जा रहा था। इसके प्रति एक सजग और सचेत प्रतिक्रियात्मक एव 'विद्रोहात्मक स्वर हमे ४५ वर्षों के इस सम्पूर्ण समय मे अत्यन्त प्रखर मिलता है। उसे 'द्विवेदी-युग' या 'प्रसाद-युग' जैसे वर्गो मे बाँटना सर्वथा भ्रामक होगा। बहुत हो, तो हम उन दो भागो को एक ही प्रक्रिया के दो चरण, कह सकते है। सांस्कृतिक भावना, देशप्रेम, स्वाभिमान-चेतना आदि की दृष्टि से इन दोनो चरणो मे विशेष अन्तर नही है। यदि कुछ अन्तर है, तो अभिव्यक्ति का। किन्तु, साहित्य का विभाजन अभिव्यक्ति के आधार पर न करके प्राण-तत्व या भावना के आधार पर किया जाता है। और, उस भावना की दृष्टि से

नाथूराम 'शंकर' शर्मा, मैथिलीशरण 'गुप्त', 'हरिऔध', महावीरप्रसाद 'द्विवेदी', श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र 'शुक्ल', 'प्रसाद', 'निराला', प्रेमचन्द आदि विभिन्न व्यक्तित्व न होकर एक ही 'चेतना' के विविध प्रहरी व उद्घोषक दिखाई देते है। उन सब मे ही **स्वप्निल आदर्श** की मात्रा किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। 'रोमाण्टिक' कह कर हम उसका महत्त्व कम कर देंगे।

और, सन् १९३५ ई० के बाद का साहित्य इस **स्वप्निल आदर्श और सांस्कृतिक-पुनर्दर्शन** की भावना से रहित है। इसके विपरीत उसमे **यथार्थ** के प्रति आग्रह सबल है। यथार्थ की उस सबलता को हम भले ही 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' की सीमाओ मे बन्द करना चाहे, अथवा किसी और आधार पर उसका विभाजन करना चाहें · **यथार्थ स्वत एक और अविभाज्य है।** इस चरण को राजनैतिक आवश्यकता के कारण हम स्वातन्त्र्य से 'पूर्व' और 'उत्तर' के दो भागो मे भले ही बाँट लें, पर यह काल भावना की दृष्टि से एक है और अविभाज्य। हमने इसे **यथार्थ युग** नाम दिया है।

इस प्रकार इस काल को हमने भी तीन पृथक्-पृथक् वर्गों मे रखा है, और, फिर भी उस सम्पूर्ण साहित्य को 'आधुनिक' कहा है। प्रश्न उठता है कि, यदि पूर्ववर्त्ती युगो को हमने 'प्राचीन' या अन्य किसी वर्ग मे रखकर एक नही माना, तो इन तीनो को एक वर्ग मे रखने का आधार क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे हमारा निवेदन इतना ही है कि हिन्दी साहित्य के ये तीनो वर्ग केवल इसी दृष्टि से एक हैं, कि वे एक निरन्तर-परम्परा में बढ़े है। उनमे उत्तरोत्तर विकास के लक्षण स्पष्ट हैं। अन्यथा 'गद्य' या किन्ही अन्य विधाओ की एक रूपता के द्वारा इस समय की महत्ता सिद्ध करना भ्रामक है। वास्तव मे तो सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य मे ही उत्तरोत्तर विकास के लक्षण इतने स्पष्ट व परस्पर सम्बद्ध हैं कि उसके एक भाग को 'शृंखला' से अलग करके देखा ही नही जा सकता। फिर भी साहित्य को भाषा एवं भावना के आधार पर यदि दो वर्गों मे बाँटना ही हो, तो सन् १८०० ई० से पहले के साहित्य को 'प्राचीन' व उसके बाद के साहित्य को अपेक्षाकृत 'आधुनिक' कहा जा सकता है। इन तीनो युगो का साहित्य, पहले तीनो युगो के साहित्य की अपेक्षा, इसी दृष्टि से 'आधुनिक' कहा जा सकता है। राजनैतिक तथा अन्य कारणो को बीच मे लाना उतना उचित नही। **इसी आधार पर हमने इसे**

'आधुनिक साहित्य' कहकर भी 'आधुनिक-काल' जैसी किसी काल-सीमा को स्वीकार नहीं किया है ।

पृष्ठभूमि

इस साहित्य के अध्ययन मे प्रवृत्त होने से पहले हमे कुछ सत्यो को हृदयगम कर लेना जरूरी है, अन्यथा हम इस साहित्य को समझने मे कही न कही ग़लती कर बैठेगे ।

सर्वप्रथम हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि यह साहित्य सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अविभाज्य अश है । मुञ्ज की साहित्यिक अभिव्यक्तियो से आरम्भ होने वाले साहित्य से भिन्न करके इस साहित्य को नही पढा जा सकता । लोकोन्मुखी (आदिकालीन) साहित्य, भक्ति-साहित्य, एव रीति-साहित्य का सीधा सम्बन्ध इस साहित्य से है । केवल भाषा ही नही, भावना का साम्य और नैरन्तर्य भी इसमे खोजा जा सकता है । कबीर, तुलसी, प्रसाद और निराला, तथा मीरा, सहजोबाई और महादेवी की श्रेणियाँ अन्तत. एक है । काल व परिस्थितियो की भिन्नता ने उन्हे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नही कर दिया है । उनके व्यक्तित्व का अध्ययन एक दूसरे के व्यक्तित्व के प्रकाश मे अधिक अच्छी तरह पढा जा सकता है ।

इसके साथ ही यह सत्य भी हमे स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दी-साहित्य, सम्पूर्ण, भारतीय-साहित्य का अविभाज्य अंग है । वैदिक साहित्य से लेकर आज तक सम्पूर्ण भारतीय साहित्य ने साथ-साथ प्रगति की है । उसके किसी भी एक अंश के रहस्यो को समझने के लिये दूसरे अश से सहायता ली जा सकती है । मध्ययुग में सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्त्व हो जाता है । सस्कृत भाषा के साहित्य मे (क्योंकि उसके निर्माताओ मे सभी प्रदेशो के लोग शामिल थे) । हिन्दी-साहित्य के मध्ययुगीन अश को भी यह सौभाग्य मिला । उसके निर्माताओ मे भी सभी प्रदेशो का प्रतिनिधित्त्व रहा । किन्तु, पिछले डेढ सौ वर्ष मे भारत की प्रादेशिक भाषाओ ने अपना विशिष्ट व्यक्तित्त्व ही निर्माण नही किया है, बल्कि उन सब मे ही उच्चतर साहित्य का निर्माण भी हुवा है । अग्रेजी शासन की विभाजन-नीति का परिणाम कहकर इस सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती । आखिर यह साहित्य भारतीय चेतना के विभिन्न अंशो का प्रतिनिधित्त्व करता है । यह बात उतने ही साहित्य से स्पष्ट

हो जाती है, जितने का अनुवाद अब तक हिन्दी मे हो चुका है। बँगला, मराठी, व गुजराती साहित्यो ने प्रत्यक्ष रूप मे हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव डाला है। दक्षिण के साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव भले ही न पडा हो, किन्तु उसमें भी हिन्दी-साहित्य के समानान्तर ही भावधाराये बही हैं।

और फिर, यह बात तो छोटी पड जाती है, जब हमे यह पता चलता है कि पिछले कुछ दशको मे सम्पूर्ण विश्व का साहित्य एक दूसरे के इतना समीप आगया है, कि एक साहित्य का अध्ययन दूसरे साहित्यो के यत्किञ्चित ज्ञान के बिना अधूरा है, और शायद असम्भव भी !

परन्तु, इस सबका अर्थ यह नही कि हिन्दी-साहित्य, विशेषकर आधुनिक-साहित्य, मे सब कुछ बाह्य-प्रभाव की ही देन है, (उसका अपना कुछ भी नहीं!)। सत्य केवल इतना है कि एक ही समय मे बनने वाले सभी साहित्य एक दूसरे की विचारधारा एवं अभिव्यक्ति से प्रत्यक्षत या अप्रत्यक्षत' यत्किचित् प्रभाव ग्रहण किया ही करते है। किन्तु, इतने मे ही उनका स्वत्त्व नही होता। हर साहित्य की अपनी परम्परा और पृष्ठभूमिका होती है। उस पृष्ठभूमि पर ही कोई भी साहित्य सच्चे रूप मे पनप पाता है। सौभाग्य से 'हिन्दी' भारत की केन्द्रीय भाषा है। भारत की आधी से अधिक जनसख्या उसे अपनी मातृ-भाषा स्वीकार करती है। पिछली अनेक शतियो से वह सम्पूर्ण भारत मे ही बोली या समझी जाती हैं। अत उसने 'सस्कृत' का स्थान बहुत अशो तक ले लिया है। स्वामी दयानन्द ने इसी आधार पर उसे 'आर्य-भाषा' नाम दिया था। वह समग्र भारतीय-संस्कृति का प्रतिनिधित्त्व करती है। पजाबी, बँगला, मराठी आदि मे भी वह प्रवृत्ति खोजी जा सकती है। किन्तु, वहाँ प्रादेशिकता की जिस भावना के दर्शन होते है, वह 'हिन्दी-साहित्य' मे नही मिलती। यदि वह यथार्थ के प्रति वर्तमान आग्रह के कारण कही चित्रित हुई भी है, तो 'प्रादेशिकता' की किसी सकीर्ण भावना के कारण नही।

और ऐसे साहित्य को पूरी तरह समझने के लिये भारतीय संस्कृति की समग्रता को भली प्रकार समझना होगा।

भारतीय सस्कृति को हम **समन्वय, स्वतन्त्रता,** व **विद्रोह** की 'त्रिवेणी' कह सकते है। वैदिक-काल से लेकर आज तक के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य मे इन तीनो तत्त्वो की ही पृष्ठभूमि पर उच्चतर साहित्य का निर्माण हुवा है।

कालिदास, ज्ञानेश्वर, कम्बन, त्यागराज, वल्लात्तोल, रवीन्द्र, भारतेन्दु, तिलक, प्रसाद, प्रेमचन्द, आदि का साहित्य इस दृष्टि से एक और अविभाज्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर स्थित है। उसे पृथक्-पृथक् वर्गों मे बाँटा नही जा सकता। रवीन्द्र का प्रसाद पर प्रभाव पडा है, या कबीर का रवीन्द्र पर? यह बात वाद-विवाद से तय करने की नही है। उन सबके मूल मे एक ही भावना काम कर रही है। वे सभी उपरोक्त तीनो तत्त्वो से परिचालित हैं। इन तीनो के साथ ही 'अध्यात्म' का पृथक् परिगणन आवश्यक नही है। जीवन के 'बहि.' और 'अन्त.' के समन्वय मे 'अध्यात्म' का अन्तर्ग्रहण स्वाभाविक है। इसीलिये जब हम इन सब कवियो मे उपर्युक्त तीनो तत्त्वो की पृष्ठिभूमि पर 'अध्यात्म' का स्वर मुखर होता हुवा पाते है, तो उसका मूल हमे भारतीय सस्कृति की अन्तर्मुखी दृष्टि के अन्दर ही ढूँढना चाहिये। इन तत्त्वो के संयोग से ही उत्कृष्टतम साहित्य का सृजन होता है समान रूप से व सब भाषाओ मे।

समन्वय का अर्थ समझौता वृत्ति से नही है। वह तो एक जीवन-दृष्टि है: जीवन के विविध पार्श्वों मे सतुलन देखने की। जीवन के ये पार्श्व वैयक्तिक हो, सामाजिक हों, या सामूहिक · उनमे वैषम्य व विरोध के स्थान पर सामञ्जस्य की दृष्टि को अपनाना ही भारतीय संस्कृति का प्रधान लक्ष्य रहा है। भौतिकता व अध्यात्म तो केवल प्रतीक मात्र है उस 'सत्य' के, जिसे हम वैषम्य-दृष्टि के कारण भिन्न-भिन्न मान बैठे है।

स्वतन्त्रता का अर्थ भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से नही है। राजनैतिक दृष्टि से परतन्त्र होकर भी यदि व्यक्ति को **मन, वाणी,** और **कर्म** की स्वतन्त्रता प्राप्त है, तो वह **स्वतन्त्र** ही है। पर, राजनैतिक दृष्टि से **स्वतन्त्र** होकर भी यदि उसे ये स्वतन्त्रताये प्राप्त नही हैं तो वह **पराधीन** ही है। कवि की स्वतन्त्र चेतना व्यक्ति-जीवन और राष्ट्र-जीवन मे ऐसी ही स्वतन्त्रता देखना चाहती है।

विद्रोह इस स्वतन्त्रता के लिये ही अन्तर्हित संघर्ष वृत्ति है: गतानुगति के प्रति परिवर्तन की एक पुकार। भारतीय मनीषा ने आरम्भ से ही **गति मे जीवन** एव **जड़ता में मृत्यु** स्वीकार की है। **गति** का दूसरा नाम ही विद्रोह है। अब तक की उपलब्धियो पर प्रसन्न होकर भी आगे बढने की चाह ही सच्चा विद्रोह है।

ये ही तीन तत्त्व है, जिनकी पृष्ठभूमि पर हम मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य

का सही अध्ययन कर सकते हैं, और, इन्हीं के आधार पर हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य का भी पूरा-पूरा अध्ययन कर सकते हैं। हिन्दी-साहित्य ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की मूल-चेतना इन तीन तत्त्वों में ही सन्निहित है।

अध्ययन-क्रम

इस साहित्य के अध्ययन मे एक कठिनाई सम्मुख आती है। यदि हम तीन कालो मे विभक्त करके इस साहित्य का अध्ययन करते हैं, तब इस साहित्य की समग्रता सामने नही आती। यदि आंगिक समग्रता मे इस साहित्य को पढते हैं, तो कालक्रमानुसार प्रगति के जानने मे असमर्थ रहते हैं। इससे पहले के तीनो कालो के साहित्य मे प्राय: 'कविता' ही प्रधान रही। अत: उनके अध्ययन का क्रम कालक्रमानुसार ही उपयुक्त था। किन्तु इस साहित्य के अध्ययन मे अवधेय सत्य यह है कि इसके उपविभाग अनेक हे और उन सब का ही पृथक्-पृथक् परिज्ञान आवश्यक भी है। अत: पाठक की सुविधा एव साहित्य-विषयक अध्ययन की पूर्णता का ध्यान रखते हुवे इस साहित्य को द्विधा विभक्त करके इसका अध्ययन किया गया है। पहले कालक्रमानुसार एक 'विहंगम दृष्टि' प्रत्येक काल की गतिविधि पर डाली गई है, बाद मे उसी का विस्तार से विविध साहित्यांगो के अनुसार पर्यालोचन किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन से दृष्टि मे एक प्रकार का सन्तुलन-सा स्वत आ जाता है।

उत्क्रान्ति-युग

(सन् १८०३ ई० से १८९० ई० तक)

भूमिका-काल एवं भारतेन्दु काल

एक दृष्टि में
उत्क्रान्ति युग
प्रथम चरण
(भूमिका-काल)
(सन् १८०३ से सन् १८६८ ई० तक)
१ चार गद्य लेखक
२. ईसाई गद्य
३. धार्मिक प्रतिक्रिया का साहित्य
४. स्वतन्त्र साहित्यिक प्रयत्न
५. पत्रकारिता का आरम्भ
द्वितीय चरण
(भारतेन्दु-काल)
(सन् १८९० ई० तक)
कविता
मुक्तक काव्य
पुराने विषय
शृंगार
नीति
भक्ति
आदि।
नये विषय
देशप्रेम
समाज सुधार
जन-चेतना
आर्थिक चेतना आदि।
प्रबन्ध काव्य
(गौण)
गद्य
नयी परम्परा, नये क्षेत्र
१. नाटक,
२. उपन्यास,
३. कहानी,
४. निबन्ध,
५ पत्रकारिता,
६. समालोचना,
आदि।

उत्क्रान्ति-युग

(सन् १८०३ ई० से १८९० ई० तक)

भूमिका
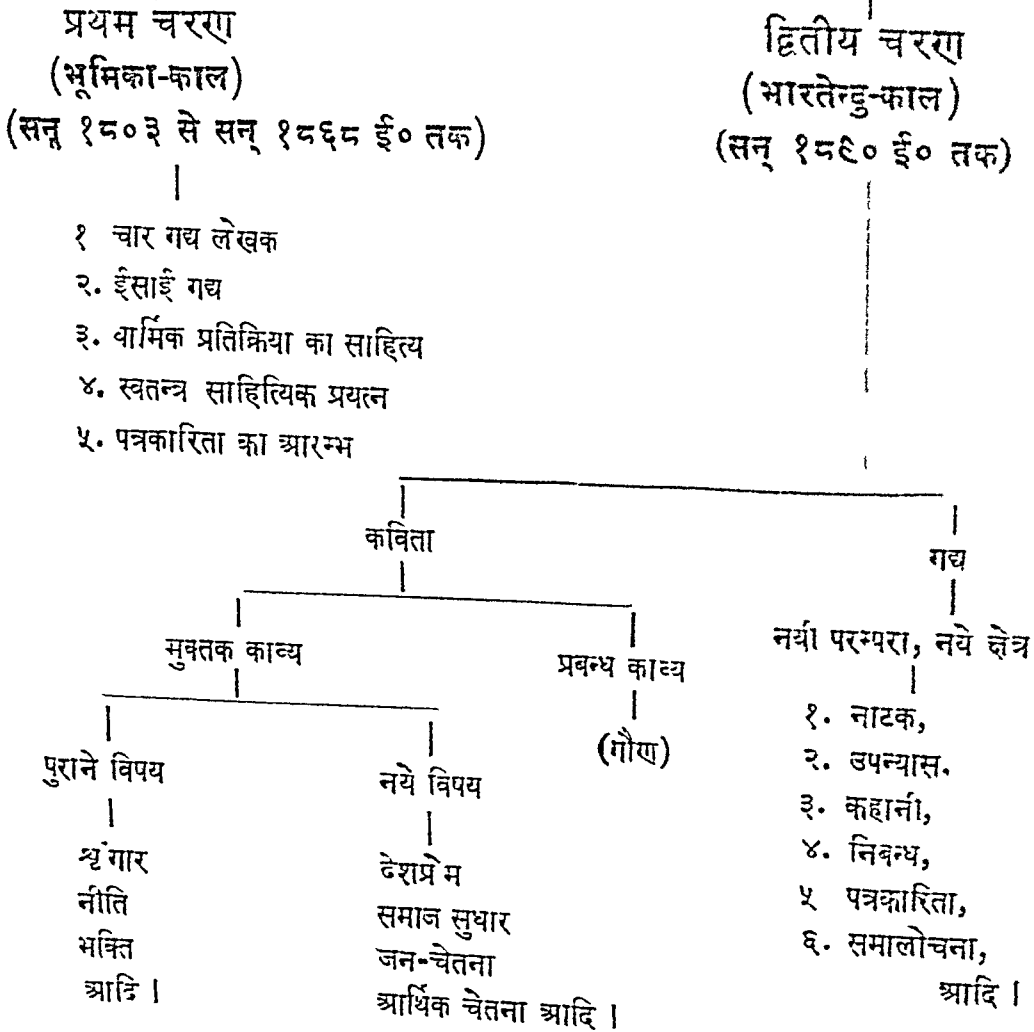
पूर्वयुग

काव्य-विलास को उद्देश्य बनाकर चलने वाले कवियो का कृतित्व धीरे-धीरे रीति या परम्परा की जडता मे इतना आबद्ध हो गया, कि उसमे कवित्व की रही-सही मात्रा का भी लोप हो गया। भाषा, छन्द, या अलकार के व्यामोह ने कवित्व की सत्ता को ही जैसे समाप्त कर दिया हो! बदलती परिस्थितियो के प्रति कवि सजग न रहा।

यह व्यामोह काव्य मे ही नही था; राजनैतिक क्षेत्र मे भी यही व्यामोह छाया हुआ था। औरंगजेब के राज्य-शासन के उत्तरार्ध से जो पतन का इतिहास आरम्भ होता है वह भारत की पूर्ण पराधीनता मे ही जाकर समाप्त होता है। इस प्रकार सन् १८४८ ई० की पूर्ण पराधीनता भी एकाएक नही आई थी। उसका भी कारण था—यही व्यामोह! दरबारी-षड्यन्त्र, आपसी भेद-भाव, एव वशानुगत शत्रुताओ ने इतना विकराल रूप धारण किया कि बदलती परिस्थितियो की प्रतिक्रिया शून्य-प्राय-सी रह गई! सिराजुद्दौला, टीपू सुल्तान, या इसी प्रकार के अन्य प्रतिरोध इक्के-दुक्के असहाय प्रयत्नमात्र ही बन कर रह गये।

समर्थ रामदास व सन्त तुकाराम का उत्तेजक व 'मस्ती भरा धार्मिक स्वर भी उस युग के धर्म व्यामोह मे धीरे-धीरे शून्य हो गया। धार्मिक-क्षेत्र मे भी गतानुगतिकता एव जडता व्याप्त होती गई। बदलती परिस्थितियो के प्रति चेतना का विद्रोह दब-सा गया।

वह युग प्रतिक्रिया हीन जड़ता का युग बन चुका था।

प्रस्तुत युग

—तब आया नया युग। सन् १८०३ ई० मे साहित्य मे नई चेतना का स्फुरण स्पष्ट हुवा। ईंशा अल्ला खाँ एव मुंशी सदासुखलाल ने नयी 'बोली' ही नही

अपनायी, और नयी 'शैली' मे ही सृजन किया, उसमें एक साहित्य-निर्माण का नवीन उत्साह, जन-चेतना के उद्बोध के निमित्त उद्दीप्त हो, प्रेरित था।

सन् १८५७ ई० मे भारतीय राजनैतिक-चेतना ने एक पलटा खाया, और अपनी प्रतिक्रिया-शक्ति का परिचय दिया।

इन्ही वर्षो मे राजा राममोहन राय के [illegible] बाद सन् १८६० ई०से स्वामी दयानन्द ने समाज और धर्म के क्षेत्र मे आमूल-सुधार के जो प्रयत्न आरम्भ किये, उनमे साहित्य को नयी शक्ति मिली। फोर्ट-विलियम कालेज, आगरा कालेज, ईसाई-मिशनरी, राजा शिव प्रसाद व राजा लक्ष्मणसिह आदि के प्रयत्नो ने उसी चेतना को बढ़ावा दिया।

—किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे, सच्चे साहित्यिक! उनके साहित्य को उपरोक्त तीनो क्रान्तियो का प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। उनमे इंशा अल्ला खाँ की भाषा-चेतना व साहित्यिक जन-चेतना, राममोहन राय व दयानन्द की धार्मिक व सामाजिक क्रान्ति-चेतना, एव राजा शिव प्रसाद व राजा लक्ष्मणसिह की भाषा की उन्नति एवं साहित्योन्नति विषयक चेतना—का एकत्र समन्वय दिखाई देता है। इन सबसे भी बढ़कर कुछ है कि उनके साहित्य के सम्मुख पूर्व युग का साहित्य फीका एव निःसार दिखाई देता है।

—वे उस क्रान्ति-यज्ञ की पूर्णाहुति देने आये थे।

युगसीमा

इस प्रकार उनके निधन के साथ एक युग का अन्त होता है। स्वामी दयानन्द की मृत्यु भी लगभग उसी समय हुई। स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना उससे पाँच वर्ष पूर्व ही की थी। स्वामी दयानन्द के साहित्यिक, राजनैतिक, व धार्मिक आन्दोलन मे सन् १८६० ई० से सन् १८८३ ईसवी तक एक-सूत्रता है। उसे अलग-अलग नही किया जा सकता। फिर उसी आवाज को साहित्य मे उठाने वाले, तथा दयानन्द के समान ही स्वदेश, स्वभाषा, स्व-धर्म एव स्वतन्त्रता की स्वर-लहरी के क्रान्तिकारी उद्गाता, भारतेन्दु को उस युग से भिन्न करके कैसे देखा जा सकता है?

—सन् १८०३ ईसवी से सन् १८६० ईस्वी तक का युग एक ही है।

दो चरण

पर साहित्यिक सुविधा के लिये, तथा भारतेन्दु की साहित्यिक चेतना

को पूरी तरह पहिचानने के लिये, हम इस युग को दो चरणो मे विभाजित करके पढ रहे है। भारतेन्दु की साहित्य-रचना-तिथि (सन् १८६७-६८ ई०) तक प्रथम चरण सीमित माना है; उसके वाद से द्वितीय।

भूमिका-काल

प्रथम चरण (सन् १८६८ ई० तक)

रीति युग का सप्राण साहित्य अट्ठारहवी शती के अन्त तक धीरे-धीरे म्रियमाण और रूढिवादी बनता जा रहा था। उन्नीसवी शती मे भी कविता का ढाँचा उसी आधार पर स्थिर रहा, परन्तु उसमे अनुभूति-हीनता और आकर्षण-हीनता की एक साथ उपस्थिति ने उसे निर्जीव बना दिया था। इसके विपरीत नई परिस्थितियो ने अपना प्रभाव दिखाना आरम्भ किया था। तथा शासक और शासित के बदलते सम्बन्धो ने, उनके नये प्रकार के सम्पर्कों ने, सहयोग या विरोध की नई-नई दिशाओ को जन्म दिया था।

कला और उद्योग

नये शासको का सम्बन्ध विज्ञान की जिस दुनिया से था, वह उत्पादन-जन्य परिणामो मे भले ही उस समय तत्कालीन भारत से बहुत पीछे रहा हो, सुविधाओ को निश्चय ही उसने व्यापकतर और सर्वसुलभ बनाने मे योग दिया था। कोई भी कला मशीनो पर उतारी जाने लगी। भले ही इस प्रकार हाथ का कमाल समाप्त होता गया। 'कला' की कलात्मकता समाप्त हुई और वह 'उद्योग' का रूप धारण करने लगी। उत्पादन करने वाला अब 'कलाकार' न रहकर 'मज़दूर' बनता जा रहा था। 'कला' के कौशल का महत्त्वपूर्ण दायित्व भी कलाकार का न रह कर वैज्ञानिक का बनता जा रहा था! इस प्रकार की स्थिति हर कला मे आ चुकी थी। मशीनो का यह प्रचार तो अट्ठारहवी शती मे पश्चिम मे, व्यापक आधार ग्रहण कर चुका था तथापि कलात्मक सूक्ष्मता और बारीकी मे वह भारतीय निर्माण-कौशल की प्रतिद्वन्द्विता न कर सका था।

व्यापार से राज्यलिप्सा तक

इसी मशीनी कला के शुद्ध व्यापार पर पनपने वाली 'ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी'

को यह तब अनुभव हुवा, जब इस भारतीय-कला के आक्रमण ने उदीयमान ब्रिटिश उद्योग-पतियो और पार्लियामैण्ट को विवश कर दिया कि वे अपनी उद्योग-रक्षा मे सतर्क होकर कानून-निर्माण करें। उसी कम्पनी को अब भारतीय कला के विनाश और पश्चिम के उद्योग को पनपाने का उत्तरदायित्व निभाना पडा। उन्नीसवी शती मे आने वाली भाप की शक्ति ने उन्हे नई प्रेरणा और बल दिया। उद्योगो का विकास तेजी से हो चला। उनके उत्पादन की खपत के लिए नये-नये बाजार ढूँढे जाने लगे। भारत-सा सुसंस्कृत, कलाप्रेमी और सम्पन्न देश उन्हे क्यो न लुभाता? और इस प्रकार व्यापार की दृष्टि से अग्रणी भारत की उपयोगिता, उनकी दृष्टि मे, बदल गई। अब तक वे अधिकाधिक सुविधाओ के लिए इस देश के शासको का सहयोग और उन पर नियन्त्रण आदि करते थे, अब उन्हें 'सत्ताहीन' करके सम्पूर्ण राज्य-सत्ता अपने हाथ मे लेना आवश्यक हो गया। इसके बिना कला के वे 'अक्षय-स्रोत' मिटाये जाने असम्भव थे, और विज्ञान के वरदान! भारत-भूमि तक पहुँचाने का कार्य हो ही न पाता। व्यापारी-कम्पनी को ही विजय का यह कार्य निभाना था। इस प्रकार इस नव-युग के आरम्भिक चरण ने दुहरा प्रभाव डाला। एक ओर कला का स्थान उद्योग और विज्ञान लेने लगे, और दूसरी ओर व्यापार का स्थान राज्य-लिप्सा ने ले लिया।

'प्रेस' का प्रवेश

विज्ञान के इस प्रवेश ने इस युग को सबसे बड़े चमत्कार 'प्रेस' से भी भारत का परिचय कराया। इसका प्रथम पदार्पण भी नये शासको की अपनी सुविधा को ध्यान मे रख कर ही हुवा था। प्रशासनिक कार्यों को सुविधापूर्वक चलाने के लिए आज्ञा-पत्रो या परिपत्रो आदि की अनेक प्रतियो की उपलब्धि इस माध्यम से सरलता से हो जाती थी। थोड़े ही, दिन के उनके अनुभव ने उन्हें, जन-सम्पर्क के माध्यम के रूप मे ही, हिन्दी की अनिवार्य-आवश्यकता एव उसके महत्त्व से भी परिचित करा दिया। भारतीयो के सम्पर्क के लिए हिन्दी का माध्यम वे पहले भी अपना रहे थे। अब उन्हें विधिपूर्वक इसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी पडी। पुस्तक-प्रकाशन, एवं अन्य प्रशासनिक कार्यों में भी हिन्दी के 'प्रेस' की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। प्रशिक्षित ईसाई-प्रचारको के धर्म-प्रचार के उत्साह ने भी उन्हें हिन्दी के माध्यम से

प्रचार करने पर वाध्य किया। इसलिए 'प्रेस' के भारत पहुँचने के कुछ ही दिनो के भीतर हिन्दी के नागरी अक्षरो को उसमे ढाल लिया गया, और उसमे पुस्तके छापने की सुविधा प्राप्त हो गई। इस आविष्कार से प्रथम परिचय कराने वालों ने ऐसा भले ही अपने विशिष्ट उद्देश्यो के लिये किया हो, किन्तु ऐसी सुविधाओ का प्रयोग करने मे सब ही स्वतन्त्र होते है। परिणामतः भारत के साहित्यकारो को भी इसका लाभ मिला। जनता से अधिकाधिक सम्पर्क-स्थापन की भावना ने 'समाचार-पत्रो' को भी जन्म दिया। किन्तु ईसाई प्रचार, वदलती परिस्थितियो, एव स्वयं जन-सम्पर्क की भावना ने 'गद्य' की उस विधा को अधिक बल दिया, जो अव तक हिन्दी मे लोक-प्रिय न हो सकी थी। कविता गेय थी, कण्ठस्थ हो सकती थी, उसका गाकर प्रसार सम्भव था। किन्तु गद्य को ऐसी सुविधाये न होने से, तथा दरबारो में विशेष आश्रय न मिलने से, उसके ग्रन्थों को विशेष सत्कार न मिला था। 'प्रेस' ने विना कण्ठस्थ किये ही गद्य को जन-जन के हाथ तक पहुँचने की सुविधा देकर उसे 'जनता की वस्तु' बना दिया। भावनाओ का प्रकाशन कविता से सम्भव है, किन्तु विचार और प्रतिक्रिया से सप्रमाण परिचय गद्य के ही माध्यम से सम्भव हो पाता है। अपने पुराने धर्म-ग्रथो एव कथाओ आदि से जनता का परिचय कराने के लिए भी गद्य अधिक उपयोगी था।

साहित्य : जनता की वस्तु

दरवार की सीढियाँ उतरकर साहित्य जव जनता की वस्तु बनता है, तो उसे जनता की भाषा मे ढलना पड़ता है। जनता की आपस की बातचीत और उसकी शैली ही उसका स्वाभाविक माध्यम बन सकती है। उस शैली मे कही गई किसी भी बात को साधारण जन तत्काल ग्रहण कर सकते है। कविता निश्चय ही ऐसी 'शैली' नही है। साहित्यिक विनोद उसमे ही सम्भव है। किन्तु किसी घटना, वर्णन, या चर्चा को सुनने के लिये जो पूर्ण विस्तार की उत्सुकता होती है, वह गद्य द्वारा ही पूर्ण हो सकती है। अतः उपलब्ध साधनो के प्रकाश मे यदि साहित्य, गद्य के माध्यम से, लोक-भाषा और लोक-जीवन की वस्तु वन गया, तो इस परिवर्तन पर किसी विशेष आश्चर्य की आवश्यकता नही। जनता के दैनिक जीवन के निकटतम परिचय नित्य की व्यापकता, एवं राजनैतिक और आर्थिक शोषण की समान अनुभूतियो के आदान-प्रदान की उत्सुकता मे ऐसा होना स्वाभाविक और उचित ही था।

गद्य की प्राचीनता

गद्य तो इससे पहले भी निर्मित हुवा था। ग्यारहवी शती से ही देशभाषा मे फुटकर रूप मे उसका निर्माण होता आया था। पहले परवर्त्ती-अपभ्रंश से मिलती-जुलती खडी-बोली के एक रूप मे बाद मे चौदहवी शती के बाद से खडी-बोली और व्रज के पृथक्-पृथक् माध्यम से यह प्रक्रिया चलती रही। किन्तु इन दोनों 'गद्यो' का ही प्रयोग जन-सामान्य के व्यापक आधार पर न होने से, एव रसिको द्वारा उसे सम्मान प्राप्त न होने से, स्वय साहित्यकारो ने उस ओर अधिक रुचि न दिखाई। साहित्यकारो का कौशल पद्य-रचना तक ही सीमित रहा। जो गद्य बना भी, वह भी केवल चमत्कार भावना से या पुराने साहित्य की टीकादि द्वारा उसकी रक्षा भावना से ही। ऐसे लेखको को अपने पाठको की सीमित सख्या का पता था। इसलिये उन्होने इस शैली के उत्कर्ष पर ध्यान न देकर आवश्यकता पूर्त्ति के हेतु ही इसे अपनाया।

बदली परिस्थिति

पर इस नवयुग ने मुद्रा का जो बडा माध्यम हमे दिया, इसने साहित्यकार को प्रसिद्धि का एक स्वर्णावसर प्रदान किया। कोई भी रचना अत्यल्प समय मे ही अधिकाधिक पाठको के हाथ मे पहुँच सकती थी, यदि वह जनरुचि को उचित लगे। जनरुचि के इस आकर्षण ने साहित्य को जन-जीवन के निकटतर ला दिया। साहित्यकार का स्वामी या आश्रयदाता अब, **राजा न रह कर, जनता** बन गई थी। उसे 'जन-प्रसादन' और 'जन-अनुरजन' के साथ-साथ 'जन-शिक्षण' का भी उत्तरदायित्व निभाना था। इस प्रक्रिया ने लेखक को पिछली सदियो की गुलामी से मुक्त कर दिया और उसे एक स्वतन्त्र स्थिति प्रदान की, जिसमे वक्तव्य-विषय के चुनाव और प्रस्तुत करने की उसे खुली छूट थी। वह चाहे तो जनता का शिक्षक, सलाहकार, या मित्र बन सकता था। उसका सम्बन्ध किन्ही गिने-चुने शिक्षार्थियो से न रहकर आम जनता से हो गया था। इन सब प्रेरणाओ ने रूढिवादी कवियो को तो न पलटा, पर साहित्यकारो का एक ऐसा दल अवश्य सामने ला दिया, जो केवल चमत्कार भावना से प्रेरित न था, बल्कि जिसका उद्देश्य था अधिकाधिक जनता तक अपनी बात को पहुँचाना। और प्रेस की सुविधा के मिलते ही इसके उपयुक्ततम माध्यम बन गया—'गद्य'।

संस्कृत के गद्य से अन्तर

यहाँ एक अन्तर संस्कृत-गद्य से समझ लेना चाहिये। वहाँ भी प्राकृत का बौद्ध-साहित्य, तथा अशोक या उसके बाद के शिलालेखो का गद्य, आदि भी इसी जन-भावना से पनपा था। उससे पहले गद्य का प्रसार ब्राह्मण, उपनिषद् आदि मे मिलता है, जो सीमित वर्ग का था। साहित्य मे गद्य का प्रयोग, एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे, बहुत बाद मे, ५-६वी शती से ही मिलता है। वह भी साहित्यिक क्रीडा और रजन के लिये। आम जनता और साहित्यकार के बीच 'प्रेस' जैसा माध्यम कभी नही रहा। परिणामत यह नया युग पुराने साहित्य की रूढियो को न तोडकर भी, नये क्षेत्रो को खोलने एव नई प्रेरणाओ और प्रवृत्तियो को जन्म देने के कारण, विविध और विशाल साहित्य के निर्माण का कारण बना। इसमे साहित्यिक को व्यक्तिगत एवं सामाजिक अभिव्यक्ति का अधिकतम अवसर था। इसमे पाई जाने वाली साहित्यिक प्रवृतियाँ परस्पर इतनी विरोधी और विभिन्न है कि इस काल को एक निश्चित नाम नही दिया जा सकता। साहित्य पुरानी रीतियो को तोड नही पाया था, पर आधुनिकता के लक्षण उसमे स्पष्ट जगने लगे थे। इस अन्तर्विरोध और वैविध्य का एकमात्र कारण इस समय की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो की प्रतिक्रिया का इस समय के साहित्य पर सीधा व सर्वाधिक प्रभाव पड़ना है। ऐसा होना अनिवार्य भी था। गद्य और छापेखाने के संयोग ने समाचार-पत्रो के प्रसार को भी जन्म दिया और साथ ही साहित्यकार को जनता के सुख-दु ख और उसकी आवश्यकताओ से भी परिचित करा दिया। अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप और अपने-अपने क्षेत्र के अनुकूल हरएक ने ही गद्य और छापेखाने का उपयोग किया। परिणामतः कवि के कल्पना-जगत् का साहित्य अब जनता के बीच विवाद, विचार-प्रकाशन, आदि का विषय बन गया। उसमे साहित्यिकता या कवित्व की मात्रा और सत्ता पर विवाद हो सकता है। लेकिन रूढियो से मुक्ति उसे अवश्य मिल गई थी।

रूढि व प्रतिक्रिया

यह अवधेय है कि स्वय रूढि-बद्ध कवियो ने इस नयी भाषा एव नई विधा का स्वागत नही किया था। इसे अपनाने वाले थे नयी सामाजिक चेतना के साहित्यकार। यही कारण है कि अट्ठारहवी शती तक के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य मे परिस्थितियो की प्रतिक्रिया इतनी स्पष्ट नही है, जितनी इस

नवीन गद्य मे। यह प्रतिक्रिया हर लेखक की अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुकूल ही आई है।

'उत्क्रान्ति-युग' के इस **प्रथम चरण** को हमने, **द्वितीय चरण** से, इसीलिये भिन्न करके अध्ययन किया है कि इस प्रथम चरण मे जो साहित्य बना, उसमे 'साहित्य' की सच्ची परिभाषा मे आने वाला अग कम है। वास्तव मे तो इस युग की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति-प्रक्रिया अगले ही चरण मे पूरी हुई। भारतेन्दु और उन द्वारा प्रेरित साथियो ने इस सब प्रतिक्रिया की पृष्ठभूमि पर अपनी सप्राण चेतना एवं नवजागरण की मनोवृत्ति द्वारा अत्यन्त सप्राण और सशक्त साहित्य का निर्माण किया। उस साहित्य ने ही वास्तव में अगले युगो की आधार-शिला रखी। **भारतेन्दु** नये युग की उत्क्रान्ति के शंख-वादक बनकर आये।

परिस्थितियां

व्यापारी द्वारा छल

भारत को आरम्भ से अब तक अनेको राज्य-क्रान्तियों का सामना करना पड़ा है। किन्तु ब्रिटिश-राज्य की भारत मे स्थापना जिस छल और कपट से हुई, उसका उदाहरण हमे दूसरा नही मिलता। यह राज्य-स्थापना किसी सैनिक-क्रान्ति या सीधे आक्रमण का परिणाम न थी। उस प्रकार का आक्रमण करने वाला कोई भी देश जितनी बडी शक्ति लेकर आता, यहाँ उसके साम्मुख्य के लिये पर्याप्त शक्ति थी। किन्तु भारत की आन्तरिक स्थिति इस समय विभक्त थी। बाहर से आक्रमण की स्थिति मे वह एकता में बँध सकती थी। उसे विजय का सुगम उपाय था, विभक्त रूप मे ही उसे धीरे-धीरे निगलते जाना। शासन की सुव्यवस्था, या अपने व्यापार के लिये शान्ति-रक्षा का बहाना करके इन नवागन्तुको ने, अपने आदमियो का रुधिर बिना बहाये, इसी देश के भाडे के सिपाहियो के सहारे, धीरे-धीरे अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की। पलासी और बक्सर की लडाइयो ने अट्ठारहवी शती मे ही भारत के बड़े भारी भूभाग का भविष्य इन लोगो के हाथो मे सौंप दिया था। इन लड़ाइयों के बाद यूरोप की अन्य व्यापारी जातियो की अपेक्षा इन्हे बल और समृद्धि की दृष्टि से अत्यन्त प्रमुखता मिली। अट्ठारहवी शती का अन्त होते न होते इनकी सीमा मुगल-साम्राज्य तक पहुँच चुकी थी। नाममात्र को राजा या बादशाह कोई हो, अंग्रेजो के हाथ मे वास्तविक शक्ति-सन्तुलन और सैन्य-बल आ चुका था। दक्षिण में भी यही स्थिति होती जा रही थी।

विदेशी प्रभुत्व

उन्नीसवी शती के मध्य ने इस प्रक्रिया की पूर्णता की। उन्नीसवी शती के प्रथम चरण ने लखनऊ और दिल्ली दरबारो की सत्ता शून्य के बराबर कर दी। दक्षिण के अधिकाश राज्य, मध्यभारत व मराठा साम्राज्य भी धीरे-धीरे अंग्रेजो के अधीन होते गये। सन् १८४९ ईसवी तक अन्तिम शक्ति—पजाव—का सिक्ख-राज्य भी अंग्रेजो की चालबाजी का शिकार हुवा। लखनऊ के आक्रमण के बाद से ही अंग्रेजो ने सीधे आक्रमण आरम्भ कर दिये थे, यद्यपि आधार अब भी समझौतो एव व्यवस्था सुधारो आदि का ही लिया जाता था। छोटे-छोटे बहानो पर युद्ध का नगाडा बज उठता था। इस प्रकार उन्नीसवी शती के मध्य का अर्थ था भारत की पूर्ण-परतन्त्रता। **सम्पूर्ण-भारत किसी एक विदेशी शक्ति के हाथ मे इस प्रकार चला गया हो, यह अपने ढग की पहली घटना थी।** फिर मजा यह कि यह सब एक व्यापारी कम्पनी के नाम पर हुवा, यद्यपि ब्रिटिश पार्लियामैण्ट का नियन्त्रण इस कम्पनी पर किसी न किसी रूप मे रहा अवश्य ! भारत के साथ ही साथ ब्रह्मा एव श्री लका का भविष्य भी अंग्रेजो के हाथ मे जाना निश्चित था। और, यह प्रक्रिया उन्नीसवी शती के तीसरे चरण तक पूरी हुई।

'राष्ट्रीयता' और 'विदेशी'

यहाँ एक बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। अंग्रेज यहाँ व्यापारी के रूप मे आये थे। ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी ने असीम लाभ इस व्यापार मे उठाया भी। यद्यपि आरम्भ मे उन्हे स्वय कल्पना न रही होगी, इतने बड़े देश पर अधिकार जमाने की। किन्तु समय ने असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया। अंग्रेज-व्यापारी यहाँ के शासक बन गये। विदेश से यहाँ शासक भी आने लगे। उसका एकमात्र कारण यह था कि यह कार्य कुछ मनचले और साहसी आक्रान्ताओ का न था। न ही उन लोगो को अपने देश के जीवन की तंगी ने विवश किया था। प्रत्युत विज्ञान के नये करिश्मो से उनकी आँखो मे चकाचौध थी; और प्रजातन्त्र और राष्ट्रीयता के नये नारो से वे प्रभावित थे। उन्हे व्यापार का धन भी अपने देश ले जाना था और माल भी ! परन्तु, 'राष्ट्रीयता' का प्रश्न सामने आने पर उन्हे अपने 'राष्ट्र' का साथ देना था। इसीलिये प्रजातन्त्र की सर्वोच्च सत्ता—पार्लियामैण्ट—की अधीनता उन्होने स्वय

स्वीकार की थी। अन्यथा उन्हे अपने घर से वेघर होने का भय था: जिस स्थिति को वे किसी भी रूप मे स्वीकार करने को तैयार नही थे।

पहले के आक्रान्ता

यह बात अब तक के आक्रान्ताओ से उन्हे एकदम भिन्न सिद्ध करती है। अलक्षेन्द्र भी यूरोप का था और उसे भी अपनी सस्कृति पर नाज था। वह यहाँ स्वय न बस सका। आक्रमणो से घबरा कर वह स्वय भाग गया किन्तु उसके बहुत से परवर्त्ती सेनापतियो ने इस देश को ही अपनी भूमि बना लिया। तैमूरलग या नादिरशाही आक्रमणो मे लूट की भावना थी, विजयकामना और राज्यस्थापना की चाह नही। इनके अतिरिक्त जितने भी आक्रान्ता भारत पर आक्रमण करने आये, हारकर या जीतकर वे यही बस गये। धीरे-धीरे वे इस सस्कृति के अंग बन गये, उनकी यह मातृभूमि बन गई। इसका एकमात्र कारण था कि वे अपनी केन्द्रीय सत्ता से अपने को स्वतन्त्र मानकर चलते थे। उनमे राष्ट्रीयता का गौरव, इस नये रूप मे, कभी न जगा था। वे संस्कृति और विज्ञान मे भारत से कभी भी आगे न रहे थे। इसलिये इस देश को जीत कर भी यहाँ बसने मे ही उनकी शान थी· इसी मे उनका मान था।

नये शासक : विदेशी

परन्तु राष्ट्रीयता और विज्ञान के नये आविष्कारो से चकाचौध मे आये इन आगन्तुको ने भारतीय विज्ञान व संस्कृति से आँखें मूँद कर 'शासित' और 'शासक' का वह कृत्रिम भेद उत्पन्न किया, जिसके कारण उन्होने भारतीयो को अपने से हीन समझकर उनसे मिलने मे गौरवहीनता ही अनुभव की। इस बात का प्रमाण भी उन्हे मिल गया। हमारा इतिहास उन्हे शृखला-बद्ध न दिखाई दिया। वैज्ञानिक आविष्कारो के क्रम-बद्ध लेखे से वे परिचित न हुवे। संस्कृति के हजारो वर्ष पुराने चिह्न उन्हे हमारी जडता के प्रतीक प्रतीत हुवे। उन्होने अपनी जातीय उच्चता प्रदर्शित करने के लिये धीरे-धीरे हमारे अल्पज्ञात इतिहास, अधकचरे सास्कृतिक ज्ञान, तथाकथित भ्रान्त विज्ञान (?), आदि को अपनी उच्चता दिखाने के लिये विकृत और उपहासास्पद रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ किया। उनके अपने राष्ट्रीय-गौरव के प्रदर्शन का अर्थ हुवा, हमारी सर्वतोमुखी हीनता का चित्रण। और इस प्रकार एक अन्ध-विश्वास-ग्रस्त,

असंस्कृत, और अज्ञात इतिहास वाली क्षुद्र जाति के साथ वे कैसे मिलते ? हीनता की मानसिक भावना ने उनके अन्तर्मन से भय की जो एक स्थिति उत्पन्न की, वे अन्त तक उससे मुक्त न हो सके। शासक और शासित के अन्तर ने इसे और भी बढ़ा दिया। और, वे अपने को उच्च समझने के कारण न यहाँ बस सके, न यहाँ के बन सके। प्रायः अन्त तक उनकी स्थिति एक 'बाहरी व्यापारी' की या 'विदेशी' की रही।

नयी चेतना का उदय

यह बात उन्नीसवी सदी के मध्य तक ही स्पष्ट हो गई थी। तभी भारतीय चेतना ने एक करवट लेनी आरम्भ की थी। बगाल का आरम्भिक विद्रोह इसी उबाल का एक रूप था। भारतीय चेतना ने ऐसा विदेशी तत्त्व और शासक-शासित की ऐसी भावनात्मक दूरी को कभी अनुभव न किया था। इसलिये दक्षिण से उत्तर और पश्चिम से पूर्व तक सर्वत्र इन अग्रेजो का राज्य हो जाने के बाद, उनका यह 'विदेशीपन' हरेक को चुभने लगा। जनता का हर वर्ग उनसे इस अन्तर को अनुभव करता था। इसके साथ ही शासन की सुव्यवस्था के नाम पर गाँवो तक के दैनिक व्यवहार मे इनका हस्तक्षेप बढने लगा। इसके साथ ही समस्त कलाकारो को नष्ट करके उनकी कला को मिटाने की चाल चली गई। विदेशी वस्तुओ के आगमन से भारतीय धर्म-प्राण मन सशक हो उठा। इस आशका व भय ने विविध रूप मे प्रतिक्रिया जगानी आरम्भ की। अन्ततः सन् १८५७ का प्रथम स्वातन्त्र्य आन्दोलन हुवा, जिसने एक बार तो अग्रेजो के पाँव इस धरती से उखाड ही दिये थे। यदि अपने ही कुछ विद्रोही देशवासी बढ-चढ़कर स्वामि-भक्ति न दिखाते, तो आज भारत का इतिहास कुछ और ही होता ! इस आन्दोलन को महज 'सिपाही-विद्रोह' कहना सत्य से आँखें मूँदना होगा। यह एकाएक नही भडका था। इसकी एक क्रमबद्ध योजना थी, कुछ निश्चित केन्द्र थे, और इसमे कुछ निश्चित वर्गों ने भाग लिया था। इसे केवल कुछ शासन-च्युत राजाओ की बौखलाहट कहना भी भ्रामक होगा। राजा, सेनापति, साधु, जन-नेता, आदि सभी ने इसमे पूरा-पूरा योगदान दिया था। जनता के प्रत्येक वर्ग ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपना-अपना भाग इस यज्ञ मे डाला था।

नयी चाल

यह प्रथम आन्दोलन अत्याचारो की एक लम्बी कहानी के बाद समाप्त

हुवा। परन्तु, हमारी कुछ कमियो ने शत्रु को अधिक सतर्क होने का अवसर दिया। इस क्रान्ति के बाद से क्रान्तियो का ताँता नही मिटा, यद्यपि उनके रूप बदलने लगे। उधर ब्रिटिश पार्लियामैण्ट ने इस समय दुहरी चाल चली। एक ओर शासन अधिक कठोर और केन्द्रित कर दिया गया, दूसरी ओर ऊपरी प्रसादन की नीति अपनायी गई। रहे-सहे देशी राजाओ को सैन्य-शक्ति-हीन करके उन्हे आन्तरिक स्वतन्त्रता दे दी गई। जनता को सन् १८६० ई० मे 'विक्टोरिया-सुधारो' के नाम पर कुछ सुधार दिये गये। धर्म की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया। शासन सीधा ब्रिटिश पार्लियामैण्ट के हाथो मे चला गया। 'कम्पनी' समाप्त हुई, और महारानी विक्टोरिया भारत की 'साम्राजी' घोषित हुईं। जैसे शासन बदल गया हो! अत्याचार बढे, शोषण बढा, किन्तु सुधारो के नाम पर! सन् १८६८ ई० को हमने इस चरण की अन्तिम सीमा माना है। राजनैतिक दृष्टि से इन आठ वर्षो मे कोई विशिष्ट परिवर्तन न हुआ। पर स्वामी दयानन्द के प्रयास से एक नयी आवाज़ गूँजने अवश्य लगी थी। 'आर्य समाज' की स्थापना चाहे सन् १८७५ ई० मे हुई, किन्तु उसका आन्दोलन इस चरण मे ही पूर्ण हो चुका था।

राज्य की दृढ़ता के लिए धर्म-प्रचार

इस राजनैतिक उथल-पुथल ने सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो मे भी प्रभाव दिखाया। ब्रिटिश-ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का शासन कुछ भूभाग पर स्थापित होते ही, ईसाइयत का प्रचार भी बढ़ने लगा। यह नही कि भारत इस नये धर्म से परिचित न था। किन्तु इस प्रचार मे नयापन यह था कि आर्थिक और प्रशासनिक महत्त्व के विविध आकर्षणों एवं स्वामि-भक्ति की दृढ़ता के लिये यह आवश्यक समझा गया कि शासक देश के ही प्रचारको द्वारा इस प्रकार का प्रचार कार्य करवाया जाये। दक्षिण के भारतीय ईसाई सदियो से अपने मत को मानकर भी कभी उसका प्रचार एक विदेशी-उत्साह के साथ न कर सके थे। किन्तु इन विदेशी प्रचारको ने जिस अपमानपूर्ण खण्डनात्मक पद्धति का आश्रय लिया, वह भारत के लिये सर्वथा नई बात थी। मुसलमानो ने आरम्भ मे कुछ ऐसा ही किया था। किन्तु बाद मे ऐसी कटुता उनमे से दूर हो गई थी। उनमे अनेको तो हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के अप्रतिम पुजारी भी बन गये थे। किन्तु इन विदेशियो ने इस देश के धर्म व संस्कृति मे कुछ भी ग्राह्य न समझा। बल्कि, हर 'सत्य' को झूठता और हर 'दिव्यता' को उपहास बनाकर

प्रस्तुत किया। उनमे जातीय उच्चता की भावना ने उन्हे अपने धर्म-प्रचार के प्रति अधिक उत्साही बना दिया। इसके लिये जन-सम्पर्क की माध्यम-भूत 'हिन्दी' का आश्रय लिया गया। अनेक भारतीय विद्वानो से भी इस कार्य मे सहायता ली गई। शिक्षालयो की स्थापना हुई। प्रचारक तैयार हुवे। और, राज्य की स्थायिता की भावना से भारतीयो को अपने ही धर्म, संस्कृति, आदि के प्रति उदासीन और अवज्ञापूर्ण बनाने का कार्य आरम्भ हुवा। पहला प्रहार हिन्दू-धर्म पर किया गया, क्योकि यही अधिक पुराना व व्यापक था।

प्रतिक्रिया व पुनर्जागरण

इसकी प्रतिक्रिया भी अवश्यम्भावी थी। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द व श्रद्धाराम फिलौरी, ये तीनो चाहे परस्पर विरुद्ध भी रहे हो, परन्तु इनका मुख्य विरोध था इस बढते विदेशी प्रभाव से। बगाल की विद्रोह भूमि में ही यह नया धर्म तेजी से पनपने लगा था; और देश-द्रोही लोगो का दल तैयार होता जा रहा था।

राजा राममोहन राय--राजा राममोहन राय की विदेश यात्रा ने उन्हे नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया। उन्होने धर्म का सरलीकरण करके उसे ईसाई-धर्म के सदृश ही सुगम एव सुलभ बनाना चाहा। ब्राह्म-समाज की भी स्थापना हुई। भारतीय चेतना युगानुरूप होने वाले इन प्रयत्नो से परि-चित रही है। समन्वय और अनुकूलता ग्रहण करने की उसकी यह वृत्ति स्वाभा-विक भी है, और यह उसकी सबसे बडी शक्ति भी है। आज तक खण्ड-खण्ड मे बँटकर भी जो धर्म-चेतना 'हिन्दू धर्म' के रूप मे एक है, वह केवल इस समन्वय की वृत्ति के कारण ही। युगो की जटिलता को सरल करके समन्वय के ये प्रयत्न आरम्भ से ही होते आये है। कृष्ण, बुद्ध और शकर इसी परम्परा मे हुवे थे। अकबर ने भी इसी परम्परा मे एक प्रयास 'दीने-इलाही' के रूप मे किया था। राजा राममोहन राय ने भी शिक्षित भारतीय समाज को अपने धर्म के सरल-तम रूप से परिचित कराना चाहा। निश्चय ही सरलता के इस जोश मे वे कुछ ऐसी बातो की भी उपेक्षा कर बैठे, जो हमारी सस्कृति का मूल प्राण थी।

स्वामी दयानन्द—पिछली कुछ सहस्राब्दियो मे, बुद्ध-पूर्व से ही, वेदो के सरल-मार्ग से हट जाने की एक वृत्ति चल पडी थी। कृष्ण ने वेदो के मूल-तत्त्व का सन्देश पुनः सुनाना चाहा, परन्तु उन्हें स्वय ही 'भगवान्' मान लिया गया। यही बात मध्य-वाद मे बुद्ध को भी इसी प्रकार भगवान् मान लिया गया।

युग के प्रयत्नो मे भी दृष्टिगोचर होती हैं। कबीर, नानक, आदि जिन सन्तो ने सरलीकरण करना चाहा वे सभी परमात्मा के समान मान लिये गये। इसका एकमात्र कारण था, इन्होने वेदो के सन्देश को सीधा वेदों के ही शब्दो मे न सुनाकर, अपने-अपने तरीके से सुनाना चाहा ! बुद्ध और बाद के आन्दोलनो के अनेक सूत्रधार तो वेदो से परिचित भी न थे। फिर वेदों के उत्साही व्याख्याकारो ने उनकी सरल बात को इतना जटिल बना दिया था, कि वेद 'वन' या 'उलझन' बनकर ही रह गये थे। राजा राममोहन राय के, इस युग के, प्रयत्नो मे भी सरलीकरण की मूल-वृत्ति वेदानुकूल न थी; बल्कि उस पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट था। परिणामत भारतीय पण्डितो ने उसे भी 'आत्मीय' रूप मे ग्रहण न किया। यद्यपि समाज-सुधार की उनकी भावना अवश्य प्रभावकारी सिद्ध हुई। स्वामी दयानन्द के प्रयत्नो को इसी दिशा मे समझने का प्रयत्न करना चाहिये। समाज-सुधार की आवश्यकता को उन्होने भी अनिवार्य माना, किन्तु भारतीय चेतना को आमूल झकझोर देने एवं धर्म के सर्वाधिक सरलीकरण के लिये उन्होने पहली बार पुन. वेदों के धर्म, सस्कृति, एव समाज-व्यवस्था की ओर लौटने का नारा लगाया। इस प्रयत्न को प्रतिक्रियावादी समझना भारी भूल होगी। उस युग का वह महान् प्रगतिवादी सुधारक था। स्त्री और शूद्र की युगो की दासता को उसने एक ही झटके मे तोड दिया। पाश्चात्य विद्या एव पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन को बढावा देने का उसी ने यत्न किया। वेदो के इस अप्रतिम पुजारी ने 'आर्य-भाषा' का पद हिन्दी को देकर अपनी महान् प्रगतिवादिता का परिचय दिया। समाज-सुधार की दिशा मे अछूतोद्धार, दलितोद्धार, एवं शुद्धि-आन्दोलन, आदि अनेक ऐसे कार्य उन्होने आरम्भ किये, जिन्हे न उस समय का समाज स्वीकार कर सका और न बडे-बडे धर्मपण्डितो के आशीर्वाद ही मिल पाये। उन्होने मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिक्ख, शैव, वैष्णव, आदि सभी धर्मो की रूढिवादी मान्यताओ पर एक साथ प्रहार किया। ईसाइयो को इतने तर्क-संगत विरोध का सामना पहली बार ही सहना मिला। मुसलमानो ने इसे धर्म-विद्वेष के रूप मे लेना चाहा, पर स्वय स्वामी जी ने अपना यह उद्देश्य अच्छे-अच्छे मुस्लिम नेताओ पर स्पष्ट कर दिया था। उनकी दृष्टि मे 'आर्य-मर्यादा' के लोप के कारण ही ये सब मत-मतान्तर उठे थे। इन सब मत-मतान्तरो की आवश्यकता ही नही रह जाती, यदि वेदो के मूलमत को अपना लिया जाये। सब धर्मो के मूल-सत्य वेदो मे हैं ही, उनका प्रचार इसी दृष्टि से

आवश्यक है। इस प्रकार उनके 'धर्म-सुधार' को एक महान् राजनीतिज्ञ और समाज-सुधारक का वह प्रयत्न कहा जा सकता है, जिसे स्वीकार करने पर सारा देश मत-भेद भूल कर एक हो सकता था। अग्रेज प्रचारको ने इस खतरे को अनुभव कर लिया था।

मूल-दृष्टि—'आर्य-समाज' की स्थापना यद्यपि सन् १८७५ ईसवी मे हुई, किन्तु स्वामी दयानन्द का प्रथम प्रत्यक्ष प्रचार सन् १८६० ई० के देहली-दरबार के अवसर पर हुवा। देशी-राज्यो के विभिन्न शासको को स्वामी जी ने देहली आमन्त्रित किया। और, उनसे मिल कर देश की स्वतन्त्रता और भविष्य पर विचार विनिमय किया। सन् १८५७ ई०के आन्दोलन की असफलता को उन्होने खुली आँखो देखा था। उन्हें 'एकता' के अभाव ने बुरी तरह व्यथित किया था। 'आर्य-समाज' तो उन्होने तब स्थापित किया, जब देश में राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो मे एक साथ विद्रोह के उनके अन्य सब प्रयत्न असफल हो गये। यह सस्था उन पढे-लिखे भारतीयो को सम्बद्ध करने का कारण बनी, जो इन सभी क्षेत्रो मे सतर्क होकर देश, जाति, धर्म, व सस्कृति के लिए कुछ करना चाहते थे। **स्वदेशी, स्वराज्य, स्वधर्म और स्वभाषा का नारा लगाने वाले दयानन्द देश का एक निश्चित भविष्य देखकर चल रहा था।** किन्तु धर्म के सकीर्ण ठेकेदारो ने उसे भी एक साधारण महन्त या ठेकेदार मात्र ही समझकर उसका विरोध किया। उन्हे 'सकीर्ण' और 'अराष्ट्रीय' ठहराया गया। उनके महान् पाण्डित्य और अदम्य व्यक्तित्व को झूठी बातो से छिपाने का यत्न किया गया। स्वय वेद के पुजारियो ने वेद-विरुद्ध मतो का साथ दिया और स्वामी जी के प्रयत्नो का विरोध किया। श्रद्धाराम फुल्लौरी का व्यक्तित्व ऐसे ही विरोधियो मे से एक था।

प्रभाव

कुछ भी हो, इस अकेले स्वामी ने एक ऐसी लहर छेड दी, जिसने विदेशियो के उस भारतीयता-विरोधी, जहरीले और अपमानजनक प्रचार को एकदम रोक दिया। धर्म, समाज, भाषा, और राष्ट्रीयता आदि सभी के सम्बन्ध मे अपनी परिभाषाओ और मान्यताओ को उसने खुलकर व्यक्त किया, और देश की एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता को आवश्यक और अपरिहार्य बताया। सारा भारतीय समाज एक बार पुनः अपने व्यक्तित्व के मूल्यांकन के लिए सजग हो उठा। 'ब्राह्म-समाज' ने समाज-सुधार की दिशा मे पहले ही कुछ प्रगति

की थी। इस 'आर्य-समाज' ने उसे ही आगे चलकर बहुमुखी कर दिया। भारतीय समाज के उत्थान और पुनर्जागरण मे इन दो समाजो का हाथ सर्वोपरि रहा। 'फुल्लौरी' के प्रयत्न भी एक नवचेतना के ही प्रतीक है।

शिक्षा के क्षेत्र में

आरम्भिक स्थितियो मे अग्रेज व्यापारिक कम्पनी को यहाँ की शिक्षा व्यवस्था मे छेडछाड करना उचित न लगा। सच तो यह है कि लार्ड मैकाले के प्रयत्नो से पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी चाहती ही यह थी कि भारतीय पाश्चात्य विद्या के अधिकाधिक सम्पर्क मे न आये। अत. उन्होने शिक्षा-व्यवस्था को पुराने रूप मे ही चलने दिया। कलकत्ता के निकट 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना वस्तुत. अग्रेज पादरियो एव प्रशासको के शिक्षण की दृष्टि से की गई थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आज हम जिसे अभिशप्त 'मैकाले शिक्षा पद्धति' के रूप मे जानते है, कभी उसे ही पास कराने के लिए लार्ड मैकाले को, अकेले ही, बहुत दिनो तक संघर्ष करना पड़ा था। कम्पनी सरकार उन दिनो ऐसी किसी भी शिक्षा को साम्राज्य के लिए खतरा मानती थी। आरम्भ मे मैकाले भी सुधारो के लिए मात्र इसी भावना से प्रेरित रहे कि शासन व्यवस्था को चलाने के लिए अपने ही देश से इतनी बड़ी संख्या मे लोगो को लाना आर्थिक और शासनिक दृष्टि से उचित नही। फिर उन्हे हिन्दी या उर्दू सिखा कर भारतीयो के योग्य बनाने की अपेक्षा, कुछ भारतीयो को ही कामचलाऊ अंग्रेजी सिखाकर उनसे ही अधिकाधिक कार्य क्यों न लिया जाये ? इस प्रकार अग्रेजी जानने वाले भारतीयो का जो वर्ग तैयार होगा उसमे अपने को पृथक् समझने की भावना होगी। और, वे साधारण जनता से पृथक् वर्ग के रूप मे शासन के साधन-मात्र बन जायेगे। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र मे अगले प्रयत्नो को इसी दिशा मे देखना चाहिये।

नये विद्यालय—फोर्ट विलियम कालेज के बन्द होने से बहुत पहले ही आगरा कॉलिज की स्थापना आगरा मे हो चुकी थी। अब इन कॉलेजो मे अग्रेजो के साथ-साथ भारतीय अध्यापक भी नियुक्त किये जाने लगे। धीरे-धीरे शिक्षा मे अंग्रेजी का प्रवेश निश्चित रूप मे होता गया। पर ऐसा उन्नीसवी शती के अन्त तक ही हो पाया। उससे पहले बहुत थोडे लोग ही इसे जानते थे। उनमे से ऐसे लोगो की संख्या नगण्य थी, जो अग्रेजी जानकर भी

राष्ट्रीयता की ओर अधिकाधिक झुके थे। राजा राममोहन राय उनमे से एक थे। बंगाल मे राष्ट्रीयता की यह चेतना शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ बढ़ती गई। बाद मे राष्ट्र के अन्य भागो मे भी इस प्रकार की भावना बढ गई। इसी समय विदेशो में फैलते ब्रिटिश-साम्राज्य की सेवा के लिये, मजदूरी और प्रशासनिक सुविधा के लिये भी अनेक भारतीयो को ले जाया गया। वहाँ भी उनका परिचय नाना स्वातन्त्र्य-आन्दोलनो एव भावनाओ से हुवा। स्वयं भारत मे भी विश्वविद्यालयो मे अग्रेजी शिक्षा के उच्चस्तर की व्यवस्था होने के बाद, अनेको स्वतन्त्रचेता मनीषियो का ध्यान राष्ट्रीयता के विभिन्न पहलुवो की ओर आकृष्ट होने लगा।

हिन्दी के प्रति सजगता—इन्ही दिनो प्रशासनिक और शिक्षा के माध्यमो के रूप मे विदेशी सरकार ने अनेक परीक्षणो के बाद उच्चस्तर पर 'अग्रेजी' को और निम्न स्तर पर 'उर्दू' को माध्यम रूप मे स्वीकार किया। इससे अन्य देशी भाषाओ के प्रति उपेक्षा व्यक्त हुई। इस दिशा मे भी बगवासी सबसे पहले सचेत हुवे। देश के अन्य भागो मे यह आन्दोलन उन्नीसवी शती के अन्तिम चरण मे ही आरम्भ हुवा। 'हिन्दी' के प्रति यह प्रतिक्रियात्मक भावना दिल्ली **दरबार के बाद** आरम्भ हो चुकी थी। स्वामी दयानन्द और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के प्रयत्न इस विशालतर पृष्ठभूमि के ही अश है। आगे चलकर रानाडे के 'महाराष्ट्री' (मराठी) भाषा विषयक प्रयत्न इसी दिशा मे हुवे।

आर्थिक स्थिति

आर्थिक क्षेत्र मे भी यह समय क्रान्ति का है। पिछले सहस्रो वर्षों से जिस भारत की कला और उपज ने दुनिया के समस्त ज्ञात बाजारो पर कब्जा कर रखा था, और जहाँ से प्रायः निर्यात तो होता सुना गया था, पर आयात के नाम पर सुवर्ण ही आयात होता था, अंग्रेज व्यापारियो एव उनकी पार्लियामेंट ने, इस युग मे, उसकी इस स्थिति को पलट डाला। यहाँ का निर्यात धीरे-धीरे घटा ही नही, बन्द भी हो गया। और, उसकी जगह निकृष्ट स्तर के माल का आयात होने लगा। यहाँ से उसके बदले मे सस्ती किन्तु आवश्यक वस्तुये बाहर जाने लगी। इस प्रकार गेहूँ, कच्ची धातु, आदि का निर्यात होने लगा। और, जीवन की छोटी से छोटी कलापूर्ण वस्तु का निर्माण यहाँ बलपूर्वक रोक कर विदेश से उसे आयात किया जाने

लगा। इस व्यवस्था ने ब्रिटेन की औद्योगिक प्रगति मे जहाँ सहायता पहुँचाई, वहाँ भारतीय कला और औद्योगिक गतिविधि को एकदम ठप्प कर दिया। पिछली सहस्राब्दियो के विदेशी आक्रमण और सदियो तक उनके यहाँ पर शासन ने जो कभी स्वप्न भी न लिया था, इस व्यापारी कम्पनी ने उसे विना खून वहाये सम्पन्न कर डाला। 'सोने की चिडिया' को पहली वार अपना रूप वदलता नजर आया। विज्ञान को पश्चिम की देन कहने वाले विज्ञान और कला के इस गला-घोटू तथा दर्दनाक विनाश की कहानी को आँखो से ओझल कर देते है। यह स्थिति सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-सग्राम से पहले ही आ चुकी थी। उसके वाद मे तो सन्तुलन विगडता ही गया। स्वामी दयानन्द से भी वहुत पूर्व, सन् १८३५ की, घासीराम की एक कविता से इस वात के प्रति सजगता का आभास मिलता है। स्वामी दयानन्द का **स्वदेशी** के प्रति अनुराग उनकी सजग 'आर्थिक चेतना' का ही द्योतक है। भारतेन्दु और उनकी मण्डली का ऐसा अनुभव उस प्रवुद्ध चेतना का ही परिणाम था।

स्त्री और शूद्र

समाज-सुधार के इन प्रयत्नो को केवल धर्म, शिक्षा, व अर्थ के क्षेत्र तक सीमित समझ लेना गलती होगी। इन सुधारो का सवसे वडा पहलू था—मानवता का निर्द्वन्द्व पुनर्मूल्याकन। फ्राँस की राज्यक्रांति ने पश्चिम मे राज-नीति के साथ-साथ सामाजिक विचारधारा मे भी एक क्रांति की लहर दौडा दी थी। उसका जन्म ही लेखको की कलम से हुवा था। सदियों से सोये ईसाई धर्म ने उस समाज-चेतना को अपने नव-जागरण का अंग वना लिया। लूथर तथा उस जैसे अन्य धर्म-सुधारको ने भी धर्म के सरली-करण के साथ-साथ इस प्रकार के सामाजिक सरलीकरण पर वल दिया। अत भारत मे इस प्रवुद्ध चेतना को लेकर आने वाले सुधारवादी ब्रिटिश ईसाइयो के प्रचार के परिणाम से हमारी सामाजिक चेतना मे एक अन्तर आना स्वाभाविक था। राजा राममोहन राय के समाज सुधार के प्रयत्नो मे वहुत कुछ इस नवीन दृष्टिकोण की ही छाप थी। परन्तु नये साम्राज्यवादियो की सकीर्ण मनोवृत्ति स्वय क्रियात्मक रूप मे अपनी शिक्षाओ के विपरीत थी। इसलिए स्वाभाविक था कि भारतीय प्रतिक्रिया उससे किञ्चित् भिन्न होती। राजा राममोहन राय और उनके शिष्यो ने इस तथ्य को समझ लिया था।

इसीलिये उनके आन्दोलनो का आधार सकीर्णता के त्याग और नवीनता के ग्रहण में उत्सुकता पर ही केन्द्रित रहा। नारियो की शिक्षा पर, उन्होने बल दिया। किन्तु, समाज के सब पिछडे वर्गों की मुक्ति के अग्रदूत वे न बन सके।

राममोहन राय ने तो इस दिशा मे प्रयत्न किया ही, किन्तु स्वामी दयानन्द ने इस क्षेत्र मे भी, धार्मिक क्षेत्र की भांति, एक चहुँमुखी मोर्चे पर आक्रमण कर दिया। **उनके आक्रमण की यह सबसे बड़ी विशेषता थी कि इसका उद्भव केवल मात्र प्रतिक्रियाजन्य न होकर, मानव-मात्र की मुक्ति की कल्याण-भावना से हुवा था।** इस आन्दोलन का सूत्रधार इस युग का महानतम सन्त था। सन्यासी की सर्वहित-बुद्धि से प्रेरित होकर उसने परम्परा की जड़ता से मुक्ति का उद्घोष सभी क्षेत्रो मे एक साथ कर दिया। इसीलिये धार्मिक, ऐतिहासिक और आर्थिक क्षेत्र मे क्रांतिकारी दृष्टिकोण को देने वाले इस सन्त ने जातीय जड़ता के एकमात्र कारण उस सूत्र को पहचाना, जिसके द्वारा 'स्त्री' और 'शूद्र' को नीच मान कर उन्हे पढने की मनाही कर दी गई थी। आर्य-व्यवस्था के अनिवार्य, अपिच आधारभूत, इन दो अगो की उपेक्षा और उनके उत्पीडन ने इस सन्त को व्यथित कर दिया। पिछले सहस्राधिक वर्ष से जातीय सस्कृति की गिरावट के इस मूल-सूत्र को पहचानने के बाद, 'माता' के रूप में स्त्री को समाज मे मूर्धन्य स्थान देने का उद्घोष उसने उच्चस्वर मे किया। 'देवता' का पद, स्त्री को अशिक्षित और असंस्कृत रखकर, कैसे दिया जा सकता था? अतः 'स्त्री-शिक्षा' उनके लिए सबसे प्रमुख समस्या बन गई। और, **जीवन भर नारी के भोगों से विमुख रहने वाले उस स्वामी ने भारतीय नारी को भारतीय मर्यादा में सर्वोच्च पद देकर, उसे शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के महान् उद्योग का सूत्रपात किया।**

इसके साथ ही समाज मे सास्कृतिक दृष्टि से दूसरा उत्पीडित वर्ग शूद्रो का था। इनके उत्पीडन के परिणामो ने ही बौद्ध, मुस्लिम, आदि विचार-धाराओ को अतीत मे बढने का अवसर दिया था; तथा उन्हे ही लुभावने स्वप्न दिखाकर अब यह नवागत धर्म भी फैल रहा था। सामाजिक पतन ही उनके आर्थिक पतन आदि का भी कारण बना। 'दलितोद्धार' और 'अछूतोद्धार' के महामन्त्रो को देकर स्वामी दयानन्द ने युग-युग की इस दुर्व्यवस्था पर प्रहार किया। उन्होने तो कई सहस्राब्दियो के बाद जाति-पाँति की मूल इस आधार-भित्ति पर ही कुठाराघात किया। **'जाति-पाँति जन्म से नहीं होती, कर्म से होती है'—गीता के बाद पहली बार यह स्वर गूँजा!**

गीता के उस मन्त्र के सर्वव्यापी न बनने का कारण यह था कि महान् सुधारक कृष्ण ने उसके प्रचार के लिये किसी सामूहिक आन्दोलन को न छेड़ा था। उनका वह उद्घोष वैयक्तिक बनकर रह गया।

आर्य-समाज

स्वामी दयानन्द ने इस अनिवार्यता को अनुभव करके ही अपने छेड़े आन्दोलनो की पूर्ति के लिये आर्य-समाज के रूप में एक महान् आन्दोलन की सृष्टि की। विश्व को आर्य बनाने का स्वप्न देखने वाला अपने घर मे ही इस प्रकार के अनार्य आचरण को किस प्रकार देख सकता था ? इस दृष्टि-कोण ने अगले युग को बहुत अधिक प्रभावित किया। आगामी युग के सूत्र-धार महात्मा गाधी ने भी इस सत्य को पहिचान लिया और हरिजनोद्धार को सामाजिक उत्थान का अनिवार्य अग मान लिया। प्रत्युत अगले युग की सम्पूर्ण राजनीति का यह मूल-मन्त्र बन गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नवागन्तुक सस्कृति के सम्पर्क ने यदि स्त्री-शिक्षा जैसे समाज-सुधार के प्रयत्नो की प्रेरणा राजा राममोहन राय आदि को दी, तो दूसरी ओर स्वामी दयानन्द के प्रयत्नो मे उसका प्रभाव केवल उत्तेजना देने भर का रहा। अन्यथा, उनका दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक एवं प्रयत्न सर्वथा सास्कृतिक आधार पर स्थित थे। उसमे पश्चिम का अनुकरण किसी भी प्रकार न था।

शिक्षा-क्षेत्र में भी समन्वय

शिक्षा के विषय मे दो शब्द और कहने अनुपयुक्त न होगे। पहले-पहल पाश्चात्य शिक्षा के प्रवेश ने भारतीय मन मे प्रतिक्रिया जगाई। स्वय ब्रिटिश शासक उस शिक्षा के भावी परिणामो से शकित थे। कुछेक भारतीय विचारको ने उस शिक्षा का स्वागत भी किया। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द भी विदेशी भाषा और शिक्षा के अध्ययन के लिये अधिकाधिक उत्सुक थे। उनका कहना था कि पश्चिम के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान से हमारा परिचय आवश्यक है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने इस दिशा मे भी समन्वय का महान् प्रयत्न किया। उन्होने पश्चिमी-विद्या के इस प्रगतिमय अध्ययन के साथ-साथ वेदो और तत्सम्बद्ध अध्ययन की अनिवार्यता पर भी बल दिया। वे देख रहे थे कि पश्चिमी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान से अर्द्ध-शिक्षित भारतीय अपनी 'भारतीयता' को एकदम तिलाजलि दे रहे थे। पश्चिम की भारतीय

विद्या मे अभिरुचि अधिकाधिक बढ रही थी, भले ही वे जाने या अनजाने एक भ्रम के मार्ग पर भी चल रहे थे। किन्तु, भारतीय स्वयं इस दिशा मे उदासीन बैठे थे। उन्होने शिक्षा के क्षेत्र मे भारतीय-परम्परा की श्रेष्ठता और पश्चिमी ज्ञान की अनिवार्यता के सह-अस्तित्व पर बल दिया।

इस प्रकार इस युग की इन परिस्थितियों ने जिस साहित्य को जन्म दिया उसमे धर्म, भाषा, राजनीति, साहित्य, शिक्षा और सामाजिक उत्थान, आदि सभी का समावेश है। इस पृष्ठभूमि पर ही इस समय के साहित्य की विवेचना होनी चाहिये।

साहित्य पर प्रभाव

साहित्य के दो विभाग

उल्लिखित परिस्थितियो के पर्यालोचन के बाद सम्भवत पाठक का मन इस काल के साहित्य मे इन सबकी प्रतिक्रिया खोजना चाहेगा। ऐसे प्रयत्न से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्यिक दृष्टि से इस काल को जब हम 'उत्क्रान्ति-युग' का प्रथम चरण कहते है, तो वह युगो बाद आने वाले एक नये और क्रान्तिकारी परिवर्त्तन का सूचक होता है। अर्थात् साहित्यकार साहित्य निर्माण मे, अपने चारों ओर के जीवन से, उन परिस्थितियो से, इतना अधिक और इतने प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित इससे पूर्व कभी भी नही रहा। यह युग उस प्रकार के परिवर्तन का जनक है। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रेस के आविष्कार ने राजनीति, धर्म, आदि सभी विषयो को जनता की वस्तु बना दिया। साहित्य इस प्रभाव से अछूता कैसे रह सकता था ? फिर यह युग परिवर्त्तन का युग था। इसलिए इसमे एक ओर साहित्यकार की समाज से अलग-थलग रहने की जडता के पूर्व-युगीन लक्षण मिलते है। दूसरी ओर धर्म, समाज और राजनीति के बदलते दौर की बहुत-सी बातों ने इस समय के साहित्यकार को सीधा प्रभावित किया है। प्रथम चरण का सम्पूर्ण साहित्य सच्चे अर्थों मे 'साहित्य' नही कहा जा सकता। साहित्यिक-मानदण्ड पर खरा उतरने वाला साहित्य इस चरण मे कम ही बना है। परन्तु असाहित्यिक वृत्ति के शेष साहित्य की उपेक्षा भी इसीलिये नही की जा सकती, क्योकि उसने नव-प्रयुक्त भाषा को अधिकाधिक साहित्योपयोगी बनाने मे सर्वाधिक सहायता दी है। उसकी उपेक्षा करके गद्य और खडी-बोली के विकास की प्रक्रिया एव हिन्दी साहित्य के नए विषयो की विकास-परम्परा को जानने मे हम असमर्थ ही रह

जायेंगे। इसी चरण की प्रतिक्रिया के आधार पर इस युग का दूसरा चरण उतरा, जिसमे यह समस्त प्रतिक्रिया पूर्णता को प्राप्त हुई।

पुरानी परम्परा का साहित्य

वह साहित्य जो इस समय की परिस्थितियो से अप्रभावित रहकर बढ़ रहा था, रीतिकालीन परम्परा की जडता से आविष्ट 'शृंगारी काव्य' था। यदा-कदा प्रगट होने वाले कविता-गत सामाजिक प्रभाव को छोड़कर शेष सम्पूर्ण काव्य परम्परा की इसी जडता से आविष्ट है। कालक्रम की दृष्टि से महाराज विश्वनाथ सिंह का नाम भी इसी काल मे गिना जाना चाहिये। परम्परा की दृष्टि से हमने उनकी चर्चा रीतिकाल मे की है। वन्दीजन, विक्रमसाहि, नवलसिंह, बाँकीदास, ग्वालकवि, सन्तोखसिंह, आदि अनेकों अन्य लेखको की रचनायें भी इसी काल मे प्राप्त हुई है। भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास तथा भारतेन्दु के कुछ समकालीन कवियो का समावेश भी इसी काल के अन्तर्गत हो जाता है। परन्तु इन सब की अलग-अलग गणना और इनके काव्य-विवेचन की आवश्यकता नही रह जाती! भक्ति, शृंगार, नीति, आदि वही पुराने विषय, वही भाषा, व वही जड़ता इनके काव्य मे भी अधिकाधिक बढ़ती गई। हॉ, धीरे-धीरे आचार्यत्व की ओर रुझान कम होने लगा। भाषा मे भी परिवर्त्तन के चिह्न स्पष्ट होने लगे। ऐसी कविता भी अगले चरण मे सर्वथा रूपान्तरित हो उठी।

कविता में नवचेतना के प्रथम चिह्न

दूसरी ओर इस युग की प्रतिक्रिया को लिये हुवे निश्चय ही कुछ कविताओ का निर्माण हुवा। सन् १८३५ की किन्ही घासीराम कवि की कविता मे अग्रेजी अर्थनीति और शोषण प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। १८२६ ई० मे ही बंगाल से हिन्दी-समाचार-पत्रो के प्रकाशन की जो परम्परा आरम्भ हुई, उससे यह प्रभाव पडना स्वाभाविक था। उन्हे विद्रोह या स्वातन्त्र्यभावना के प्रथम प्रतीक समझना उचित ही होगा। इस प्रकार की प्रतिक्रिया उस समय की अन्य भी सैकडो कविताओ मे निश्चय ही व्यक्त हुई होगी। परन्तु उन अज्ञात कवियो की अज्ञात कृतियो से आज हम अपरिचित ही है। इसे हम किसी 'आन्दोलन' का नाम नही देगे। हमे इसी धारा का प्रवुद्ध रूप, अगले चरण मे, भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियो की कविता मे ही

मिलता है। स्वभावतः भारतेन्दु और उनके वर्ग के हाथ मे प्रेस होने का ही यह परिणाम था।

इस युग की अभूतपूर्व देन तो 'गद्य' को ही कहा जा सकता है। पहले युग मे बनने वाले गद्य की चर्चा की जा चुकी है। व्रजभाषा और खड़ी-बोली दोनों मे ही गद्य-रचना बराबर मिलती है। किन्तु इस युग मे जो भी गद्य लिखा गया, उस पर दक्खिनी-हिन्दी के लेखको तथा नवोदित प्रेस की भाषा का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। यह भाषा खड़ी-बोली ही थी। परिणामतः इस युग के व्रज के गद्य लेखकों की भी भाषा शुद्ध व व्रज न रहकर मिली-जुली ही बन गई। दूसरी ओर शुद्ध खड़ी-बोली के लेखको पर भी काव्य-भाषा व्रज का यत्किञ्चत् प्रभाव पड़ा ही। यद्यपि ऐसा प्रभाव कही-कही क्रियाओ तक ही सीमित है। गद्य के इस प्रसार को ठीक से समझने के लिये हम इस 'प्रथम चरण' को कुछ भागो मे विभक्त करके पढेगे।

(क) प्रथम चार गद्य लेखक और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज

चार लेखक

उन्नीसवी शती के आरम्भ मे ही सर जॉन गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता मे कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज मे भाषा मे कुछ पुस्तके तैयार करने की योजना आरम्भ हुई। स्वयं सर गिलक्राइस्ट का अपना प्रेम उर्दू से था। वे नागरी अक्षरों को भी पसन्द न करते थे। परन्तु इस भाषा की लोक-प्रियता से विवश होकर उन्हे इसमे पुस्तके तैयार कराने के कार्य मे उत्साह दिखाना पड़ा। उन्होने कुछ भाषा-मुंशियों की नियुक्ति की, जिनमे श्री लल्लूलाल जी एवं श्री सदल मिश्र जी के नाम प्रसिद्ध है। इन दोनो को छोटी-छोटी पाठ्य-पुस्तको के निर्माण का कार्य सौपा गया था। परन्तु आगे चलकर उन्होने स्वतन्त्र रूप मे साहित्य सेवा भी की, और उसका उस समय पर्याप्त सम्मान भी हुवा। फिर भी फोर्ट विलियम कॉलेज ने हिन्दी-प्रशिक्षण मे जो महत्त्वपूर्ण कदम उठाया, उसे सहज ही भुलाया नही जा सकता। भले ही यहाँ के कुछ विदेशी अनुसन्धान-कर्त्ताओ ने उर्दू से लदी भाषा मे लिखने का यत्न किया हो, किन्तु प्रशिक्षित पादरियो ने आगे चलकर जो हिन्दी साहित्य की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता की, उसका मूल-गत श्रेय इसी कॉलेज को जाता है। निश्चय ही सर जॉन गिलक्राइस्ट और उनके उत्तराधिकारियो द्वारा अनिच्छापूर्वक की गई यह सेवा भी अपना महत्त्व रखती है। विशेषकर

हिन्दी-प्रेस और हिन्दी-गद्य-शैली पर आरम्भिक प्रभाव, इन प्रयत्नो से, अवश्य पड़ा।

सैय्यद इशा अल्लाखाँ

जिस वर्ष (सन् १८०३ ईसवी) इन भाषा मुंशियों की नियुक्ति हुई, तब तक दो महत्त्वपूर्ण लेखक और भी प्रकाश मे आ चुके थे। उन दोनों मे से पहले किसका ग्रन्थ प्रकाश मे आया, उस विषय मे तिथि-सम्बन्धी मत-भेद हो सकता है। किन्तु वे दोनो स्वतन्त्र शैलियो के निर्माता एव स्वतन्त्र परम्पराओ के प्रतिनिधि थे। इन्हे हम सैय्यद इशा अल्लाखाँ एव सदासुखलाल के नाम से जानते है। दोनो ही सर्वथा स्वतन्त्र थे, दोनो ने ही भाषा की सेवा की प्रेरणा से ही कुछ लिखा था, तथा दोनो का रचना-काल भी लगभग एक ही बैठता है। सैय्यद इशा अल्लाखाँ दिल्ली और लखनऊ दरबारो की बोली से परिचित ही नही, प्रभावित भी थे। मुर्शिदाबाद मे आकर भी उन्हे उसी भाषा मे लिखने की धुन थी। 'रानी केतकी की कहानी' या 'उदयभान-चरित' नामक उनकी रचना का महत्त्व इसमे नही है कि वह 'हिन्दी-कहानी' या 'हिन्दी-उपन्यास' के स्वतन्त्र विकास की दिशा मे प्रथम प्रयत्न था। कदाचित् इस दृष्टि से वह प्रयत्न सर्वथा उपहासास्पद ही लगे। परन्तु उसका वास्तविक महत्त्व है उन आरम्भिक शब्दो मे, जिनमे लेखक ने फारसी-संस्कृत से अप्रभावित रह कर दिल्ली-मेरठ के आस-पास की शिष्ट-भाषा हिन्दवी में मे लिखने का अपना आग्रह स्पष्ट किया है। यह विचार उसे बहुत समय से व्यथित कर रहा था। सन् १८०३ ई० से पहले ही यह रचना लिखी जा चुकी थी। स्पष्ट है कि भाषा विकास की यह लगन, विद्यापति के देशभाषा-सम्बन्धी-आग्रह के समान ही थी। विद्यापति ने सदियो पूर्व भाषा की जिस मन्दाकिनी को अपने प्रदेश मे युगानुरूप मोड़ने का श्रेय लिया था, सैय्यद इशा अल्लाखाँ ने जनता के समझने योग्य होने की उसी भावना से प्रेरित होकर इस 'खडी-बोली' का आश्रय लिया। भाषा को प्रसार की यह पवित्र इच्छा आगे चलकर बहुत से लेखको के कृतित्व का एक आवश्यक अग ही बन गई। 'खाँ' की कहानी-शैली या भाषा-शैली की विवेचना को अपेक्षा, अथवा उनकी कृतियो की सख्यात्मक विवेचना के स्थान पर, हमे उनके कृतित्व के इस पहलू पर ही अधिक ध्यान देना चाहिये, तभी हम उनका उचित मूल्यांकन कर सकेंगे। व्रजभाषा के प्रवाह और प्रभाव से युक्त होकर खडी-बोली का

यह रूप अपने आकर्षक और प्रवाहमय रूप मे प्रथम बार ही इस प्रकार सम्मुख आया।

सदासुखलाल

इसी समय के दूसरे लेखक सदासुखलाल है। ये भी दिल्ली निवासी थे। इनका अधिक समय कम्पनी-सरकार की नौकरी मे ही बीता। अन्त में आगरा मे रहे और साहित्य-सेवा मे रत रहे। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सुखसागर' हैं। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य एक अधूरी पुस्तक का भी उल्लेख मिलता है। इनकी विशेषता यही है कि इन्होने किसी के प्रभाव मे आकर या किसी की प्रेरणा पर यह पुस्तक नही लिखी, प्रत्युत स्वय हिन्दी की सेवा-भावना से प्रेरित होकर ही इसे लिखा। यद्यपि इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख उन्होने कही नही किया है। दिल्ली के निवासी होने से भाषा इनकी भी उसी प्रदेश की है, तथा उसमें प्रवाह भी पर्याप्त है। इनकी भाषा में सस्कृत से बचने का वैसा आग्रह नही है। जिस प्रकार इशा अल्लाखाँ की भाषा में फारसी शब्द आ ही गये हैं, और उनकी भाषा प्राय. तत्कालीन मुस्लिम-दरबारो की शिष्ट-भाषा बनकर रह गई है, इसी प्रकार इनकी भाषा भी तत्कालीन हिन्दू-पण्डितो की शिष्ट-भाषा मात्र बनकर रह गई है। उसमे सस्कृत के अनेक शब्द आ गये है। फिर भी इस भाषा को सस्कृत-बोझिल नही कहा जा सकता। कही-कही क्रियाओ पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है और अन्यत्र कही ग्रामीण क्रियाओ के रूप भी प्रयुक्त हुवे है। निश्चय ही इसमे इशा अल्लाखाँ की भांति भाषा को किसी निश्चित रूप मे बाँधने का प्रयास नही है। इसीलिये वह उन्मुक्त रूप मे बढ पाई है। इस पर भी मुंशी सदा-सुखलाल ने स्वय इस भाषा को अपनाने का कारण उसकी लोकप्रियता को नही बताया है। उनकी यह प्रेरणा चाहे इसी कारण रही हो। सैयद साहब और मुंशी जी के प्रयत्नो का महत्त्व इसीलिये अधिक है कि वे किसी विवशता मे न होकर स्वतन्त्र वृत्ति से किये गये थे और उनमे साहित्योपयोगी भावना उपस्थित थी, न कि विवशता।

लल्लूलाल मिश्र

इन दोनो के अतिरिक्त ऊपर दो अन्य गद्य लेखको का भी उल्लेख किया गया है। इन दोनो को प्रेरणा फोर्ट विलयम कॉलेज के सर जॉन गिलक्राइस्ट

से ही मिली थी। इन्हे इस कॉलिज के पाठ्यक्रम के लिये जो अनेको पुस्तके तैयार करनी पडी, उसमे कॉलिज की भाषा-सम्बन्धी नीति का अनुकरण अनिवार्य था। किन्तु फिर भी इन दोनो की भाषा का मूल ढांचा हिन्दी का ही था। अन्य कुछ मुंशियो की भाषा उर्दू के अधिक निकट थी। इन दोनो मे पण्डित लल्लूलाल जी का 'प्रेमसागर' अधिक प्रसिद्ध हुवा। इसकी भाषा के विषय मे भले ही दो सम्मतियाँ हो, किन्तु लोकप्रियता की दृष्टि से उसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुवा। आज भी धर्मप्राण हिन्दू-घरानो मे इसकी प्रतियो को सम्मान मिलता है। यह भागवत-पुराण पर आधारित है। इसकी भाषा मे ब्रजभाषा की क्रिया आदि की छाप अधिकता से मिलती है। विदेशी शब्दो का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुवा है। निश्चय ही सदासुखलाल का सा सहज प्रवाह इनकी भाषा में नही है, तो भी कथा-प्रवाह के कारण भाषा की कमियाँ बहुत अखरती भी नही है। वैसे इस भाषा का अनुकरण आगे चलकर नही हुवा।

सदल मिश्र

सदल मिश्र बिहार के थे। फोर्ट विलियम कॉलिज के उर्दू-प्रिय अधिकारियो को उनकी भाषा पसन्द न थी। उनकी भाषा मे पूरबी हिन्दी के शब्द पाये जाते है, यद्यपि मूल ढाँचा खडी-बोली का ही है। उनकी भाषा व्यवहार मे अधिक अनुकृत हुई। उसमे सस्कृत के सरल शब्दो का भी समावेश था। किन्तु मुंशी सदासुखलाल की भाषा का-सा पण्डिताऊपन भी उसमें न था। उसमे पूरबी के शब्द थे, परन्तु लल्लूलाल के ब्रज प्रयोगों के सामने वे अवरोधक न थे। सैयद साहब का-सा कथा-प्रवाह भी उनमें था, किन्तु लल्लूलाल और सदासुखलाल के कथा-वाचको के ढाँचे से भी वे बचे रहे। इस प्रकार उनकी भाषा मे उनकी वर्णन-प्रतिभा ने जान डाल दी। उनका 'नासिकेतोपाख्यान' अत्यन्त प्रसिद्ध है। उनकी अन्य पुस्तको मे इसे ही महत्त्व मिला। इस पर भी उनके इस ग्रन्थ को 'प्रेमसागर' जैसी लोकप्रियता प्राप्त न हुई।

इस प्रकार ये चारो प्रयास सर्वथा स्वतन्त्र दिशाओ मे हुवे, यद्यपि उन सबने ही अन्तत. हिन्दी गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करने मे कुछ सहायता ही पहुँचाई। गद्य मे ब्रज के प्रयोग धीरे-धीरे समाप्त होते गये। उर्दू के ढाँचे पर खड़ी-बोली मे अरबी-फारसी शब्दो की ठूँस-ठाँस भी आगे चलकर

अनुकृत न हुई। संस्कृत शब्दो के बहुल प्रयोग पर अगले युग में अवश्य मत-भेद रहा, किन्तु अन्ततः जो भाषा-रूप अनुकृत हुवा, उसका आरम्भिक स्वरूप सदल मिश्र की भाषा मे मिल जाता है। इतना होने पर भी इन चारो की ही भाषा का अपना-अपना महत्त्व है।

(ख) ईसाई-गद्य

बुक-सोसाइटियाँ

सन् १८५४ में फोर्ट विलियम कॉलेज बन्द हो गया। परन्तु सन् १८२३ ई० में ही आगरा मे आगरा-कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। सन् १८१७ ई० में 'कलकत्ता बुक सोसाइटी' की स्थापना स्कूलो की पुस्तको के प्रकाशन के लिये हो ही चुकी थी। सन् १८३३ ई० मे 'आगरा स्कूल बुक सोसाइटी' की भी स्थापना हुई। आगरा कॉलेज मे विधिवत् हिन्दी-शिक्षा की व्यवस्था की गई। नये-नये ग्रन्थो के सकलन और सम्पादन मे शिक्षा के उच्चस्तर का ध्यान रखा गया। और, परिणामतः जिन ग्रन्थो का प्रकाशन हुवा, उनकी भाषा क्रमशः साहित्यिक-स्तर की बनती जा रही थी। प्राय. सभी विषयो पर ग्रन्थ प्रकाशित हुवे और उनसे भाषा-निर्माण मे सहायता मिली।

मिशनरियों का गद्य

किन्तु इससे भी अधिक प्रेरणा तो ईसाई मिशनरियो के गद्य ने दी। उन्नीसवीं शती के आरम्भ मे ही ईसाई प्रचारको ने प्रचार के लिये देशी भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार कर लिया था, तथा उसमे अपने प्रचार-पैम्फलेटो को प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे इन उत्साही प्रचारको ने छोटी-छोटी पुस्तके प्रकाशित करनी आरम्भ की। बाद मे इस दिशा मे इनका सहयोग कुछ हिन्दू लेखको ने भी किया। पं० रतनलाल एव प० सुधाकर द्विवेदी जैसे विद्वानो ने उनकी पुस्तको के अनुवाद किये। इस सम्बन्ध मे बगाल के श्रीरामपुर के डेनिश मिशन के विख्यात पादरियो का नाम अविस्मरणीय है। इनका लक्ष्य ईसाई-धर्म का प्रचार करना था। उसके लिये इन्होने हिन्दू समाज की अवस्था, उसकी रीति-कुरीतियो, आदि को भली प्रकार समझने का यत्न किया। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो का भी इन लोगों ने परिचय पाया। इतना ही नहीं अवतारवाद, मूर्त्तिपूजा, आदि सभी विषयो का इन्होने अध्ययन किया। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित इन प्रचारको के पास तर्क की जो पैनी धार

थी, उसका इन्होने खुलकर उपयोग किया। आर्य-संस्कृति और धर्म के सहस्राब्दियो पुराने विश्वासो को इन्होने अपने नवीन तर्क के बल पर उपहास मे उडा दिया। स्वयं उन तथ्यो को ये लोग कहाँ तक समझ पाये ? यह नही कहा जा सकता। किन्तु उसका जो चित्र जनता के सम्मुख प्रस्तुत हुवा, उसे साहित्यिक सदाचार की मर्यादाओ के भीतर उचित नही ठहराया जा सकता। संस्कृति के उन विवादास्पद पक्षो के विकृत पहलू ही जनता के सम्मुख प्रस्तुत किये गये। और, इसके विपरीत अपने धर्म की उत्कृष्ट बातो को ही दिखाने का यत्न किया गया। अपढ और पद-दलित वर्गो पर इन बातो का बहुत प्रभाव पडा। उनकी आर्थिक दुरवस्था का लाभ उठाकर उनके लिये चिकित्सालय, स्कूल, कॉलेज, आदि समाज-सेवा के कार्य आरम्भ किये गये। उन्हें प्रगति के अनेक प्रलोभन दिये गये। और, इस प्रकार ईसाई मत की दीक्षा चलने लगी। उधर नव-शिक्षित मध्य-वर्ग भी, अपने धर्म से अज्ञात रहकर, इस नये तर्क से प्रभावित होने लगा। नौकरी आदि के नाना प्रलोभनो ने उसे भी स्व-धर्म छोडने पर विवश किया। इस सब की प्रतिक्रिया धर्म-प्राण जनता और उसके धर्म-नेताओ मे होनी स्वाभाविक थी। परन्तु इस पर भी ईसाइयो के इस प्रचार-गद्य ने खडी-बोली-गद्य को बढाने मे पर्याप्त सहायता दी। वस्तुत. उन्होने भारत की सभी प्रमुख विभाषाओ मे साहित्य-निर्माण का यत्न किया। 'साहित्य' की कोटि मे गिने जाने योग्य न होने पर भी इस साहित्य की उपेक्षा नही की जा सकती। समाज-सुधार की सद्भावना को लेकर भी इस साहित्य मे बहुत कुछ लिखा गया। किन्तु आक्रामक-भावना से वह भी मुक्त न था।

(ग) धार्मिक प्रतिक्रिया का साहित्य

राजा राममोहन राय

उन्नीसवी शती के आरम्भिक चरण मे ही **राजा राममोहन राय** इस विषय मे सचेत हो चुके थे। वे स्वय पश्चिमी शिक्षा एवं चिन्तन से प्रभावित थे। उन्होने उस जीवन को निकट से देखा व अनुभव किया था। वे उसकी उत्कृष्टता को भारतीय जीवन व दर्शन मे भी अनुकृत करना चाहते थे। पर उनकी दृष्टि मे भारतीय धर्म और मर्यादा एकदम हेय न थी। 'भारतीय भी उन सिद्धान्तों को अपनाकर प्रगति कर सकते हैं' —इस दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होने समाज-सुधार एव शिक्षा-सुधार का व्यापक आन्दोलन छेडा। बाद मे सन् १८२८ ई० मे उन्होने इसी उद्देश्य से "ब्राह्म-समाज" की स्थापना की,

जो कालान्तर मे बगाल का एक प्रमुख आन्दोलन बन गया। इसका एक प्रभाव यह हुवा कि नव-शिक्षित लोगों की बढती सख्या का ईसाई-धर्म मे दीक्षित होना रुक गया। स्वय राजा राममोहन राय ने हिन्दी मे कुछ पेम्फलेट लिखे। उनके इस कार्य को कालान्तर मे उनके शिष्यो मे से नवीनचन्द्र राय ने पजाब में चलाया। इस बंगाली सज्जन ने हिन्दी को ही अपना माध्यम चुना। श्रद्धाराम फुल्लौरी से पूर्व इन्होने पजाब में हिन्दी-प्रचार पर्याप्त कर दिया था। वास्तव में खडी-बोली को समाचार-पत्रो और पुस्तको के द्वारा जन-जन की भाषा के स्तर तक लाने मे जिन बगालियो ने अभूतपूर्व कार्य किया, ये उनमे से एक थे।

स्वामी दयानन्द

देहली दरबार के अवसर पर अपना प्रथम व्यापक प्रभाव प्रदर्शित करने वाले स्वामी दयानन्द की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उनका कार्य-काल सन् १८६० ई० से सन् १८८३ ई० तक ही बैठता है। किन्तु इतने थोडे समय मे ही उन्होने जो अभूतपूर्व कार्य किया, वह हिन्दी सेवा की दृष्टि से अविस्मरणीय रहेगा। गुजरात मे वे उत्पन्न हुवे। उनकी शिक्षा-दीक्षा सस्कृत मे हुई। आरम्भ मे पण्डितो से शास्त्रार्थ के लिये उन्होने सस्कृत को ही माध्यम चुना। किन्तु शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि जनता तक पहुँचने, उनके हृदयो तक पहुँचने, व उन्हे प्रभावित करने के लिये 'हिन्दी' का माध्यम आवश्यक एवं अनिवार्य है। देहली दरबार के बाद से उनका पत्र-व्यवहार एव व्यवहार हिन्दी मे होने लगा। बाद मे ही उनकी समस्त पुस्तके हिन्दी मे भी लिखी जाने लगी। जिस जनता तक पहुँचना उनका उद्देश्य था, उस तक संस्कृत के माध्यम मे पहुँच पाना असम्भव था। उनकी पुस्तको की सख्या पर्याप्त है। उनका सामाजिक व धार्मिक-सुधार की दृष्टि से महत्त्व भी बहुत है। किन्तु, उनकी साहित्यिक सेवा 'व्यवहारभानु' के रूप मे अमर रहेगी। इस छोटी-सी पुस्तिका मे गद्य-शैली का निखरा रूप, व्यंग्य एवं हास्य का पुट एव भाषा का चलता प्रवाह अवलोकनीय है। इसके लिखने का लक्ष्य भी कम पढी-लिखी जनता तक पहुंचना ही था। इसमे उल्लिखित कथाओ ने अपने समकालीन लेखको की कृतियो मे भी प्रवेश पाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' उनकी दूसरी महत्त्व-पूर्ण कृति है। धर्म, समाज-सुधार, राष्ट्रीयता, स्वदेशी-प्रेम, स्वभाषा-प्रेम, आदि की दृष्टि से उसका महत्त्व है ही। किन्तु, व्यग्यात्मक गद्य, मुहावरो का प्रयोग

एवं संवाद शैली की समृद्धि की दृष्टि से उनका साहित्यिक महत्त्व भी है। ईसाई गद्य की-सी कड़ुवाहट पाने वालो को इसके पहले दस समुल्लासों का अध्ययन इस दृष्टि से करना चाहिये। इस अकेली पुस्तक ने अपने युग को हिलाकर रख दिया था। इसके विरोध मे भी पर्याप्त साहित्य का निर्माण हुवा। इसी महा-पुरुष ने वेदो तक का भाष्य हिन्दी मे किया। हिन्दी को 'आर्य-भाषा' नाम देकर, आर्य-संस्कृति की प्रवहण-शीलता और युगानुकूलता को इन्होंने ही प्रमुखतः उद्-घोषित किया। 'आर्य-समाज' की स्थापना सन् १८७५ ई० मे हुई, 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना के ५० वर्ष बाद ! हिन्दी और आर्य-समाज का परस्पर सम्बन्ध बचपन से ही रहा है।

श्रद्धाराम फुल्लौरी

स्वामी दयानन्द के सैद्धान्तिक विरोधियो मे से श्रद्धाराम फुल्लौरी का नाम प्रधान रूप मे लिया जा सकता है। ये कट्टर सनातनी थे। पुरानी मर्यादाओ पर कुठाराघात होते देख ये तिलमिला उठे। स्वामी दयानन्द के सुधारवादी स्वर मे भी इन्हें ईसाई-प्रचार की सी 'बू' अनुभव हुई। मानो उनका लक्ष्य हिन्दू धर्म का विनाश रहा हो। इनकी पुस्तक सत्यामृत प्रवाह अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। इसमे सशक्त शैली मे स्वामी दयानन्द के सत्यार्थ-प्रकाश के युक्ति-क्रम का विरोध किया गया था। वे नवशिक्षित हिन्दुओ के ईसाई बनने से भी चिन्तित थे। धर्म के प्रति उनकी यह निष्ठा ही 'धर्म-शिक्षा' एवं 'उपदेश-संग्रह' आदि के निर्माण का कारण बनी। उनका 'भाग्यवती' उपन्यास सामा-जिक कोटि का था। कुछ अन्य ग्रन्थ भी उन्होने लिखे। उनका कार्यकाल स्वामी दयानन्द के समकाल ही बैठता है। 'सन्तोपदेश' नाम से उनका एक पद्य-सग्रह भी प्रकाशित हुवा। वे उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे, किन्तु हिन्दी-गद्य का उनका प्रवाह उर्दू के प्रभाव से मुक्त है। उनकी भाषा मे प्रवाह है, तथा वह अत्यन्त परिष्कृत है। उनकी यह शैली अगले युगो के धार्मिक-साहित्य में अधिक अनुकृत हुई।

इसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ धार्मिक लेखको ने उस समय साहित्य रचना की। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना व स्वामी दयानन्द से उनके सम्पर्क ने भी 'सर्व-हित' की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु, हिन्दी-प्रचार मे उन सबका योगदान अत्यल्प रहा।

(घ) स्वतन्त्र साहित्यिक प्रयत्न

इन प्रयत्नो को हम दो वर्गों मे रख सकते है। एक वर्ग मे साहित्यिक महारथियो के नाम आते है; दूसरे मे समाचार-पत्र-जगत् के उन स्तम्भों का उल्लेख आता है, जिन्होने हिन्दी को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया। पहले वर्ग के अन्तर्गत **राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** के पिता 'गिरिधर' के नाम आते है।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'

इनमे राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का नाम सर्वप्रमुख है। इस युग के परिस्थिति-विवेचन मे हम सरकार की उर्दू-पक्षपातिनी नीति का उल्लेख कर आये है। फारसी और उर्दू के अधिकाधिक प्रवेश ने सन् १८३६ ई० तक अदालतों से **हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि** दोनो का वहिष्कार कर दिया था। उसके विरोध मे राजा साहव ने पर्याप्त वलपूर्वक आवाज उठाई। परिणामतः हिन्दी का अध्ययन स्कूलो मे फिर से शुरू हुवा। अदालती मान्यता तो हिन्दी को न मिली, पर शिक्षा की यह समस्या उठने पर उसमे पुस्तकें तैयार करना आवश्यक हो गया। स्वयं राजा साहव ने हर प्रकार की पुस्तके तैयार करनी आरम्भ कीं। भूगोल, इतिहास, धर्म, राजनीति, सभी के सम्बन्ध में उन्होने कुछ न कुछ लिखा। 'राजा भोज का सपना' उनकी सर्व-प्रसिद्ध कृति है। उनकी लिखी पुस्तको की संख्या पर्याप्त है, किन्तु प्रसिद्धि इसी पुस्तक को मिली। आरम्भ मे राजा साहव हिन्दी गद्य की विशिष्ट शैली का आदर्श लेकर वढ रहे थे। वे लल्लूलाल जी की भाषा को अनुपादेय व निकृष्ट मानकर चले थे। उनकी भाषा में अनेक त्रुटियो के वाद भी, वास्तव मे, अधिक प्रवाह था। सस्कृत शब्दो के प्रति मोह न होते हुवे भी वे उन्हे निःसकोच प्रयोग करते थे। किन्तु सरकारी नौकरी मे रहने के कारण, या अधिकारियो के सम्पर्क के कारण, उनकी इस लालित्यपूर्ण भाषा मे धीरे-धीरे अन्तर आने लगा। क्रमशः यह भाषा, उर्दू के ढांचे पर, फारसी प्रधान होती गई। और, अन्ततः अरवी-फारसी के शब्दो की इतनी भरमार इसमे हुई कि इसे यदि नागरी अक्षरो मे लिखी अरबी-फारसी ही कहा जाये तो अधिक उपयुक्त होगा। इतने पर भी उनके प्रयत्नो ने हिन्दी को शिक्षा मे विधिवत् स्थान दिलाया, इतना ही पर्याप्त है। हिन्दी को उनके इन प्रयत्नो का चिर-ऋणी मानना चाहिये। उनके कृतित्व की अपेक्षा उनके **प्रयत्न** अधिक महत्त्वपूर्ण है।

राजा लक्ष्मणसिह

इनके साथ ही साथ दूसरा अप्रतिम व्यक्तित्व राजा लक्ष्मणसिह का है। यह व्यक्ति इस युग का एकमात्र उत्कृष्ट कोटि का साहित्यिक गद्य-लेखक कहा जा सकता है। उन्हे स्पष्टत अरबी-फारसी के शब्दो से लदी हिन्दी मे अत्यधिक चिन्ता थी। वे हिन्दी को शुद्ध-रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते थे। राजा शिवप्रसाद की भाषा ने भी उन्हे व्यथित किया था। परिणामत उन्हें भी सैयद इंशा अल्लाखाँ की भाँति अपनी मान्यता की हिन्दी भाषा की व्याख्या करनी पडी। उनकी भाषा व्यवहृत भाषा का ही सुधरा-रूप थी। उनके गद्य की भाषा अब तक भी आदर्श मानी जाती है। उन्होने कालिदास के अनेक ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद किया। पद्य की भाषा ब्रज रही, किन्तु गद्य की सुधरी हुई खडी-बोली कुछ इस प्रकार की आकर्षक बन पाई है कि उसका अब भी सम्मान है। उनके इन अनुवादो को अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। निश्चय ही इस भाषा को जन-भाषा की अपेक्षा सस्कृत-बहुल कहा जा सकता है। किन्तु साहित्यिक भाषा मे यह अन्तर होना आवश्यक भी था। काव्य-विषय के अनुरूप इस प्रकार के परिवर्तन ने खड़ी-बोली को साहित्यिक भाषा का रूप प्रदान किया।

इन दोनो लेखको का समय १९वी शदी के द्वितीय चरण से लगभग अन्त तक है, किन्तु इनका कार्य-काल तृतीय चरण तक ही माना जाता है। उसके बाद हिन्दी-साहित्य गगन मे जिस 'चन्द्र' का जन्म हुवा, उसने इन सबके व्यक्तित्व को ढक दिया। यू तो इस काल के इसी चरण मे अनुवाद एव मौलिक ग्रन्थो के निर्माण मे बीसियो लेखको ने भाग लिया। परन्तु उनके व्यक्तित्व पृथक् होकर स्पष्ट रूप मे उभर नही पाये। 'गिरिधर' का 'नहुष' नाटक प्रसिद्ध हुवा। उनकी रचनाओ की सख्या भी अधिक है। पर अपने ही पुत्र 'भारतेन्दु' के सामने वे भी फीके पड गये।

पत्रकार

इसी क्षेत्र मे दूसरा वर्ग हम ने पत्रकारो का माना है। हिन्दी-पत्र-जगत के इतिहास मे सर्वप्रथम पत्र के प्रकाशन का श्रेय कलकत्ता महानगरी को है। सन् १८२६ ई० मे प० जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादकत्व मे सबसे पहला समाचार-पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' यही से प्रकाशित हुवा। यह डेढ-दो वर्ष मे ही बन्द हो गया। इसके दो वर्ष बाद राजा राममोहन राय एवं उनके साथियो

के नेतृत्व मे 'वंगदूत' नामक पत्र निकला, जो हिन्दी, वंगला, फारसी और अग्रेजी मे एक साथ प्रकाशित होता था। उसके भी पाँच वर्ष वाद कलकत्ता से ही 'प्रजामित्र' निकला, पर थोडे ही दिन के लिए। एक अहिन्दी-भाषी प्रदेश ने हिन्दी को इतना महत्त्व दिया यह आश्चर्य की वात है ही। किन्तु, इससे भी अधिक आश्चर्य की वात यह है कि बंगाली विद्वानों ने राजा राममोहन राय और वावू नवीनचन्द्र राय के अनुकरण पर हिन्दी-प्रदेश में जाकर भी हिन्दी की सेवा की! हिन्दी-प्रदेश मे प्रकाशित होने वाले आरम्भिक पत्रो के सम्पादक रूप मे इन वगालियो ने ही उस समय ख्याति प्राप्त की। राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' का 'बनारस', तथा एक अन्य बहुभाषी पत्र 'मार्त्तण्ड' इसके उदाहरण है। उनके सम्पादक वंगाली विद्वान ही थे। बाद मे 'बनारस' अखवार के बगाली सम्पादक वावू तारा मोहन मित्र के उद्योग से ही 'सुधाकर' नामक पत्र निकला। 'वुद्धि-प्रकाश' पत्र भी इन्ही दिनो आगरा से निकला। इसका सम्पादन किन्ही हिन्दी भाषी मुशी सदासुखलाल ने किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने भी 'प्रजाहितैषी' का सम्पादन किया। इस विकास-क्रम को देखकर कहा जा सकता है कि इन सभी पत्रों ने हिन्दी भाषा के स्वरूप व उसके गद्य के परिष्कार और परिमार्जन मे महान् सहायता पहुँचाई।

इस प्रकार उत्क्रान्ति-युग के इस प्रथम चरण ने इस थोडे से ही काल में खडी-बोली को जिस सघर्ष की अग्नि-परीक्षा से गुजरने का अवसर दिया, उसने उसे चमकता कुन्दन वना दिया। निश्चय ही यह चरण कविता के क्षेत्र में क्रान्ति नहीं ला पाया। किन्तु, हिन्दी गद्य में, इसी चरण में, वह पृष्ठभूमि अवश्य तैयार हो गई थी, जिस पर अगले युग का हिन्दी का स्वर्ण-महल खडा हुवा। आगामी युग की कविता व गद्य की पृष्ठभूमि के रूप में इस समय के साहित्य के सभी पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। सबसे बढकर इसलिए कि हिन्दी और अहिन्दी-भाषी यह समझ सकें कि खडी-बोली का उत्थान सर्वप्रथम हिन्दी-प्रदेश वासियों से वढकर अहिन्दी-प्रदेश वासियों ने किया। उनकी यह सेवा सर्वदा अविस्मरणीय है। और, आजतक चल रही है।

द्वितीय चरण : भारतेन्दु युग

(सन् १८६८ ई० से १८९० तक)

युगैक्य

हमने 'उत्क्रान्ति-युग' को, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, दो भागो मे

बाँटा है। पहले चरण मे हमने उस पृष्ठ-भूमिका का अध्ययन किया, जिस पर हिन्दी-साहित्य का नवीन भवन खडा हुवा। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को नये युग का सन्देश-वाहक और सूत्र धार माना जाना स्वाभाविक है। यह बात हर दृष्टि से उचित भी प्रतीत होती है। हिन्दी के अधिकांश साहित्य-विवेचको ने ऐसा स्वीकार भी किया है। परन्तु एक सत्य को प्राय: आँखों से ओझल कर दिया जाता है। वह यह कि जिस चतुर्मुखी-क्रान्ति का उद्घोष पूर्व-युग मे हुवा था, उसकी पूर्णता भारतेन्दु के स्वरो में ही हुई। भारतेन्दु ने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों की परिवर्तनशीलता को पूर्ण हृदयंगम तो किया ही था। साथ ही राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द एव अन्य धर्म प्राण सुधारकों द्वारा प्रबुद्ध संस्कृति-चेतना को भी पूरी तरह अपनाया था। कह सकते है कि यदि पूर्व-चरण ने किसी साहित्य का 'प्राण' या 'आत्मा' उपस्थित किया, तो इस चरण ने उस साहित्य को 'शरीर' प्रदान किया। 'आत्मा' और 'शरीर' की यह एकता ही इस युग (उत्क्रान्ति-युग) की भावात्मक एव काव्यात्मक एकता का आधार है।

आगामी युग की भिन्नता

एक सत्य यह भी स्मर्त्तव्य है कि भारतेन्दु व उनके साथियों ने साहित्य के जिस आन्दोलन मे भाग लिया था, वह सन् १८९० ई० से बाद के साहित्य से किंचित् मात्रा मे भिन्न है। भारतेन्दु के प्रयत्नो मे भाषा के व्यामोह की जगह, भावना की विद्रोहात्मक अभिव्यक्ति की प्रधानता है। परन्तु साथ ही 'पुरातन' से सम्बन्ध एकदम टूटा नहीं है। 'काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा' के बीज सन् १८९० ईसवी से स्पष्टत: अंकुरित और पल्लवित होने लगे थे। भारतेन्दु की 'मित्र मण्डली' ने ही, उनकी मृत्यु के बाद, इस नयी संस्था की आधार-शिला का काम किया था। बाबू श्यामसुन्दरदास व उनके नवयुवक साथियो के उत्साह ने इसे सिंचित किया। इसलिये, स्वभावत, सन् १८९० ईसवी से आगे के साहित्य मे खड़ी-बोली के प्रति जो आग्रह, एवं हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि मे जो उत्साह-पूर्ण सपरिश्रम प्रगति दिखाई देती है, उसे सन् १९०० ईसवी के बाद से स्वीकार करना तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से उसका सम्बन्ध जोड बैठना उचित नही। 'द्विवेदी' और 'प्रसाद' दो व्यक्तित्व थे, जिन्होने आगामी युग के दोनो चरणो का प्रतिनिधित्व

किया। किन्तु, जो भावधारा और आधुनिकता के प्रति जो आग्रह उस साहित्य मे मिलता है, द्विवेदी से उसका आरम्भ मानना उचित नही। भारतेन्दु के साहित्य मे वस्तुत:, वह सब कुछ मूर्त्त हुवा, जिसका उद्घोष और आन्दोलन उनके पूर्व-युग मे हुवा। भाषा के स्वरूप व साहित्य मे नई विधाओ के प्रति जो साग्रह प्रयास अगले युग मे हुवा, निश्चय ही उसकी पृष्ठभूमि मे भारतेन्दु के प्रयासो को रखना अधिक उचित होगा।

युग-व्यक्तित्व

कह सकते है कि वे एक ऐसी युग-सन्धि पर उपस्थित हुवे, जहाँ एक ओर पुरातनता के नवसंस्कार की पुकार थी, तो दूसरी ओर समकालिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया एवं आगामी युग के प्रति सजगता भी विद्यमान थी। इस पर भी यह तो स्पष्ट ही है कि वे स्वय भी क्रांति के एक अग्रदूत थे। अन्य सुधारकों ने जो प्रयत्न अन्य क्षेत्रों मे किये, भारतेन्दु ने उन्हें साहित्य क्षेत्र में किया। उनके साथियों को निश्चय ही उससे प्रेरणा मिली।

इस युग की काल-सीमा को भारतेन्दु और स्वामी दयानन्द की मृत्यु के आस-पास ही समाप्त मानने का हमारा आग्रह इन्ही आधारो पर है। सन् १८८५ ईस्वी के बाद पांच वर्ष के समय को हमने केवल विभाग की सुविधा की दृष्टि से ही इस काल में रख लिया है। वस्तुत:, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस समय तक लेखन भी आरम्भ कर ही चुके थे। परन्तु इससे भी बढकर उनकी नई दृष्टि एव उत्साह इस समय तक सामने आने लगा था।

परिस्थितियाँ

राजनैतिक

सन् १८६० ईसवी मे विक्टोरिया द्वारा 'भारत की साम्राज्ञी' का पद ग्रहण करने के बाद से राजनैतिक स्थिति मे अधिक स्थिरता एव शान्ति स्थापित हो गई। यद्यपि सन् १८५७ ई० की विद्रोहमयी ज्वाला की चिनगारियाँ पूरी तरह कभी भी शान्त न हुई। फिर भी देश मे 'ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी' के कुशासन के अन्त पर सार्वत्रिक आह्लाद अनुभव किया गया। देशी राज्यो की रही-सही सत्ता भी धीरे-धीरे नगण्य हो गई। यह बात एक ओर सजग चेतना सभी के व्यक्तियो को व्यथित कर रही थी, किन्तु दूसरा ओर एक विवशता व लाचारी भी वे अनुभव कर रहे थे। देशी शासको की आँखे अब भी नही खुली थी। विलासिता का दौरदौरा बढ गया था। जमींदारो और ताल्लुकेदारो के

अत्याचार बढते जा रहे थे। इन सब आन्तरिक उलझनो का एक ही उत्तर था, किसी एक सशक्त केन्द्रीय शक्ति का प्रादुर्भाव। 'अग्रेजी राज्य' विदेशी था। उसमे अनेको बुराइयाँ थी। किन्तु, एक अच्छाई उससे अप्रत्याशित रूप मे यह हुई कि भारत की विशृखलता मे, एक सशक्त केन्द्रीय शक्ति का उदय हुवा। उन्हें अपने शासन को चलाने के लिये जो भी व्यवस्था दृढ से दृढतर रूप मे करनी थी, उसका प्रभाव देशवासियो की स्थिति व उनके जीवन पर भी पडना स्वाभाविक था। अतः इस तथ्य को मानने से इन्कार नही किया जा सकता कि सैकडो अत्याचारो और अन्यायो पर आधारित होकर भी, देश को आर्थिक दृष्टि से ध्वस्त करके भी, इस नयी और विदेशी 'केन्द्रीय शक्ति' ने स्थिरता व सुरक्षा की एक भावना को भी जन्म दिया। राजनैतिक क्षेत्र मे अशान्ति दो रूपो मे रह गई थी। एक वर्ग चाहता था कि अपना राज्य अवश्य स्थापित होना चाहिये, चाहे मारकाट के द्वारा, सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा, या अन्य किसी उपाय से हो। दूसरा वर्ग मानता था कि 'अपना राज्य' है तो आवश्यक, परन्तु जब तक वह स्थापित नही होता, तब तक इस विदेशी राज्य से ही अधिकाधिक सुव्यवस्था और सुरक्षा की माँग की जानी चाहिये। हमे अधिकाधिक अधिकार मिल सकें, ऐसा भी यत्न होना चाहिये। इन दोनो मे से प्रथम वर्ग में भारत के अतीत गौरव से परिचालित, सस्कृति के उद्धारकर्त्ता, एव नयी पाश्चात्य दृष्टि से प्रेरित सुधारवादी नवयुवक प्रमुख थे। द्वितीय वर्ग मे अनेक ऐसे लोग थे जो पाश्चात्य जीवन की चकाचौध एव प्रचार के सम्मुख यह स्वीकार करने लगे थे, कि भारत नितान्त अशक्त एव असहाय है। उसे हर दशा मे अपनी अतीत की निकृष्टता एव निर्बलता को हटाने के लिए पश्चिम का सहारा लेना है। ऐसी मनोवृत्ति के लोग अग्रेजी सरकार की नजरो मे चढ गये। उन्हें शासन से सम्बद्ध किया गया। परन्तु दूसरे वर्गो के, देश के प्राचीन गौरव एव स्वाभिमान से प्रेरित, लोगो को इस विदेशी सरकार ने घृणा एव विद्वेष की दृष्टि से देखा। ऐसा विद्वेष, स्पष्ट रूप मे, काग्रेस की स्थापना के भी कुछ वर्ष बाद ही आया। राजनैतिक असन्तोष के फुटकर विस्फोट यत्र-तत्र होते रहे। यहाँ यह भी स्मर्त्तव्य है कि इस प्रकार के असन्तोषों मे ही स्वामी दयानन्द के उस प्रयत्न का भी अन्तर्ग्रहण होना चाहिये, जो उन्होने देहली-दरबार के अवसर पर देशी राजाओ को एकत्रित करके, उन्हें एक सूत्रबद्ध करने के प्रयास के रूप मे, किया था। उनके ये प्रयास अन्तिम

क्षण तक चलते रहे। उनका यह कथन अवधेय है—'कुछ भी हो, माता-पिता के समान लालित-पालित विदेशी राज्य से भी निकृष्ट से निकृष्ट स्वदेशी राज्य अच्छा ही है।'

भारतेन्दु ने इसी भावना को साहित्य में व्यक्त किया था। उनकी यह अभिव्यक्ति समाज, अर्थ और शिक्षा के क्षेत्र मे भी इसी आधार पर व्यक्त हुई थी। भारत के 'अतीत-गौरव' के झूठे मोह ने उन्हे आकृष्ट नही किया था। उनका अतीत के प्रति झुकाव पश्चिम के संकुचित 'राष्ट्रवाद' के कारण भी नही था। वास्तव मे दो संस्कृतियो और दो मान्यताओ की टक्कर होने पर, तथा आक्रान्ताओं की राजनैतिक चालबाजी और धोखेबाजी को प्रत्यक्ष देखकर ही तुलनात्मक रूप मे उन्होंने अपने अतीत गौरव का अन्वेषण किया था।

सामाजिक

मूलगत एकता—इस चरण में हम सामाजिक क्रान्ति का एक चक्र पूर्ण होता हुवा पाते हैं। राजा राममोहन राय द्वारा 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना के प्रयत्नों से जिस सामाजिक व सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन का श्रीगणेश हुवा था, उसे 'आर्य-समाज' की स्थापना के साथ पूर्ण हुवा समझना चाहिये। यह स्मर्त्तव्य है कि सन् १८६० ई० मे स्वामी दयानन्द ने अपना प्रचार शुरू किया। किन्तु, आर्य-समाज की स्थापना उन्होने सन् १८७५ ईसवी मे की। स्पष्टतः देशव्याप्त परिस्थितियो का अनुमान और अंकन करके ही उन्होने ऐसा किया। आर्य-समाज के सिद्धान्तो की 'दश-सूत्री' घोषित करते हुवे उन्होने एक ही उद्देश्य अपने सामने रखा, 'भारत के अधिकाधिक मतो के बीच सामञ्जस्य की बातो को खोज निकालना'। बाद मे चाहे इस प्रयत्न को गलत रूप मे समझा गया, किन्तु स्वामी दयानन्द ने मूलत. इसी भावना से प्रेरित होकर ही अन्यान्य मतवादो का खण्डन किया था। कबीर की भाँति उनके प्रयत्नों को भी खण्डनात्मक मान लिया गया। **जबकि सत्य यह था कि कृष्ण और बुद्ध की भांति उन्होने भी रचनात्मक सिद्धान्तों पर बल देने के लिये ही अन्य मतो का निराकरण किया था। उनका उद्देश्य था: सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमान्य पथ का निर्देश।** भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास और अन्य अनेको कवि यद्यपि धार्मिक मान्यताओ की दृष्टि से स्वामी दयानन्द के विरोधी थे, परन्तु उनकी इस 'युगान्तरकारी चेतना' को उन्होने पहचान लिया था। प्राचीन

संस्कृति की श्रेष्ठता, व भारत के अतीत-गौरव के प्रति सजगता इस प्रेरणा से भी जगी थी।

समानता—राजा राममोहन राय व स्वामी दयानन्द के प्रयासों ने समाज मे जो वास्तविक क्रान्ति की, वह थी जाति-पाँति के भेदभाव पर कुठाराघात करने की। **'आर्य-समाज' की स्थापना का एक उद्देश्य था, मानवमात्र की जन्मगत और अवसरगत समानता स्वीकार करके, समाज की पुनः रचना!** भारतेन्दु व उनके साथियो ने इस महत्त्व को भी पहचाना। इन लोगो ने जाति-पाँति के पुराने ढर्रे, व समाज की पुरानी और निराधार मान्यताओ पर ज़बरदस्त कुठाराघात किया। यद्यपि सामाजिक स्तर पर इस आदर्श की व्यापक मान्यता गाँधी जी के प्रयत्नो के बाद (सन् १९२० ई० के बाद) ही सम्भव हुई।

स्वतन्त्रता—इस आन्दोलन की सबसे बडी देन थी—**परम्परा से स्वतन्त्रता!** रूढियो और परम्पराओ का यह जाल भारतीय-मानस पर इस तरह छाया हुवा था कि उससे बहुश्रुत और अल्प-श्रुत सभी एक समान रूप में प्रभावित थे। रूढि से मुक्ति का अर्थ था—जाति का पुन संस्कार। 'नारी की स्वतन्त्रता', 'शिक्षा की स्वतन्त्रता', आदि उसी विशाल आन्दोलन के विविध पहलू मात्र हैं। वस्तुतः इस सब का मूल था—**'तर्क की स्वतन्त्रता'**। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय के प्रयत्नों ने धर्म की युगो पुरानी मान्यताओ को भी तर्क की कसौटी पर कसने के लिये बल दिया था। इसी का परिणाम था कि धर्म की रूढ़ि के नाम पर होने वाले अत्याचारो का भी पुनर्मूल्यांकन हुवा। और इन सबका प्रहरी बना इस युग का साहित्यकार। तर्क के साथ व्यग्य का यह पुट भारतेन्दु और उनकी मित्र-मण्डली के प्रयत्नो मे स्पष्ट देखा जा सकता है! **विदेशी भाषा के प्रति आग्रह, किन्तु उसके दुष्प्रभावों से बचने की चेतावनी**—का एक साथ इस साहित्य मे पाया जाना, स्पष्टतः, इसी सतर्कता के कारण सम्भव हुवा। विज्ञान और उद्योगो के क्षेत्र मे पश्चिम के अनुकरण के लिये बल देते हुवे, इन लोगो ने अपने वैज्ञानिक और औद्योगिक अतीत की भी याद दिलाई। जिन अत्याचारों से उस कला-कौशल को मिटाया गया था, उसके प्रति कटु व्यग्य इनकी वाणी में था। उसका दोष, भाग्यवादी परम्परा के अनुसार पश्चिम के साम्राज्यवादियो को न देकर, नवीनता के ग्रहण के लिये अनुत्सुक और उदासीन भारतीयो को दिया गया। यदि इस विषय मे भी अतीत की दुहाई दी गई है, तो केवल

जगाने के लिये ही ! भक्ति-काल के सांस्कृतिक-पुनर्जागरण की अपेक्षा इस काल का यह पुनर्जागरण भिन्न है। उसमे 'संस्कृति' व 'विचारधारा' का पुनर्मूल्याकन मात्र था। इसमे समाज को आमूल-चूल बदलने एवं अतीत-गौरव से प्रेरणा लेने का आग्रह बलवान् था। स्पष्टत इसमे बाह्य-प्रभाव अधिक स्पष्ट रहे है। प्रतिक्रिया भी इसमे अधिक स्पष्ट हुई है। चिन्तन-क्षेत्र मे 'प्राचीन' का अन्धानुकरण नही हुवा है। न प्राचीन आदर्शों की दुहाई मचाई गई है। उनसे प्रेरणा लेने की पुकार अवश्य है। आत्म-गौरव व आत्म-सम्मान की पुन: प्राप्ति की प्रेरणा अवश्य है। अपने ज्ञात इतिहास मे आर्थिक दृष्टि से भारत का अतीत सदा ही गौरवमय रहा है। मुस्लिम शासन के आरम्भिक एवं अन्तिम दिनों को छोड़ कर भी समृद्धि की यह परम्परा अक्षुण्ण ही रही है। 'ग्राम-स्वराज्य' की मान्यता ने औद्योगिक-उत्पादन को विकेन्द्रित आधार पर निरन्तर बढती का अवसर प्रदान कर रखा था। सहस्राब्दियो के बाद इन पाश्चात्य-शक्तियो ने ग्राम-स्वराज्य के उस ढाँचे मात्र को ही समाप्त नही किया, भारत के आर्थिक-विनाश का द्वार भी सदा के लिये खोल दिया। भले ही 'ग्राम-स्वराज्य' के विनाश की ओर ध्यान इस युग मे न खिचा, फिर भी उससे प्रत्यक्ष होने वाले आर्थिक प्रभावो के प्रति लेखक की चेतना सजग अवश्य रही। वह जान चुका था कि हम अपना मूलाधार खो चुके है। इसलिये साम्राज्ञी से सुधार-याचना, अथवा राष्ट्र को पुराने गौरव की याद दिलाने वाले स्वर के मूल मे इसी स्वतन्त्रता की भावना काम कर रही है।

विद्रोह—कहा जा चुका है कि समाज के निम्न वर्ग को उठाने के आन्दोलन आरम्भ हुवे थे। यद्यपि इस दिशा मे गाँधी जी के आगमन के बाद एक तीव्रता आई, फिर भी राजा राममोहन राय व स्वामी दयानन्द के प्रयत्नो ने एक उग्र सक्रियता व सजगता उत्पन्न कर दी थी। इस समय का साहित्यकार युग-विद्रोही के रूप मे उठा है। वह समाज-व्यवस्था के पुराने ढाँचे से भी चिपटा है, किन्तु उसकी धारणाओ मे आमूल अन्तर भी आ चुका है। यही बात स्त्रियो के विषय मे भी हुई। स्त्री की स्थिति मे भी आमूल-परिवर्त्तन की माँग की गई। आर्थिक दृष्टि से तो यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट दिखाई देती है, कि इसके सम्मुख उनकी प्रत्यक्ष दीखने वाली राजभक्ति भी फीकी दिखाई देती है। सन् १८८५ ई० मे कांग्रेस की स्थापना को किसी 'विद्रोही प्रयत्न' मे न गिनना अधिक उचित विद्रोह की प्रवृत्ति कुछ नेताओ की व्यक्तिगत भावनाओ तक ही सी

लोकमान्य तिलक का एक विद्रोही व्यक्तित्व दक्षिण में, तथा कुछ अन्य विद्रोही व्यक्तित्व बगाल मे, सामने आ रहे थे। लोकमान्य तिलक के प्रयत्नों ने साहित्य-कार की विद्रोही चेतना का ही परिचय दिया था।

साहित्यिक

इस प्रकार राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर इस युग का साहित्य बढा। इस युग का बगला और मराठी साहित्य विद्रोह व क्रान्ति की सर्वतोमुखी भावना से आविष्ट था। यह विद्रोह व क्रान्ति राजनैतिक भावनाओ तक ही सीमित न थे। स्वयं साहित्यिक रूढियो व परम्पराओ के प्रति विद्रोह भी इनमे व्यक्त हुवा था। कहा जा सकता है कि बगाल व बम्बई (महाराष्ट्र-गुजरात) प्रदेशो के नई शिक्षा मे आगे निकल जाने के कारण यह स्वाभाविक था। किन्तु यह भी स्मर्त्तव्य है कि इस चेतना की जड केवल प्रतिक्रियात्मक न थी। इसीलिए देश के अन्य साहित्य मे भी यह प्रवृत्ति उस समय स्पष्ट लक्षित होती है। उस समय के हिन्दी साहित्य को हमने इसी आधार पर पूर्ववर्त्ती 'उत्क्रान्ति-युग' का 'उपसंहार' माना है। इसमे सन्देह नही कि पिछले आठ सौ-वर्षों (१००० ई० से १८०० ई० तक) के साहित्य की अपेक्षा, इसके बाद का साहित्य सर्वथा नये स्वर से युक्त है। इसीलिये प्राय इसे 'आधुनिक-काल' के नाम से एक ही वर्ग मे रख दिया जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि भारतेन्दु व उनके साथियो के स्वर व उनकी अभिव्यक्ति-विधा की अपेक्षा आगामी युग के साहित्यकारो का स्वर एव अभिव्यक्ति-विधा मे पर्याप्त आधुनिकता आ जाती है। बाद के साहित्य मे शैली और भावना के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन लक्षित होते है। निश्चय ही भारतेन्दु और उनके वर्ग ने उस 'आधुनिकता' का द्वार खोला। परन्तु उन्हे उस प्रक्रिया का अश मानकर हम युग-प्रवर्त्तक के रूप मे उनके महत्त्व को कम कर रहे होगे। उनका यह युग प्रवर्त्तन सर्वथा उनकी अपनी देन न थी, बल्कि यह एक पूर्व-प्रक्रिया की इतिश्री या पूर्णता थी। धार्मिक, राजनैतिक, व सामाजिक क्षेत्र मे जो विशाल आन्दोलन इस युग के प्रथम चरण मे आरम्भ हुवे थे, उनकी साहित्यिक परिणति ही भारतेन्दु आदि के साहित्य मे दिखाई देती है। इस साहित्य के पद्याश मे भावनात्मक क्रान्ति स्पष्ट हो जाती है, शैलीगत दृष्टि से प्राचीन का अनुकरण ही कहा जा सकता है। यद्यपि परिवर्त्तन के कुछ चिन्ह उसमे भी स्पष्ट देखे जा सकते

हैं। गद्यांश मे जहाँ तक साहित्य-शरीर का सम्बन्ध है, उसके आवरण (भाषा) और अंगो (उपन्यास, कहानी, निबन्ध) मे पर्याप्त वृद्धि एवं नयापन दिखाई देता है। गद्यांश की एक-मात्र स्पृहणीय व उत्कृष्ट देन 'नाटक' है। यद्यपि अन्य क्षेत्रो की प्रगति कम महत्त्वपूर्ण नही कही जा सकती। वे क्षेत्र हिन्दी के लिये नये थे। फिर भी उनमे मौलिकतापूर्वक सृजन न हो सका। बगला व अग्रेजी के अनुकरण पर उन विधाओ मे लिखने का यत्न अवश्य हुवा। कुछ उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध रचे भी गये। परन्तु अगले युग मे शेष विधाओ ने जो प्रगति की, उस दृष्टि से, वह इस युग से भिन्न था।

भारतेन्दु

सन् १८५० ईस्वी में भारतेन्दु का जन्म हुवा और कुल ३३ वर्ष की स्वल्पायु मे ही वे इस संसार से विदा हो गए। साहित्य रचना उन्होने बहुत बचपन से आरम्भ कर दी थी। पर १८ वर्ष की आयु मे जगन्नाथ पुरी की यात्रा के अवसर पर उनका प्रथम परिचय बगला-साहित्य की चकित कर देने वाली प्रगति से हुआ। स्वय उनके शब्दो मे सन् १८७३ ईस्वी मे हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य ने एक नई दिशा ग्रहण की। सम्भवतः वे स्वय भी पूरा न अनुमान कर सके थे कि उनके प्रवर्त्तित चक्र ने अगले युग मे कितना विस्तार पाना है?

नवीनता व मौलिकता

अगले ८-१० वर्षों मे ही भारतेन्दु ने जो प्राण-चेतना जगादी, और जिस साहित्यकार-मण्डल की स्थापना की, उसने हिन्दी-साहित्य को एक साथ ही महती प्रगति की ओर अग्रसर कर दिया। यह वह समय था, जब 'आर्य-समाज' की स्थापना अभी हुई ही थी। किन्तु, उससे पूर्व के वर्षों मे ही सम्पूर्ण भारत मे राजा राममोहन राय एवं स्वामी दयानन्द के प्रयत्नों से नवचेतना की एक लहर दौड चुकी थी। समाज-सुधार, राष्ट्र-प्रेम, देश की आर्थिक दुरवस्था, पराधीनता, ब्रिटिश शासन के अन्याय, आदि ऐसे अनेको तत्त्व सामने आ चुके थे, जिन्होने राजनीतिज्ञो की अपेक्षा साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया था। बंगाल के साहित्य मे यह नव प्रभाव बहुत पहले आ चुका था। "भारन्तेदु ने बंगला-साहित्य से प्रेरणा ली"—इसका अर्थ यह नही कि वे उसके अनुकरण मे सर्वात्मना अनुरक्त हुवे। वास्तविकता यह है कि

भारतेन्दु की साहित्य-प्रतिभा को अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरण की नव-चेतना मात्र मिली वगला साहित्य से ! अन्यथा, उनके विपय, उनका निर्वाह, उनकी भावना, व उनका वातावरण सर्वथा अपना था। वे हिन्दी के पूर्व-वर्त्ती साहित्य की विकास प्रक्रिया की एक कडी वन कर ही आये थे। उनके प्रयत्नो ने उन्हे युग-निर्देशन के लिये महत्त्वपूर्ण उत्तरदायी वना दिया। काशी स्वय स्वामी दयानन्द के प्रचार का केन्द्र था। भारतेन्दु इस वहती गगा से कैसे अप्रभावित रहते। उनकी चेतना के अभावो को इस पृष्ठभूमि ने पूरा किया। कांग्रेस की स्थापना हुई ही उनके जीवन के वाद थी। इसलिये इस काल के साहित्यिक विश्लेपण के लिए हमे भारतेन्दु की मौलिकता तथा जागरूकता के प्रति सचेत रहना चाहिए। यूँ, वगला, सस्कृत, अग्रेजी और उर्दू—सभी—भापाओ से वे परिचित थे। परन्तु उनका हिन्दी-प्रेम और साहित्यिक उत्साह किसी एक आदर्श से ही प्रेरित था। उसे एक साहित्यकार का केवल सामान्य कृतित्व मात्र कह देना त्रुटि होगी।

कविता के क्षेत्र में

नयी चेतना

भारन्तेदु कवि भी थे और गद्यकार भी। कविता उनसे पहले पुरानी लीक पर ही चल रही थी। भक्तिकाल के वाद से ही उसका सम्वन्ध जन-जीवन से टूट चुका था। वदलती परिस्थितियो का प्रभाव भी उस पर वर्पो से नही पडा था। भारतेन्दु की सजग चेतना ने उसका कायाकल्प कर डाला। भाषा और वाह्य ढाँचा वही रहा, परन्तु उसके स्वर सर्वथा पलट गये। अपनी पूर्ववर्त्ती परम्परा मे उन्होने एक नवीनता और विद्रोह-भावना ला दी। अपने युगानुरूप ही नये विपयो को कविता मे गृहीत किया। उनके स्वर मे समाज-सुधारक की कठोरता और राजनीतिज्ञ की यथार्थवादिता भी मिल जाती है, किन्तु साहित्यिक-हृदय की अभिव्यक्ति-प्रवणता के आवरण मे ही। वे प्रवुद्ध कवि-चेतना वाले जीवन्त सामाजिक जीव थे। कलाकार के आनन्द को उन्होने समाज के उत्थान से कभी पृथक् नही माना। उनके साहित्य मे मानसिक आह्लाद के 'सुन्दरम्' के साथ-साथ यथार्थ के 'सत्यम्', और शुभ-कामना एव आदर्श विनियोजना के 'शिवम्' की भी उपस्थिति है ही।

विपय

उनकी व सहयोगियो की कविता के विपयो को मुख्यत: दो भागो मे

बाँटा जा सकता है : पुरातन विषयो मे सुधार, एवं नवीन विषयो का समावेश ! शृगार व भक्ति मे पर्याप्त रूपान्तर आ गया था। शृगार की उच्छृखलता की अपेक्षा सौन्दर्य का प्रकृत चित्रण होने लगा था। सौन्दर्य और काव्य अब विलास के साधन न रह गये थे। 'नीतिकाव्य' की अभिव्यजना मे भी यथार्थ की प्रखरता थी। परन्तु इन तीनो ही विषयो मे कवि का भावनात्मक विद्रोह स्पष्ट हो रहा था। दूसरी ओर नवीन विषयो मे देश-प्रेम, समाज-सुधार, यथार्थ-चित्रण, एव जन-चेतना की प्रमुखता कही जा सकती है। ये सभी विषय अत्यन्त प्रौढतापूर्वक अभिव्यक्ति पा रहे थे। राजनीति इस कविता के लिये अछूता विषय न थी। 'खडी-बोली' भी इस युग के काव्य मे धीरे-धीरे प्रवेश पाने लगी थी। यद्यपि उससे भी आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण बात थी ' कवित्व की निश्छल अभिव्यक्ति !

'मुक्तक-काव्य' की इस परम्परा के अतिरिक्त कुछ प्रबन्ध काव्य भी इस युग मे लिखे गये। यद्यपि इनका कुछ विशेष महत्त्व नही गिना जा सकता। मुक्तको मे उन गीतो का भी ऊँचा स्थान है, जो नाटको मे स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुवे है।

प्रमुख कवि

इस युग के प्रमुख कवियो मे प्रतापनारायण 'मिश्र', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालमुकन्द 'गुप्त', अम्बिकादत्त 'व्यास', बालकृष्ण भट्ट, आदि के नाम गौरव से लिये जा सकते है। इन सबसे बढकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व की दृष्टि से श्रीधर 'पाठक' को ही गौरव प्राप्त हुवा। उनमे नवीनता भी थी, पाश्चात्यानुकरण भी, किन्तु साथ ही मौलिक प्रतिभा भी।

गद्य के क्षेत्र में

नाटक

गद्य के क्षेत्र मे उनसे पूर्व निर्माण तो पर्याप्त हुवा था, किन्तु उनकी पृथक् विधाओ का स्पष्ट रूपमे विकास नही हो पाया था। यूँ तो मौलिक रचना की दृष्टि से किसी निश्चित विधा मे भी कोई निश्चित आदर्श उपस्थित नही हुवा था। नाटक, निबन्ध, उपन्यास आदि सभी क्षेत्रो मे भारतेन्दु ने एक साथ प्रवेश किया। निबन्ध मे तो पत्रकार के नाते भी उनका उत्कर्ष सहज-सिद्ध था। उनके नाटको की गवेषणापूर्ण भूमिकाये भी इस विषय की साक्षी है। किन्तु नाटक के क्षेत्र मे उन्हे बिल्कुल शून्य से आगे बढ़ना

पडा। इस क्षेत्र मे जो कुछ पहले से था भी, वह न तो अनुकरणीय था, न ही उसमे किसी निश्चित उद्देश्य या रगमंच का आधार लिया गया था। सस्कृत नाटको की परम्परा से विच्छिन्न होकर जो पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो के नाटक लिखे जा रहे थे, उनकी निष्प्राण और निर्जीव शैली से भारतेन्दु व्यथित थे। साहित्यिक मर्यादा का तो उनमे ध्यान था ही नहीं। भारतेन्दु ने इस क्षेत्र मे एक साथ अनेक आदर्शों को उपस्थित किया। उन्हें बगला, सस्कृत एव अंग्रेजी नाटको की परम्परा मे अच्छा परिचय था। इस परिचय ने उनके नाटको को आदर्श रूप प्रदान किया। वे स्वयं कुशल अभिनेता थे, उनका हृदय समाज की दशा से व्यथित था। उनकी कलम में नव-निर्माण की शक्ति थी। इसलिये उनके नाटको ने जो नवनिर्माण किया, वह इस अर्थ मे अभूतपूर्व था, कि युगो पूर्व से नाटक जनजीवन के इतना निकट कभी न आया था। उनके प्रहसन भी केवल मनोरंजन की वस्तु न थे, उनमे युग-नेतृत्व की भावना रह-रह कर पुकार उठती थी। उन्होने कुछ एकाकी भी लिखे। श्रीनिवास दास का नाम भी इस युग के अनेक नाटककारो मे से प्रमुख है।

उपन्यास

भारतेन्दु के उपन्यास अपने युग के लिये भले ही आदर्श बन पाये हो, किन्तु इतिहास और कथात्मकता के सयोग मे वे मुक्त न हो सके। उनमे उपदेशात्मकता भी थी और वर्णनात्मकता भी, किन्तु पाश्चात्य उपन्यासो के से यथार्थ का अनुकरण उनमे न था। वास्तव मे इस युग मे, पाश्चात्य उपन्यासो मे यथार्थ की वृत्ति बल पकड रही थी। वहाँ भी कोई निश्चित आदर्श स्थापित न हो सके थे। बगाल के बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' मे, तथा शरत् बाबू के उपन्यासो मे, जिस ऐतिहासिकता का समावेश था, उसमे रोमान्चक चित्रणो एव भावनात्मक वर्णनो की प्रधानता थी। प्रकृति-चित्रण आदि भी अलंकृत शैली मे ही चले थे। उस सब परम्परा को इस युग के महान् सस्कृत व हिन्दी के कवि अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'शिवराज-विजय' नामक सस्कृत उपन्यास मे भी अपनाया था। भारतेन्दु द्वारा उसी शैली में लिखा जाना स्वाभाविक था। उनके समय के अन्य लेखको मे जो अतिशय आदर्शवादिता और रोमांसप्रियता पाई जाती है, भारतेन्दु उससे अछूते ही रहे। वे साहित्य को जीवन की वस्तु मान चुके थे। उनकी इस शैली का उपन्यास-क्षेत्र

मे अधिक अनुकरण न हुवा। इसका एकमात्र कारण यह था कि अगले लेखक अधिकाशत: कल्पना-बहुल फारसी साहित्य से अधिक प्रभावित थे, अथवा उन्नीसवी शती के अंग्रेजी जासूसी उपन्यासो से! वे उपन्यास को जीवन का व साहित्य का अभिन्न अग मानकर भी न चले थे। उनकी दृष्टि मे किस्से-कहानी और उपन्यास का एक ही उद्देश्य था—सस्ता मनोरजन। इसीलिये भारतेन्दु का अनुकरण सम्भव न हुवा। इस युग के प्रमुख उपन्यासकार है: श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिह, कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम 'गहमरी', राधाकृष्ण दास, आदि। इन्होने कथात्मक, भावात्मक, उपदेशात्मक आदि विविध कोटि के उपन्यास लिखे।

पत्रकारिता

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र मे बंगाली सम्पादको ने पहले ही आदर्शो की स्थापना की थी। किन्तु, भारतेन्दु सदृश महान् साहित्यिक के इस क्षेत्र मे अवतरण से जैसे इनका रूप ही पलट गया। पत्रकारिता को शुद्ध साहित्यिक स्तर पर लाकर उन्होने हिन्दी का महान् उपकार किया। उनके समय मे ही 'भारत-मित्र', 'प्रदीप', 'आनन्द-कादम्बिनी', आदि पत्रिकाये इसी आदर्श पर चलने लगी थी। सम्पादन मे उनका सा श्रम किसी और ने न किया। उनकी मण्डली के प्राय: सभी सदस्यो ने बाद मे किसी न किसी पत्रिका से अपना सम्बन्ध रखा।

आलोचना, निबन्ध, व जीवनी

'समालोचना' एव 'जीवनी' की दिशा मे भी इसी समय आरम्भिक यत्न हुवे। 'आलोचना' भारतेन्दु के कुछ निबन्धो को छोडकर सम्पादकीय वृत्ति ही रही। उसमे सैद्धान्तिक नवीनता एवं छानबीन की आधुनिकता न आई। 'जीवनी' मे भी कुछ उल्लेखनीय बात गिनाई नही जा सकती। निबन्धो की दृष्टि से यह युग अवश्य धनी है। बालकृष्ण 'भट्ट', प्रतापनारायण 'मिश्र', बदरीनाथ 'भट्ट', आदि लेखक प्रसिद्ध है ही। हास्य, व्यग्य, विचार, भाषा, आदि सभी दृष्टियो से इनके निबन्ध उत्कृष्ट है। भारतेन्दु स्वय उत्कृष्ट निबन्धकार थे।

अन्य कार्य

भारतेन्दु के इन कार्यो के अतिरिक्त उनके अविस्मरणीय कार्यो मे से

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, उनकी 'मित्र-मण्डली' की स्थापना। यह 'मित्र-मण्डली' ही उनकी मृत्यु के उपरान्त 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' का मूलाधार बनी। और, बाद मे हिन्दी के विभिन्न आन्दोलनो को यही से प्रोत्साहन मिला। किन्तु, उनकी 'नट-मण्डली' का अन्त उनके साथ ही हो गया। अन्यथा, जो क्रियात्मक भावना उनके नाटकों मे पाई जाती है, नट-मण्डली के स्थिर रहने से, शायद वही भावना किसी और भी नाटककार के कृतित्व मे पाई जाती।

प्रभाव

भारतेन्दु अस्त हुवे, परन्तु हिन्दी साहित्याकाश मे उनका स्थान एकदम रिक्त न हुवा। उनकी दी हुई ज्योति से ज्योतित जो अनेक तारागण चमक उठे, उनमे से कुछ अत्यन्त प्रखर ज्योति-सम्पन्न थे। उनका सा बहुमुखी व्यक्तित्व भले ही दूसरे का न रहा हो। किन्तु, पृथक्-पृथक् क्षेत्रो में उन्ही से प्रेरणा पाये उनके साथियो ने उनके कार्य को पर्याप्त आगे बढाया। कविता, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, पत्रकारिता, आदि सभी क्षेत्रो मे प्रगति हुई। लेखकों की सख्या भी सैकडो तक जा पहुँचती है। यह युग जैसे एक महान् यज्ञ का युग था। प्रत्येक दर्शक कुछ न कुछ श्रद्धांजलि चढ़ाने को उत्सुक था। पद्य के क्षेत्र मे ब्रजभाषा के प्रयोग का पक्ष लेने वाले भारतेन्दु ने अन्तिम दिनो खडी-बोली काव्य के प्रति अपनी रुचि दिखाकर मानो इस उत्साह को द्विगुणित कर दिया। इस युग के कवियो ने इस दिशा में यत्न करना अपना कर्त्तव्य-सा मान लिया था। आगामी युग तो इस संकेत को आदर्श ही मानकर बढ़ चला। सन् १८९० ई० के बाद भारतेन्दु के उत्तराधिकारियों ने केवल अनुकरण ही नही अनुसन्धान के द्वारा भी नये मार्गो पर कदम बढ़ाये।

नवदृष्टि-युग

(सन् १८९० ई० से १९३५ ई० तक)

एक दृष्टि में
नवदृष्टि-युग
प्रथम चरण
(सन् १९२७ तक)
विस्तार-काल
द्वितीय चरण
(सन् १९३५ ई० तक)
विद्रोह-काल
(बन्धन-मुक्ति का काल)
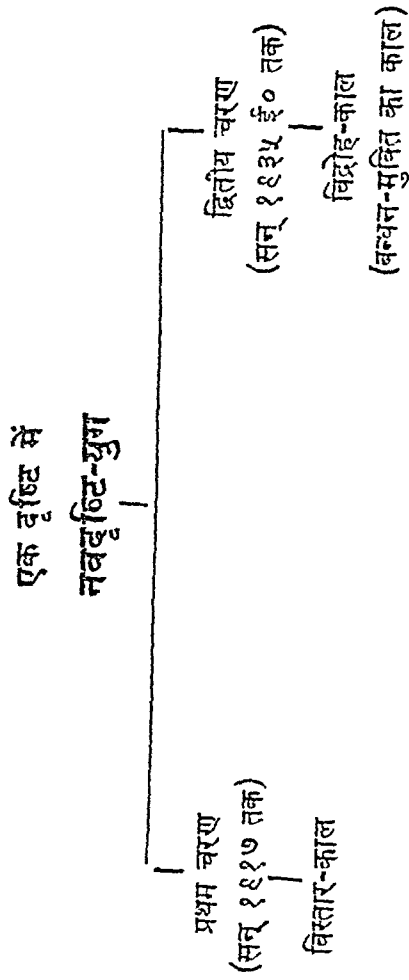
नवदृष्टि-युग

(सन १८९० से १९३५ ईस्वी तक)

भूमिका

भारतेन्दु की विदा के बाद कुछ दिन तक साहित्यिक दिशा वही चलती रही। किन्तु एक अन्तर प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा था : 'काव्य-विलास-युग' का म्रियमाणस्वर यदि कुछ भी अवशिष्ट था, तो वह भी भारतेन्दु के कृतित्व के बाद मिट गया। एक नया उत्साह साहित्य मे समाविष्ट हो चुका था। इस नयेपन को समझने के लिये आवश्यक होगा, कि हम इसकी पृष्ठभूमि को समझ ले।

राजनीति

सन् १८८५ ई० मे कांग्रेस की स्थापना हुई। पहले ४-५ अधिवेशनो के बाद ही इस मे विद्रोही गरम तत्त्वो का समावेश हो गया। सन् १८९० ई० से १९१५ ई० तक इस कांग्रेस का रूपान्तर ही हो गया। गोपालकृष्ण गोखले, बालगगाधर तिलक, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, दादाभाई नौरोजी, विपिनचन्द्र पाल, लाला हरदयाल, एव श्रीमती एनीबेसेण्ट, आदि प्रमुख व्यक्तियो के सहयोग ने इस नवोदित दल को देश की राजनीति का एकमात्र मान्यता-प्राप्त अखाडा बना दिया। गोखले और तिलक, दो व्यक्तित्व थे दो विचारधाराओ के प्रतिनिधि। सन् १९०५ के बगभग के प्रस्ताव ने देश की क्रान्तिकारी चेतना को एक चैलेञ्ज दिया। सशस्त्र क्रान्ति के प्रसुप्त आन्दोलन ने तीव्रता पकडी। उधर अमेरिका व कनाडा मे स्थित भारतीयो ने स्वतन्त्रता का मूल्य पहचाना, और वहाँ 'गदर-पार्टी' एवं अन्य सहायता-दलो की स्थापना हुई। अन्दर और बाहर भडकने वाली यह आग आजीवन शान्ति-प्रेमी गाधी जी के आगमन के बाद भी शान्त न हुई; और सन् १९३४ ई० तक चलती ही रही।

सन् ३५ से पहले--सन् १९१५ ई० मे गाधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे। दक्षिण अफ्रीका मे उन्होने 'सत्याग्रह' के नये अस्त्र का सफल प्रयोग किया था। शान्ति, प्रेम और सत्य को राजनीति का अग बनाने की तीव्र लालसा वाले इस व्यक्तित्व ने भारतीय राजनीति की दिशा ही अगले वर्षो मे मोड़कर रख दी। सन् १९१६ ई० मे 'मुस्लिम-लीग' की स्थापना हुई, और उसी वर्ष लखनऊ मे हिन्दू-मुस्लिम समझौता हुवा। सन् १९१७ ई० मे चम्पारन (विहार) मे प्रथम सत्याग्रह हुवा, जिसमे विजय भी रही। सन् १९१८ ई० मे प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुवा, किन्तु भारत को प्रतिज्ञा के अनुसार स्वतन्त्रता न मिली। साइमन कमीशन आया, अत्याचार हुवे, और 'रॉलैट-एक्ट' की साया मे जलियाँवाला वाग का खूनी काण्ड हुवा। और फिर, सन् १९२० ई० से सत्याग्रहो का जो ताँता शुरू हुवा, वह छुट-पुट व्यवधान के साथ सन् १९४२ ई० तक चलता ही रहा। पर इसका प्रथम सफल परिणाम सन् १९३५ ई० के 'सघीय-विधान' के रूप मे सामने आया। काग्रेस का एक दल इससे पहले भी प्रान्तीय व केन्द्रीय विधान सभाओ के चुनावो मे भाग ले चुका था। परन्तु सन् १९३६-३७ ई० के चुनावो मे काग्रेस ने खुल्लम-खुल्ला इन चुनावो मे भाग लिया और आधे से अधिक प्रान्तो मे अपनी सरकारे वनाईं। अत सन् १९३५ ई० तक के युग को राजनीति की दृष्टि से 'जागरण-युग' कहा जा सकता।

सामाजिक

इस युग की सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन व्यक्तित्व लोकमान्य तिलक, महात्मा गाधी, व स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुशीराम) के रूप मे गिनाये जा सकते हैं। तिलक भी धर्म व राजनीति को अभिन्न मानकर चले गये थे, और ऐसा ही माना था शेष दोनो ने भी! फिर भी तिलक सांस्कृतिक दृष्टि से, गांधी राजनैतिक-सामाजिक दृष्टि से, तथा स्वामी श्रद्धानन्द शिक्षा की दृष्टि से क्रांतिकारी कहे जा सकते है। तिलक ने भारतीय सस्कृति की पुन व्याख्या की और, उनके 'कर्मयोग' के सन्देश को सुनकर अनेको ने मातृभूमि की वलिवेदी पर अपने को निछावर कर दिया। गांधी जी ने अछूतो, दलितो, व धर्मान्तरितो को एक ही विशाल भारतीय-समाज का अग मानने की प्रेरणा दी। परन्तु इनसे भी पूर्व, सन् १८९८ ई० मे ही, स्वामी दयानन्द के स्वप्नो को साकार रूप देने वाले महात्मा मुशीराम (वाद मे, स्वामी श्रद्धानन्द) ने पहले जालन्धर मे और वाद मे हरिद्वार के समीप,

'काँगडी' ग्राम मे, प्राचीनता और आधुनिकता के मध्य सांस्कृतिक-परीक्षण-स्थली 'गुरुकुल' की स्थापना की। स्त्रियो का भी 'गुरुकुल' स्थापित हुवा। हिन्दी, राष्ट्रीयता, संस्कृति, एव स्वदेशी-प्रियता के प्रचार एव प्रसार के कितने हीं यत्न हुवे हो, किन्तु अकेले इस परीक्षण ने जितनी सफलता प्राप्त की, और जितनी आत्म-विश्वासमय चेतना जगाई, उतनी किसी अन्य ने नही। आधुनिकतम विषयो की उच्चतम शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम से दी गई। हिन्दी की पाठ्य पुस्तके तैयार हुई। संस्कृत, हिन्दी, व अंग्रेजी की समानान्तर शिक्षा दी गई। स्वदेश, स्वधर्म, स्वभापा, व स्वजाति का इतना स्वाभिमानपूर्ण शिक्षण, सादगी-पूर्ण व नियन्त्रित जीवन, उस काल के लिये अश्रुतपूर्व ही था। अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, एव काशी हिन्दू विश्वविद्यालय इस के बाद ही बने। स्वातन्त्र्य-सग्राम के दिनो मे 'काशी विद्यापीठ', 'प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन', 'नेशनल कॉलेज', जामिया मिल्लिया, आदि अन्य जितनी भी संस्थाये बनी, उनमे से सभी अपने आदर्शो मे पूरी न उतर सकी। महात्मा गाँधी ने 'साबरमती आश्रम' की स्थापना से पूर्व इसी गुरुकुल कॉगडी मे कुछ दिन निवास करके यहाँ की पद्धति का अध्ययन किया था।

इसके साथ ही तिलक, गांधी, व श्रद्धानन्द ने राजनीति मे भी अपूर्व उच्च स्थिति प्राप्त की। तिलक अग्रेजी-दमन के शिकार हुवे और स्वामी श्रद्धानन्द अग्रेजो की विभेद-नीति के शिकार हुवे। महात्मा गाँधी ही भारत के भाग्य का पथ-प्रदर्शन करने को शेप रह गये।

साहित्यिक

इस प्रकार के वातावरण मे देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, स्वदेशी, स्व-सस्कृति, आदि विविध स्वरो की,प्रधानता होना स्वाभाविक ही था। पिछले कवियो के विविध-स्वरो मे अतीत गौरव की जो प्रधानता थी, उसका स्थान वर्तमान के प्रति नव-जागरण ने ले लिया। इसका एकमात्र करण था, कि राजनैतिक दृष्टि से कोई निश्चित युगादर्श पिछले युगो मे कायम नही हुवा था। किन्तु इस युग मे युगादर्श ही कायम नही हुवे, अपितु उन्हे पूर्ण करने वाले व्यक्तित्त्व भी सामने आये। 'भारत-भारती मे एक ओर अतीत-गौरव की पुकार है, तो दूसरी ओर वर्तमान के प्रति सजगता भी पूरी तरह विद्यमान है। परन्तु वही हमे वर्त्तमान से मुक्ति, एवं भविष्य के प्रति आशावाद भी स्पष्ट स्वर मे सुनाई देता है। यह दशा प्राय. सन् १९१४ ई० तक के साहित्य मे है। उसके

वाद सांस्कृतिक नवचेतना के साथ-साथ वर्त्तमान की सजगता और भी बढती जाती है।

नई दृष्टि

साहित्य-चेतना मे 'नवीन दृष्टि' का उदय भारतेन्दु के साथ ही आरम्भ हो गया था। आदर्श के प्रति लगाव व वर्त्तमान से असंतुष्टि ये दो लक्षण रहे हैं उस सम्पूर्ण साहित्य के! यह स्थिति सन् १९३५ ई० से ही पलटती है, जबकि यथार्थ के प्रति आग्रह इतना बढ जाता है, कि उसमे साहित्य की अपेक्षा राजनीति का स्वर अधिक छाता हुवा दीखता है। निश्चय ही यह नवीन स्वर भारतेन्दु, गुप्त, प्रसाद, निराला, व महादेवी के यथार्थमिश्रित स्वर से भिन्न है। सस्कृति के गौरव की अध्यात्म-मिश्रित भावना इस परवर्त्ती स्वर मे से कतई लोप हो जाती है। "सच्चा 'प्रगतिवाद' क्या है? तथा इस प्रगतिवादी साहित्य में से स्थायी साहित्य का अंश कौनसा है?"—इन प्रश्नो का उत्तर भिन्न हो सकता है। किन्तु, 'प्रगतिवाद' के नाम से जिस भावना को समझा जाता है, उसमे राजनैतिक भावना अधिक घुली-मिली है।

एक युग

इसलिये सन् १९३५ ई० से पहले के साहित्य को आदर्श एवं यथार्थ, अतीत गौरव, एव वर्तमान के प्रति असन्तुष्टि, तथा आशावाद एवं विद्रोह के परस्पर विरोधी दीखने वाले स्वरो की सगम-स्थली कहा जा सकता है। भाषा-लक्षणों या भावनात्मक-विद्रोह की मात्रा के आधार पर हम सन् १९१७ ई० के बाद के काल को भले ही अधिक सतर्क पाले, किन्तु उससे पहले के युग मे भी इस प्रकार के लक्षण स्पष्ट है। श्रीधर पाठक की कविताओ का शैली-चमत्कार, 'गुप्त' तथा 'हरिऔध' की कविताओ मे भाव-विद्रोह आदि, एकदम उपेक्षणीय तत्त्व नही है। फिर, गद्य मे शैली और भावना का यह परवर्त्ती विद्रोह सन् १९०८ ई० से ही स्पष्ट रूप ग्रहण कर चुकता है। बगमहिला की हिन्दी-कहानी या प्रेमचन्द की उर्दू-कहानी को अलग-अलग स्तरो पर पढने का प्रयास भ्रामक है। इसके तीन वर्ष के अन्दर ही जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' कहानी ने भी शैली और भावना का विद्रोह पूरा किया। निबन्धो मे यह बात पहले ही स्पष्ट हो रही थी। प्रसाद की आरम्भिक कविताओ के बाद उनके आरम्भिक नाटको ने भी 'नई-दृष्टि' की स्पष्ट सूचना सन् १९१० ई० तक दे दी थी।

दो चरण

पद्य-क्षेत्र मे भी जिस 'छायावादी' शैली की बात हम करते है, बंगला के साहित्य मे वह इस काल से पहले ही लोकप्रिय हो चुकी थी। रवीन्द्र द्वारा नोबेल-पुरस्कार की प्राप्ति पर्याप्त बाद की बात है। हिन्दी पर वह प्रभाव प्रत्यक्षतः 'निराला' के बाद ही—सन् १९१७ ई० के बाद ही—पड़ा दीखता है। किन्तु, हिन्दी की अपनी विद्रोहमयी अभिव्यक्ति उस से बहुत पूर्व आरम्भ हो चुकी थी। मुकटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण 'गुप्त', 'हरिऔध', व जयशंकर 'प्रसाद' की आरम्भिक अभिव्यक्तियो मे भाषा अथवा भावना की बन्धन-मुक्ति मे मात्रा-भेद हो सकता है, युग की परिस्थितियों के प्रभाव का अन्तर हो सकता है, किन्तु उन्हे सर्वथा भिन्न रूप मे 'दो-युग' नही कहा जा सकता। वे दोनो **एक ही युग के दो चरण** है: एक-दूसरे से अविभाज्य, अविच्छेद्य।

दोनों में अन्तर

फिर भी एक अन्तर है उन दोनो मे। सन् १९१७ ईस्वी से पूर्व तक हमें बाबू श्यामसुन्दर दास व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के दो ऐसे युग-प्रभावक व्यक्तित्व दिखाई देते है, जिन्होने हिन्दी-साहित्य के निर्माताओ मे नव-निर्माण की **साम्प्रदायिक-जोश** जैसी भावना भर दी। 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' और 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की स्थापना ने हिन्दी-प्रचार को धार्मिक प्रचार का सा रूप दे दिया। 'गुरुकुल-कागड़ी' की स्थापना ने इसे राष्ट्रीय-उत्तरदायित्व का रूप दे दिया। इस प्रकार की स्थिति मे भावना का यह विद्रोह हम तक कुछ **फीका** होकर पहुँचता है। उसकी अपेक्षा आदर्शो की विनियोजना प्रमुखता ग्रहण करती दिखाई देती है। द्विवेदी जी के आचार्य सरीखे व्यक्तित्व ने कवियो और लेखको के लिये, **भाषा एवं साहित्यादर्शों** के रूप में, कुछ बन्धन लगा दिये। सन् १९१७ ई० मे 'निराला' की **'जूही की कली'** के प्रकाशन से ये बन्धन टूटते-मिटते से दिखाई देते है। भावनागत एवं भाषा-गत रूप मे पूर्वकाल से अभिन्न रहकर भी कवि के व्यक्तित्त्व का विद्रोह, किसी भी बन्धन के प्रति, हमे यही से आगे मिलता है। केवल 'छायावाद' ही नही, किसी भी 'वाद' या वाद-हीन साहित्य के स्रष्टा में भी, इस काल के बाद, [illegible] स्पष्टतर हो जाता है। इसलिये

सन् १९१७ ई० से पूर्व के काल को प्रथम चरण व वाद के काल को द्वितीय चरण के रूप मे कह कर भी हमने उन्हे एक ही युग के दो भाग माना है ।

प्रथम चरण : विस्तार काल

(सन् १९०० से १९१८ ई० तक)

अभाव की पूर्ति

भारतेन्दु युग की इन उपलब्धियो के वाद भी अनेक कमियाँ रह गई थी, जिन्हे पार करना हिन्दी साहित्य के लिये अनिवार्य था । वगला और मराठी साहित्य वडी तेजी से प्रगति कर रहे थे । पाश्चात्य के प्रभाव को लेकर भी वे उससे होड लेने वाला साहित्य निर्माण कर रहे थे । किन्तु हिन्दी के क्षेत्र मे अव तक खडी-वोली का प्रवेश पद्य मे सम्भव न हुवा था । गद्य की भाषा, यद्यपि भारतेन्दु के समय तक पर्याप्त स्थिरता ग्रहण कर गई थी, फिर भी उसके व्याकरणात्मक विनिश्चय की आवश्यकता शेष थी । समय आ गया था कि नई वोली मे भी अलकार-रस-आदि का विवेचन आरम्भ हो । निवन्ध-परम्परा के विकास का यह परिणाम स्वाभाविक भी था ।

नई गति

गद्य मँज चुका था । विवेचना-शैली मँज चुकी थी । ऐसे समय आलोचना-सिद्धान्तो का सूक्ष्म-विवेचन सम्भव था । आलोचना के सिद्धान्त-विनिर्धारण एव तार्किक-विवेचन के लिये जिस प्रखर गद्य की आवश्यकता होती है, उस की नीव पड चुकी थी । सदियो पूर्व हिन्दी के प्रथम आविर्भाव से आज तक गद्य का यह अभाव ही था, जिसने तथाकथित आचार्यो को **खण्डन, मण्डन और मौलिक स्थापनाओं** के जटिल कार्य मे समर्थ न वनने दिया । इसी आलोचना का दूसरा कार्यक्षेत्र 'नव्य व्याकरण' भी था । अव तक इस प्रकार के व्याकरणो पर श्रम न हुवा था । अग्रेजो ने जव अपने देशवासियो को यह भाषा सिखानी चाही, तव उन्हे हिन्दी मे **संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश** के व्याकरणो के समान सुव्यवस्थित व्याकरण का अभाव ही मिला । उनमे से कुछ विद्वानो ने इस दिशा मे प्रयत्न आरम्भ किया । अग्रेजी व्याकरण के रूप मे उनके पास आधारभूमि तैयार थी ही । सस्कृत-व्याकरण से हिन्दी का कार्य चल न सकता था । इसलिये हिन्दी के आरम्भिक व्याकरणो की रचना अंग्रेजी

व्याकरणो के आधार पर होनी स्वाभाविक थी। इस आवश्यकता को हिन्दी के विद्वान् अधिक सरलता से पूर्ण कर सकते थे। इसके अतिरिक्त कई दिशाये ऐसी थी, जिनमे अब तक विकास नही हुवा था। 'कहानी' की नई शैली मे बंगाल के लेखक तेजी से आगे बढ़ रहे थे। मराठी पत्रकारिता ने भी कहानी के इस नये रूप को प्रोत्साहन दिया। हिन्दी मे इसका अभाव ही रहा। इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता थी। 'जीवनी' की दिशा मे भारतेन्दु ने यत्किंचित् प्रयास किया था। स्वामी दयानन्द के जीवन के भी कुछ पृष्ठ स्व-हस्तलिखित प्राप्त हुवे है। किन्तु, इसे एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे न अपनाया जा सका था। संस्कृत-एकाकियो के अनुकरण पर भारतेन्दु ने कुछ एकांकियों का सृजन अवश्य किया था, किन्तु उन्हे भी स्वतन्त्र रूप मे बढाया न जा सका। इस प्रकार बहुत से क्षेत्रो मे कमी थी। इसके अतिरिक्त स्वय पत्रकारिता के क्षेत्र मे नये आदर्शों के अनुरूप चलने की आवश्यकता थी। मराठी और बंगला पत्रकारिता भारतेन्दु के बाद के वर्षो मे पाठको के लिये, व साहित्यिक प्रगति के लिये अत्यधिक उपयोगी बन चुकी थी। उसके साथ ही शब्दकोष-निर्माण आदि कई छोटी-छोटी बातें थी, जिन पर ध्यान दिया जाना जरुरी था।

प्रेरणा का केन्द्र

इस सब कार्य के लिये जिस बहुदर्शी और विशाल-दृष्टि आचार्य के निर्देशक-व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, वह हिन्दी साहित्य को बाबू श्याम-सुन्दरदास के अतिरिक्त आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के रूप मे मिला। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि भारतेन्दु के प्रायः सभी साथी गद्य और पद्य क्षेत्र मे इस युग मे भी लिखते रहे। किन्तु उनका महत्त्व इतना व्यापक न था। हिन्दी की प्रगति को एक 'आन्दोलन' के रूप मे बढाने की भावना लेकर कुछ मनचले नवयुवक उठे थे। पर निश्चित दिशा व योजना किसी के पास न थी। उसके लिये जिस स्थिर, दृढ, श्रमी, किन्तु शान्त व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, वही थे आचार्य द्विवेदी। इसी से उन्हे महत्त्व मिला। भारतेन्दु के बाद उनका व्यक्तित्व ही सर्वाधिक रोचक व आकर्षक रहा। सन् १९०० ई० से कई वर्ष पूर्व ही उन्होने लिखना आरम्भ कर दिया था। सन् १८९५ ई० के बाद वे एक कठोर समालोचक के रूप मे सामने आ चुके थे। इससे भी पूर्व बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू रामनारायण मिश्र, आदि ने अपनी कालेज को 'मित्र-

मण्डली' को 'नागरी-सभा' का रूप दे दिया था। सन् १८९६ ई० तक यह सभा 'काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा' के नाम से अखिल भारतीय संस्था बन गई थी। इसके आधारस्तभो मे से प्रधान थे—बाबू श्यामसुन्दर दास ! सन् १८९६ ई० मे इन्होने सभा की अपनी पत्रिका प्रकाशित की। साहित्यिक उद्देश्य से इन्होने सन् १९०० ई० मे प्रयाग से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन लीडर प्रेस के मालिक बाबू चिन्तामणि घोष के साथ मिलकर शुरू किया। सम्पादन मे उस समय के हिन्दी के चार अन्य प्रसिद्धतम लेखको का सहयोग पाकर भी ऐसा बडा साहित्यिक महारथी 'सरस्वती' को मनचाहा आदर्श रूप न दे सका। समय का अभाव भी एक कारण था। ऐसी आदर्श पत्रिका के लिये चाहिये था कोई समर्पणशील और आस्थावान् सम्पादक।

सरस्वती के सम्पादक

ऐसे ही समय हिन्दी के सौभाग्य से आत्म-सम्मान के धनी महावीरप्रसाद द्विवेदी सरकारी नौकरी को तिलाञ्जलि देकर 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप मे सन् १९०२ ई० मे उपस्थित हुवे। हिन्दी-जगत मे लेखक के रूप मे वे पहले ही प्रसिद्ध थे। सम्पादक के रूप मे उन्होने जो अपना स्थान बनाया, वह उनके 'आचार्य' नाम से ही सिद्ध है। उन्होने व्यापकतम आधार पर साहित्य का सृजन किया, व उसकी प्रेरणा दी।

प्रगति के स्रोत

किन्तु उनका महत्त्व, उनके साहित्य-निर्माण मे न होकर, उनके प्रेरक-व्यक्तित्त्व मे है। **अकेले इस एक व्यक्ति ने आलोचना, निबन्ध, कविता, पत्रकारिता, भाषा एवं व्याकरण आदि विभिन्न क्षेत्रो में, स्वयं लिखकर तथा प्रेरणा देकर, आदर्श स्थापना के लिये अथक यत्न किया।** उपन्यास, कहानी और नाटक की तत्कालीन प्रगति से भी उन्हे सन्तोष न था। स्वयं के कृतित्व पर भरोसा रखकर भी अन्य लेखको के निर्माण मे जितना श्रम इस महान् व्यक्तित्त्व ने किया, उसकी तुलना पाठशाला की किसी कक्षा के अध्यवसायी गुरु से ही की जा सकती है। लिपिगत, भाषागत, शास्त्रीय, एव विषयगत त्रुटियों को खोज-खोजकर लेखो से दूर करना, और कई बार सारे के सारे लेख को स्वय दुबारा लिखकर उसी लेखक के नाम से प्रकाशित करना, इसी व्यक्ति का कार्य था। 'प्रसाद' सरीखे कुछ एक व्यक्तित्त्वो को छोडकर, उस

युग का एक भी महान् लेखक ऐसा नही, जिसे इस 'आचार्य' से शिक्षण न मिला हो। मुंशी प्रेमचन्द, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, बाबू लक्ष्मणनारायण 'गर्दे', आदि विभिन्न क्षेत्रो के ऐसे ही व्यक्तित्व है, जिन्होने साभार द्विवेदी जी को अपना गुरु स्वीकार किया है। इस प्रतिभा को खोजने वाले डा० श्यामसुन्दर दास स्वयं उन्हें अपना 'गुरु' स्वीकार करते थे। इस प्रथम चरण पर यह व्यक्तित्व चारो ओर से छाया हुवा है।

व्यापक प्रगति

इस चरण की क्रमबद्ध प्रगति सभी दिशाओ मे हुई। साधारणतः समाज सुधार का वह जोश तो कुछ कम पड गया था, किन्तु राष्ट्रीयता व देशप्रेम की भावना क्रमशः बढती जा रही थी। पुरातन संस्कृति एवं इतिहास के प्रति भी जोश बढ़ता जा रहा था। कांग्रेस मे 'गरम दल' की स्थापना, सन् १९०५ से १९११ तक का 'बंगभंग-आन्दोलन', एवं बंगाल से 'क्रान्तिकारी-आन्दोलन' का देश भर मे फैल जाना, आदि इस समय की कुछ वे महत्त्वपूर्ण घटनाये है, जिन्होने साहित्य की दिशा पर निश्चित प्रभाव डाला।

बदली परिस्थिति

प्रथम विश्वयुद्ध ने भारतीय चेतना का पश्चिम से अधिकाधिक सम्पर्क बढाया। अनेको भारतीयो को पश्चिम की नानाविध प्रगति, उसकी नाना संस्कृतियो, एव उसके नाना दृष्टिकोणो का परिचय मिला। महात्मा गांधी भी, अपनी सम्पूर्ण साधना को लेकर, इसी समय अफ्रीका से भारत पहुँचे। उन्होने पश्चिम को भली-भाँति देखा-परखा था और भारत की आत्मा को भी वे पहचानते थे। राजनीति और धर्म को एक करने का नारा उन्होने लगाया। धर्मप्राण भारतीय जनता के वे एकमात्र आशा-बिन्दु बन गये। उनके भारत आगमन का अर्थ था: 'काग्रेस' मे से 'गरमदल' की प्रत्यक्षत. समाप्ति। देश की शोषित जनता व दीनहीन वर्ग की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट हुवा। इस समय का साहित्य इसी पृष्ठभूमि पर बढा है।

एक कटु सत्य

पर एक बात अवधेय है। वह यह कि महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे सतर्क व्यक्तित्व वाले आचार्य के दबदबे मे आकर प्राय लेखको की भावोद्रिक्तता समाप्त-सी हो गई थी। उसे भाषा, काव्य-मर्यादा, या इसी प्रकार के

कुछ अन्य उत्तरदायित्वो एवं आदर्शों के निर्वाह मे फँस जाना पड़ा। परिणामतः भारतेन्दु और उनके साथियों की-सी सप्राणता इस युग के साहित्य मे नष्ट हो गई। जो कुछ स्वतन्त्रचेता लेखक उठे भी, उन्हे पत्रकारिता के युग-व्याप्त आदर्शों ने सम्मुख न आने दिया। कोई विद्रोही कलाकार ही कभी-कभी अपने बल पर सामने आने का साहस कर सका। इस पर भी इस युग का कृतित्त्व बहुमुखी और विशाल है।

कविता के क्षेत्र में

खड़ी-बोली : सबल माध्यम

कविता के क्षेत्र मे इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि थी : 'खड़ी-बोली' की सबल माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठा। अब तक कविता मे इसका प्रयोग अत्यल्प हुवा था। प्रवाहमय कविता के लिये इसमे कौन से छन्दों का प्रयोग किया जाय ? तथा शब्दावली की शुद्धता को कहाँ तक सुरक्षित रखा जाय ? ये थे दो प्रश्न, जिनका समाधान आवश्यक था। द्विवेदी जी ने सस्कृत के वार्णिक छन्दो का पक्ष लिया। कुछ आरम्भिक काव्यो मे ये वार्णिक छन्द अत्यन्त लोक-प्रिय सिद्ध हुवे। द्विवेदी जी द्वारा 'कुमार सम्भव' का अनुवाद, अयोध्या-सिंह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' नामक कृष्ण-राधा सम्बन्धी काव्य, एवं मैथिली-शरण गुप्त का राष्ट्र-गौरव से भरा 'भारत-भारती' काव्य, आदि ये सभी इस नयी चाल की कविता मे लिखे गये। नाथूराम 'शकर' शर्मा जैसे प्रसिद्ध मुक्तक-कवियो ने भी इसी छन्द-शैली को अपनाया। खड़ी-बोली इस शैली मे शीघ्र ही मँज गई। वार्णिक छन्दो ने शब्द राशि के लिये स्वय ही सस्कृत का आधार विनिश्चित कर दिया। यद्यपि द्विवेदी जी का आग्रह यही रहा कि भाषा की शुद्धता पर ध्यान देते हुवे भी, उसे जन-साधारण की पहुँच के योग्य ही होना चाहिये।

महाकाव्य

पद्य क्षेत्र मे दूसरी बड़ी उपलब्धि यह थी कि खड़ी-बोली ने अपने प्रवेश काल मे ही कुछ महाकाव्यो को जन्म दिया। ये महाकाव्य विषय की दृष्टि से सर्वथा नये आदर्शों एव नयी प्रेरणाओ से अनुप्रेरित थे। केवल कवित्त्व-प्रदर्शन या आरम्भिक अभ्यास के लिये इनका सृजन नही हुवा था। राष्ट्रप्रेम, समाज-सेवा, इतिहास का समीक्षात्मक दर्शन, तथा सास्कृतिक पुनर्जागरण की भावना,

आदि कुछ वे बाते थी, जिन्होने इस युग की कविता को, बाह्यरूप मे 'आरम्भिक' होते हुवे भी, प्राणतत्त्व से जीवन्त कर दिया। बाहरी ढाँचा भी इतना निराशा-जनक नही है। 'प्रिय-प्रवास' की सस्कृत के अनुकरण पर चलने वाली अतुकान्त-शैली जन-मन को एकदम ग्राह्य न हो सकी। उधर 'भारत-भारती' तथा नाथूराम 'शंकर' शर्मा आदि की कविताओ ने हिन्दी-भाषी प्रदेश के घर-घर मे और बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर स्थान पाया। 'भारत-भारती' अपने ढग का अनूठा ही महाकाव्य है। इसे हम 'जातीय-महाकाव्य' कह सकते है। 'प्रिय-प्रवास' को उतनी लोकप्रियता न प्राप्त हो सकी। बाद में मैथिलीशरण गुप्त की अनेको कृतियाँ इसी सरणि पर प्रकाशित हुई। धीरे-धीरे ये मात्रिक छन्दो के प्रयोग पर भी बढते गये। कुछ प्रयोग उन्होने छन्दो-मुक्ति के भी किये। प्रबन्ध-काव्य भी मुक्तछन्द मे लिखे। उपाध्याय जी का 'वैदेही-वनवास' अधिक आकर्षक सिद्ध हुवा। गोपालसिह, रामनरेश त्रिपाठी, गुरुभक्तसिह, आदि अनेक कवि भी इस समय मे रचना मे प्रवृत्त हुवे और उन्होने प्रबन्ध और मुक्तक काव्यो द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्धि प्रदान की। यह सब कुछ एक 'धार्मिक-आन्दोलन' के से जोश के साथ सम्पन्न हुवा। इसी समय ब्रजभाषा काव्य के भी कुछ उत्तम कवि हुवे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धव-शतक' इस दिशा में अमिट निशानी रहेगी।

मुक्तक

मुक्तक कविता मे भी खडी-बोली का महत्त्व बढता गया। श्रीधर पाठक, अयोध्यासिह उपाध्याय, वियोगी हरि, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, आदि अनेको कवियो ने 'मुक्तक-काव्य' को इसी बोली मे समृद्धि प्रदान की। मुक्तक के विषयो मे भी नवरुचि का परिचय मिला।

गद्य के क्षेत्र में

उपन्यास

गद्य के क्षेत्र मे भी इस समय बहुमुखी प्रगति हुई। 'नाटक' के क्षेत्र मे पहले ही पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। 'उपन्यास' के क्षेत्र पूर्वापेक्षा नवीन गोपाल राम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, एव देवकीनन्दन खत्री, आदि ने पर्याप्त प्रसिद्धि पाई। श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, एव ठाकुर जगमोहनसिह के उपदेश-प्रधान

और भावात्मक उपन्यासो के सम्मुख इन लेखको के जासूसी और तिलस्मी साहसपूर्ण उपन्यास अधिक लोकप्रिय हुये । परिणामतः इनकी लेखनी ने अनेक [illegible] कृतियाँ इस युग मे साहित्य को दी । इनका एकमात्र कारण था इनका मनोरंजक रूप । वैसे इनकी भाषा शिथिल थी, कल्पना अतिरंजित, शिल्प [illegible] यथार्थ और आदर्श से बहुत दूर । फिर भी ये लोकप्रिय थे, क्योंकि साहित्य मे कोई सशक्त वस्तु न थी । इनमे सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली देवकीनन्दन खत्री को । उनके उपन्यासो ने अनेक अ-हिन्दी-भाषियो को भी हिन्दी पढ़ने के लिये विवश किया । उनकी शैली रोचक थी ।

नई दृष्टि : कुछ देर से

द्विवेदी जी के विरोध के बाद भी यह परम्परा बल और सम्मान पाती रही । द्विवेदी जी इस परम्परा के विरोधी थे, किन्तु इसे रोकने मे असमर्थ भी थे । कथा-लेखन मे न वे स्वय सिद्धहस्त थे, न उनके पास समय था । कालिदास के नाटको एव काव्यो की कथाये लिखकर, उन्होंने लेखकों का ध्यान इन उपेक्षित पहलुओ की ओर खीचना चाहा। कविता मे उनके निर्देशन पर बहुत से कवियो ने नये-नये विषयो का चुनाव किया, किन्तु उपन्यास के विषय मे ऐसा न हो सका । सन् १९१६ ई० मे प्रथम बार उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मुन्शी प्रेमचन्द का प्रथम हिन्दी उपन्यास "सेवासदन" प्रकाशित हुवा । इससे पूर्व वे उर्दू मे कुछ उपन्यास लिख चुके थे । इसके बाद तो हिन्दी उपन्यासो की इस नई प्रवृत्ति की शृखला अनवरत रूप मे चल पड़ी । कथातत्त्व को ठोस-जीवन भूमि पर लाकर उसे सजीव प्राणियो की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बना देने का श्रेय हिन्दी मे प्रेमचन्द को ही है । बगला व मराठी मे ऐसी प्रवृत्ति का आगमन कुछ पूर्व ही हो चुका था । हिन्दी मे इस परम्परा की समृद्धि अगले चरण मे ही सम्भव हुई ।

कहानी

कहानी के क्षेत्र मे भी यह युग प्रगति-द्वार का उद्घाटन करने वाला सिद्ध हुवा । आरम्भ मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की वर्णनात्मक कहानियाँ सामने आईं । सन् १९०८ ई० मे प्रथम बार श्रीमती बगमहिला की 'दुलाई वाली' कहानी सरस्वती मे छपी । सन् १९११ ई० मे जयशकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' कहानी प्रकाशित हुई । उर्दू मे सौ से भी अधिक कहानियाँ लिखने के बाद

मुन्शी प्रेमचन्द ने सन् १६१५ ई० मे हिन्दी मे प्रवेश किया। उनकी सर्वप्रथम हिन्दी कहानी 'पच परमेश्वर' सरस्वती मे ही छपी। द्विवेदी जी ने उसकी भाषा के अतिरिक्त उसके शीर्षक तक मे परिवर्तन कर डाला। मुन्शी प्रेमचन्द मे इससे निराशा न जगकर, अपने पर विश्वास ही बढा। उसी समय पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की इतिहास-प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। यही वह कहानी है, जिसने टेकनीक की कमियो के रहते भी, हिन्दी-कहानी को महान् गौरव दिया है। इसके बाद तो कहानियों ने यह नया परिवर्त्तन-पथ जमकर पकडा। अनेकों उर्दू लेखक (सुदर्शन, कौशिक, आदि) भी हिन्दी क्षेत्र मे उतरे। प्रेमचन्द, सुदर्शन, आदि की समाज-सुधार सम्बन्धी मूल-भावना का कारण था 'आर्य-समाज' का प्रभाव। उन्होने साहित्य मे उस सुधार-भावना को लाकर साहित्य को जन-जीवन की वस्तु बना दिया। इस युग के आगामी चरण मे इस क्षेत्र मे और भी प्रगति हुई।

निबन्ध

निबन्ध का सुधरा रूप भी इसी चरण मे सामने आया। उसमे साहित्य और जीवन की विवेचना पहले भी हो रही थी, किन्तु उसे ज्ञान, तर्क, और भावना से समृद्ध करके आचार्य शुक्ल, पद्मसिह 'शर्मा' एवं 'द्विवेदी' जी जैसे व्यक्तियो ने अत्यन्त सम्पुष्ट कर दिया। भावनात्मक निबन्धो मे पूर्णसिंह, व वर्णनात्मक निबन्धो मे डा० श्यामसुन्दरदास जैसे सबल व्यक्तित्व भी सामने आये। निबन्ध के प्रौढ लेखको की सख्या अन्य किसी भी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक ही रही। पूर्व युग के बालकृष्ण भट्ट, बालमुकन्द गुप्त, माधवप्रसाद 'मिश्र', प्रतापनारायण 'मिश्र', आदि सभी लेखक इस युग मे भी अपनी सशक्त लेखनी से इस युग के साहित्य को समृद्ध करते रहे। व्यग्य, विचार, व नवीन दृष्टि-कोण के लिहाज से उनके निबन्धो का महत्त्व कम नही है।

आलोचना

निबन्ध की शैली के निखार ने **आलोचना** का पथ प्रशस्त कर दिया। द्विवेदी ने व्यावहारिक व सैद्धान्तिक पक्ष मे आलोचनात्मक निबन्ध लिखने आरम्भ कर ही दिये थे। **कवि, काव्य और जीवन** को लेकर चलने वाली इस विवेचना मे बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिह 'शर्मा', 'मिश्रबन्धु', आदि ने समय-समय पर साथ दिया। यह आलोचना का नया ढग था, जिसमे पाश्चात्य-पद्धति पर किसी एक विषय को लेकर उसकी विवेचना

की जाती थी। दूसरी ओर कन्हैयालाल पोद्दार आदि का वह वर्ग था, जिसने शास्त्रीय समीक्षा की पुरानी प्रणाली के आधार पर रस, अलंकार, आदि का विवेचन किया। उनकी विवेचना मे सस्कृत-पद्धति का अनुकरण अधिक था, जिसमे लेखक प्राय. दूसरो के उदाहरणो की विवेचना के लिये स्वतन्त्र रहता था। रीतिकालीन कवि की विवेचना-पद्धति के कुप्रभाव से इस समय का आलोचक इसीलिये बचा रहा, कि उसमे अपने बनाये उदाहरण देने की यश.-कामना न थी। पाश्चात्य सिद्धान्तो के अधिकाधिक परिज्ञान एवं तुलनात्मक अध्ययन ने धीरे-धीरे आगामी चरण मे इस पद्धति मे परिष्कार ला दिया।

नाटक

नाटको के क्षेत्र मे मौलिक-सृजन नगण्य-सा ही रहा। लाला श्री निवास दास का 'सयोगिता-स्वयम्वर' या कुछ अन्य नाटक लिखे गये। वगला एवं सस्कृत-नाटको के रूपान्तर अवश्य हुवे। जो मौलिक नाटक लिखे भी गये, उनमे भी कुछ आकर्षण विशेष न था। द्विजेन्द्रलाल राय के वगला नाटको के रूपान्तर ने प्रेरणा का कार्य अवश्य किया। एकांकी की विनियोजना हिन्दी मे अभी तक पाश्चात्य के अनुकरण पर न चली थी। 'प्रसाद' ने इस क्षेत्र मे मौलिक दृष्टि के साथ प्रवेश किया।

जीवनी

जीवनी के क्षेत्र मे कुछ प्रयोग अवश्य हुवे। स्वामी श्रद्धानन्द का "कल्याणमार्ग का पथिक" आत्मकथा विषयक प्रयत्नों मे प्रसिद्ध है। कुछ अन्य आत्मकथाओ के अनुवाद भी हुवे। किन्तु इस दिशा मे प्रमुख श्रेय मिश्र-वन्धुओ के 'हिन्दी-नवरत्न' को दिया जा सकता है, जिसमे उत्कृष्ट जीवनी के तत्त्व भी विद्यमान है, तथा तुलनात्मक आलोचना के बीज भी! कुछ साहित्य-कारो की आत्मकथाये, एव रोचक-सस्मरण, आदि भी इसी समय सामने आने आरम्भ हुवे।

साहित्य का इतिहास

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने के यत्न पिछले युग मे ही शिवसिह 'सेंगर' से ही आरम्भ हो चुके थे। फ्रेञ्च विद्वान् गार्सा द तासी ने इस प्रयत्न को आगे बढ़ाया था। मिश्रवन्धुओ के अथक श्रम ने इस प्रयत्न को व्यापकतर आधार प्रदान किया। लगभग पाँच हजार हिन्दी-कवियो और

उनकी कृतियों से, 'मिश्रबन्धु-विनोद' द्वारा, हिन्दी-जगत् को परिचय मिला। उन्होंने काल-विभाग आदि का भी प्रयत्न किया। किन्तु उन तक के सभी प्रयत्न 'आरम्भिक-प्रयोग' मात्र ही कहे जा सकते है। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की स्थायी नीव तो इस युग के आगामी चरण मे ही पड़ी।

पत्रकारिता

पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वयं द्विवेदी जी ने कुछ आदर्शों को प्रस्तुत किया। उनके समय की माधुरी, चाँद, आदि पत्रिकाओ ने भी धीरे-धीरे उनके आदर्श को अपनाया। 'सरस्वती' के अनुकरण पर वाद मे 'विशाल-भारत' का उच्च स्तर पर प्रकाशन हुवा। 'माधुरी' ने भी बाद मे उच्च स्तर अपना लिया। हिन्दी पत्रिकाओ के क्षेत्र मे 'सरस्वती' पहली पत्रिका थी, जिसने कभी प्रकाशन बन्द करने का भय अनुभव नही किया। 'विशाल-भारत' भी इसी दृढ़ता का प्रतीक था। द्विवेदी जी के त्यागभाव, उनके अथक श्रम, एव उनकी आचार्य वृत्ति ने 'सरस्वती' को सचमुच 'सरस्वती का मन्दिर' बना दिया, जिसमे लेखको की विधिवत् दीक्षा होती थी। जिस लेखक पर भी द्विवेदी जी का वरद हस्त उठ गया, वही युग मे आगे बढ चला।

शब्दकोष, व्याकरण

शब्दकोष रचना के क्षेत्र में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रयत्न स्तुत्य हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसके लिये ही प्रथम विशाल शब्दकोष — "हिन्दी शब्द सागर"—का निर्माण किया था। **व्याकरण के क्षेत्र में** कामता-प्रसाद 'गुरु' के प्रथम व्याकरण को द्विवेदी जी के कारण ही प्रोत्साहन मिला था। वे अपने समय मे बनने वाले अन्य अनधिकृत हिन्दी व्याकरणो से अत्यन्त दु खित थे।

भाषा

भाषा के विषय में उन्होने स्वयं भी क्रमिक सुधार ही प्राप्त किया था। वे चाहते थे कि भाषा का आदर्श-रूप प्राय एक-सा हो। उनकी यह व्यवस्था-प्रियता उन्हे अंग्रेजी के साथ आजीविका-सम्बन्धी सम्पर्क से प्राप्त हुई थी। उन के व्यक्तित्व की छाप ने यही व्यवस्था चारो ओर हिन्दी क्षेत्र मे देखनी चाही। भाषा की सुरुचि और 'व्याकरण' इसी व्यवस्था के प्रतीक थे।

द्विवेदी जी ने सन् १६१८ ई० में 'सरस्वती' का सम्पादकत्व छोडा, किन्तु सन् १९१७ ई० से ही साहित्य में किसी भी बन्धन के प्रति विद्रोह के लक्षण बद्धमूल होकर प्रगट होने लगे थे। इसलिये हमने इस प्रथम चरण की सीमा उस काल (सन् १९१७ ई०) तक ही स्वीकार की है।

द्वितीय चरण : विद्रोह (बन्धन-मुक्ति) काल
(सन् १९१७ ई० से १९३५ ई० तक)

नये लक्षण

'विस्तार काल' की समाप्ति के पूर्व ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एव कवि मर्यादा की स्वतन्त्रता के लक्षण हिन्दी साहित्य मे प्रगट होने लगे थे। नव-शिक्षा मे शिक्षित—और भारतीय सस्कृति मे दीक्षित— होकर भी कुछ कवि अपने सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व को दवा न सके। वगला, उर्दू, अग्रेजी, व सस्कृत का ज्ञान लेकर भी ये कवि अपने निर्देशन के लिये किसी रूढि का अनुकरण आवश्यक न मानते थे। इन्हे अपने चरणो पर अमित विश्वास था। अपने कृतित्व का गौरव-बोध भी इन मे था। इसे **अभिमान** कहना भ्रम होगा। यह कवि का स्वाभिमान था, जो उनकी स्वाधीन चेतना का स्वाभाविक अंग था। वे युवक थे : राष्ट्र की वदलती स्थितियो के प्रति जागरूकता व क्रान्ति-चेतना की विवशता भी उनमे थी, और विद्रोह को जगा देने की भावना भी। पर साहित्य कार का मन सव कुछ कहने के लिये राजनीतिज्ञ की भाँति स्पष्टवादी तो नही हो सकता। उसे अपने देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो ने ही प्रभावित नही किया था। वल्कि उसके चिन्तनशील मन ने व्यक्ति और समाज के परस्पराश्रित सम्बन्धो पर भी विचार किया था। वह तो उससे भी वढकर अपने परिचित ससार मे मानवता के पतन और उसके पुनरुत्थान के लिये चिन्तित हो चुका था। प्रथम महायुद्ध ने व्यक्ति के ज्ञान की सीमा मे सारे ससार को एक कर दिया था। 'अन्तर्राष्ट्रीय-संघ' की स्थापना ने समस्त विश्व की एकता का स्वप्न साकार किया था। जर्मनी की पराजय एवं उसके वाद की साम्राज्यवादियो की लूट ने तथाकथित सभ्यो की सभ्यता के रहस्य को अनावृत किया था। सोवियत-क्रान्ति ने विश्व भर की जनता के उत्पीडन का अनावरण कर दिया था। इस सव के सम्मुख भारतीय समाज के शोषक-शोषित, उच्चवर्ग-निम्नवर्ग, आदि के प्रश्न विश्वभर की एकता की इस व्यापकतर पृष्ठभूमि पर समझे जाने आवश्यक थे।

अन्तर्दृष्टि

लेखकों ने इस संकीर्ण मानवता से परे प्रकृति के मुक्त स्वर्ग को भी देखा। वहाँ उन्हें अधिक उन्मुक्तता दिखाई दी। मानवता की वास्तविक-दृष्टि को पाने की खोज में वह कवि इस प्रकृति और उसके माध्यम से अध्यात्म के भी दायरे में पहुँचा। निश्चय ही उसका अध्यात्म दार्शनिक आधार का न था। उसका दर्शन धार्मिक या शास्त्रीय तर्क से बोझिल न था और, उनका प्रकृति-दर्शन पहले के निरे प्रकृति-चित्रण से कतई भिन्न था। उनमे हर क्षेत्र मे एक प्यास जगी' एक खोज मे वे विह्वल थे। उनका सचेत मन हर दिशा मे अपने-प्रश्नो का उत्तर पाने के लिये व्यथित था।

सर्वतोमुखी विद्रोह

व्यक्ति और समाज के इस सम्बन्ध-विवेचन मे वह सब कुछ भी आना आवश्यक था, जिसे हम आचार-मर्यादा कहते है। प्रेम इस प्रकार की एक प्रधान भावना है, जिसके स्वतन्त्ररूप को मानव आपत्तिजनक समझता है, और उसे सामाजिक मर्यादाओ मे जकडने का यत्न करता है। किन्तु, इस पर भी वह स्वय व्यक्तिगत जीवन मे अवसर मिलते ही चोरी-चुपके उस पथ पर अग्रसर हो जाता है। विद्रोही-चेतना के कवि को यह कब सह्य हो सकता था ? प्रेम या किसी अन्य भाव के विषय मे, हृदय की उद्रिक्त अवस्था मे आकर, समाज के बन्धनो को वह स्वीकार नही कर सकता था। राजनैतिक अत्याचार जनता का आर्थिक शोषण करता है। किन्तु, सामाजिक अत्याचार अथवा सामाजिक बन्धन मानव की मानवता का दमन करता है। कवि का यह विद्रोह हर दिशा मे फूटा और कवि ने हर दिशा मे एक नवीनता को खोजना चाहा।

नये आदर्श

महात्मा गाँधी ने जिस नवचेतना को लेकर भारत मे प्रवेश किया, उसमे राष्ट्रीयता की सकुचित भावना न थी। राष्ट्र और विश्व का भेद भुलाकर गाँधी ने मानवता को आधार बनाया था। भारत की स्वतन्त्रता को वे विश्व भर की स्वतन्त्रता का अभिन्न और अनिवार्य अग मानते थे। उधर बगाल के शरत् बाबू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मानवतावादी दृष्टिकोण परस्पर भिन्न होकर भी, इसी दिशा का संकेत कर रहा था। प्रेमचन्द ने भी जिस समृद्ध

दृष्टिकोण को लेकर हिन्दी साहित्य मे पदार्पण किया उसमे भी मानवता-वादी दृष्टिकोण की ओर प्रगति का आभास था। जिस [illegible] की थी, उसे क्रान्तिकारियो के अपूर्व बलिदान तथा महात्मा गांधी के 'सत्याग्रह' की भावना ने पूर्ण किया।

'पलायनवादी' भावना नही

प्रकृति और जगत् की जटिलता से पलायनवाद का [illegible] किसी एकाध अन्ध-अनुगामी मे ही पाया जाता है। अन्यथा भारतीय [illegible] मे विकसित पृष्ठभूमि वाले कवि ने पलायन की अपेक्षा [illegible] ग्रहण मे ही आस्था प्रदर्शित की। सौभाग्य से पश्चिम के [illegible] अविश्वास व विघटन-शील पृष्ठभूमि के स्थान पर इस नवचेतना के [illegible] भारतीय कलाकार को सहस्राब्दियो की स्थिर संस्कृति का आधार एवं [illegible] आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्राप्त था। व्यवहार और धर्म को उसने जीवन की वस्तु स्वीकार किया था। उसे बुद्ध, अशोक और महात्मा गांधी के रूप मे समान रूप से ही प्रखर शक्तिमत्ता के दर्शन हुवे। [illegible] की इस उप-स्थिति ने उसे भी नारो, वादो, या बदले की भावना से रहित करके सर्वहितकामी क्रान्ति के लिए विवश किया।

यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि इस नवदृष्टि-युग के प्रथम चरण मे भी कवियो मे इसी प्रकार के विद्रोह एव आत्म-विश्वास के मिले-जुले स्वर मिलते हैं। वास्तव मे भारतेन्दु के समय से ही कविता व गद्य-साहित्यकारों ने भारतीय-चेतना के नवजागरण से इस आत्म-विश्वास को ग्रहण किया था। 'उत्क्रान्ति-युग' मे भारतीय संस्कृति के प्रति व्यामोह-बुद्धि की अपेक्षा पुनर्मूल्यांकन की बुद्धि जागी थी। उसी ने भारतेन्दु व उनके साथियो मे आत्म-गौरव की एक भावना जगाई थी। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, अयोध्या-सिंह उपाध्याय, प्रतापनारायण मिश्र, आदि की कवितायें उसी उत्कर्ष-बोध एव तुलनात्मक महत्वांकन की दृष्टि से युक्त थी। अन्तर इतना ही है कि यह नया कवि पश्चिम के साहित्य व चेतना से किंचित् मात्रा मे अधिक प्रभावित था। उसने उसे खूब पढा और समझा था। पर उसके प्रभावित होने का यह अर्थ नही कि उसने उसका अन्धानुकरण आरम्भ कर दिया था। बल्कि उसमे अपनी प्राचीन साहित्य-समृद्धि व प्राचीन संस्कृति-समृद्धि के प्रति एक दृढतर आस्था उद्बुद्ध हुई। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की बढती हुई चेतना ने उसे

पश्चिम के सम्मुख अपने गौरव को ढूँढने और उपस्थापित करने के लिये विवश किया। द्विवेदी, गुप्त, हरिऔध, मिश्र, या अन्य कवियो की पूर्वतर वाणी मे आत्मगौरव होते हुवे भी, आत्म-विवेचन की भावना प्रखरता न पा सकी थी। उनका आत्म-गौरव आत्म-प्रशस्ति की सीमा तक पहुँच गया है। परन्तु इस नये कवि ने उस प्रकार के 'आदर्शवाद' की अपेक्षा चारो ओर होने वाले परिवर्त्तनो को खुली आँखो देखा और अपनी युग-सचित निधि के समकक्ष रखकर उसका महत्त्व जाँचने का यत्न किया। निश्चय ही इस प्रकार की दृष्टि मे पुरातन व नवीन के प्रति एक साथ विद्रोह था। प्रथम चरण की सरल आध्यात्मिक आस्था भी यहाँ दार्शनिक आवरण मे नवीन रूप ग्रहण कर उठी। साथ ही पाश्चात्य की भौतिकवादी शिक्षा ने उसे प्रतिक्रियात्मक रूप मे प्रभावित किया। भारतीय सस्कृति की 'अन्तर्दृष्टि' की मूल वृत्ति उसमे थी ही। द्विवेदी-युग एव उससे पहले के प्रयत्नो ने जिस प्राचीन भारतीय-सस्कृति व साहित्य के प्रति मोह जगाया था, उस मोह के कारण यह लेखक भी अपने उस अतीत के गौरव से परिचित होना चाहता था। किन्तु अन्धानुकरण न इसने पश्चिम का किया, न पूर्व का। पश्चिम का 'रोमाण्टिसिज्म' भौतिकवादी-दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया मे था। किन्तु भारत का यह 'रोमाण्टिसिज्म' भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के बीच एक 'नई कडी' था। इसीलिए हमने इसे 'नवदृष्टि-युग' मे रखा।

आत्मिक चेतना और कवि-स्वातन्त्र्य की इस नव दृष्टि के प्रकाश मे इस काल के साहित्य का मूल्याकन करते हुवे, हमे इस चरण मे विद्यमान अन्य परिस्थितियो का भी ध्यान रखना चाहिये। उर्दू-हिन्दी के झगडे के अतिरिक्त, उस काल मे प्रान्तीय-उत्कर्ष की भावना भी हमारे राजनीतिज्ञो मे बढती जा रही थी। प्रान्तीय-भावना के अतिरिक्त धर्मो या सम्प्रदायो के नाम पर भी झगडे चलने लगे थे। हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष भयानक रूप मे उकसाने की योजना ब्रिटिश शासको ने आरम्भ कर दी थी। प्रथम चरण मे स्थापित 'अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय' इस प्रकार की कार्यवाइयो का केन्द्र बना। उसी चरण के अन्त मे 'मुस्लिम-लीग' और 'हिन्दू-महासभा' की भी स्थापना हुई। सन् १९२० में महात्मा गाधी ने, 'खिलाफत आन्दोलन' और 'स्वातन्त्र्य-सत्याग्रह-आन्दोलन' को एक साथ मिलाकर, दोनो वर्गो मे मेल कराना चाहा। इससे पूर्व १९१६ ईस्वी मे वे 'मुस्लिम-लीग' से लखनऊ में समझौता भी कर चुके थे। ऊपर से देखने पर कुछ काल के लिये सर्वत्र शान्ति ही दिखाई

दी, किन्तु, अन्ततः इस प्रकार की विभेद-भावना अत्यन्त भयानक सिद्ध हुई। साहित्यकार के सचेत मन ने भारतीय स्वातन्त्र्य के इस भय को बहुत पहले ही पहचान लिया था। वह भारतीय शिक्षा संस्थाओं में चल रहे विभिन्न कार्यक्रमों से भी अछूता न रहा। अपने इतिहास को पढ़कर जब वह विश्व-विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले इतिहास की तुलना उससे करता था, तो उसे इस नये इतिहास में बहुत कुछ जान-बूझकर असत्य रूप में प्रक्षिप्त किया गया प्रतीत होता था। साम्राज्यवादी ढाँचे की शिक्षा का यह अनिवार्य अंग होता है कि उपनिवेशों और अधीनस्थ राज्यों की संस्कृति और इतिहास को सर्वथा गौरवहीन कर दिया जाये। इन लेखकों में से बहुतों ने अपनी शक्तियों को इस ओर भी अग्रसर किया। इसके अतिरिक्त इस युग में 'गुरुकुल विश्व-विद्यालय कांगडी' के अनुकरण पर अनेकों विश्वविद्यालयों में हिन्दी को महत्त्व दिया जाने लगा। बडी परीक्षाओं में ही हिन्दी ने प्रवेश नहीं पाया, बल्कि स्नातकोत्तर परीक्षा का वह भी एक विषय स्वीकार कर लिया गया। ऐसे समय यह अनिवार्य था कि साहित्य-निर्माण में उस दृष्टिकोण से भी प्रयत्न हो। 'भाषा-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'आलोचना', तथा अन्य अनेक विषयों पर इसी दृष्टि से कार्य आरम्भ हुवा। 'निबन्ध' और 'काव्यालोचन' का स्तर भी कुछ ऊँचा उठा। शोधकार्य को भी **'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा'** तथा उससे ही वृद्धि पाने वाले **'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन'** ने बढ़ावा दिया। ये सब कार्य केवल कुछ उत्साही कार्यकर्त्ताओं के बल पर ही हो रहे थे। विदेशी सरकार तो इस ओर से नितान्त उदासीन थी; और कदाचित् विरोधी भी थी। इस सब पृष्ठभूमि पर इस साहित्य का अध्ययन हमें बहुत-सी ग्रन्थियों को सुलझाने में मदद देगा।

सप्राण साहित्य के आयाम और विस्तार की दृष्टि से भी यह युग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। महान् साहित्यकारों एवं धारा-वैविध्य की दृष्टि से भी इस युग को अत्यधिक विशिष्टता प्राप्त है। पद्य और गद्य का कोई भी ज्ञात कोना ऐसा न रहा, जिसे इस युग के साहित्यकार ने न छाना हो।

पद्य क्षेत्र में

मौलिकता

पद्य के क्षेत्र में इस चरण का अपना वैशिष्ट्य है। पहले चरण में भावना का जो विद्रोह एक **मर्यादा** के भीतर पनप रहा था, वह अब खुलकर सामने

आ गया। 'छायावाद', 'रहस्यवाद', एवं 'स्वच्छन्दतावाद', आदि उसी के स्पष्ट लक्षण है। ये 'वाद' एकदम पाश्चात्य के अनुकरण मे नही हैं। 'अध्यात्म' व 'मानवतावाद' की जो क्रियात्मक पृष्ठभूमि वहाँ स्थित हे, उसे विना समझे ये 'वाद' केवल पाश्चात्य के अनुकरण मात्र प्रतीत होते है। वगीय 'छायावाद' और रवीन्द्र के 'रहस्यवाद' को पश्चिम का अनुकरण कहने वाले, उनकी भारतीय पृष्ठभूमि तथा मूल चेतना को भूल जाते है। हमारा अभिप्राय हठात् उसे वेदों और उपनिपदो की धारा से जोडने के लिए आग्रह का नही है। प्रत्युत हमारा निवेदन केवल इतना है कि उसे पाश्चात्य का अन्धानुकरण, अथवा पूर्वकालिक भारतीय रहस्यवाद आदि का अन्धानुकरण न मानकर, दोनो के बीच से विकसित स्वतन्त्र परम्परा के रूप मे स्वीकार कर हमे फिर से ध्यान देना चाहिये। उनमे से वहुतो पर उपनिपदो व कवीर के रहस्यवाद का सीधा प्रभाव है। वहुत से हिन्दी-कवियो ने अपने काव्य मे जिस समय 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की प्रथम अभिव्यक्ति दी, उस समय तक न उनका वंगला से परिचय था, न अंग्रेजी से। उनका परिचय कवीर व मीरा की जिस परम्परा से था, वह भी युग की वौद्धिकता के कारण उन पर पूरी तरह हावी न हो सकी। इन्हे किसी निराशा से उत्थित कहना भी भ्रममात्र ही होगा।

भाषा की अनुकूलता

इस प्रकार के भावनात्मक और सजीव पद्य ने अपने अनुकूल कोमल-कमनीय कलेवर को भी गढ लिया। पिछले चरण के खडी-वोली के पद्य की अपेक्षा इस चरण का पद्य अधिक कोमल एवं अधिक ग्राह्य है। साहित्यिक स्तर पर भी उसका महत्त्व अधिक है।

नयी शैली

उसका ढाँचा भी वार्णिक छन्दो के वन्धन को तोड कर मात्रिक छन्दो की सगीत-लहरी मे वदल गया है। वर्णनात्मकता का स्थान भावात्मकता ने ले लिया है। और कविता स्वय कामिनी-सी सलज्ज होकर भी अपने इंगितो से ही युग-विद्रोह की प्रेरणा देने के लिए अधिक सचेत हो गई है। उसमे **राष्ट्र-प्रेम, सामाजिक-समता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, शोषण-विरोध, एवं स्वातन्त्र्य की पुकार व प्रेम,** आदि सव कुछ पूर्ण उद्दाम वेग से व्यक्त हुवा है। इस प्रकार वह यथार्थ के एकदम निकट आ गई है। इस पर भी उसका साहित्यिक स्तर

पहले स्तर से स्पष्टत. उच्च है। इस चरण मे महाकाव्य भी रचे गये और मुक्तक भी।

प्रबन्ध-काव्य

प्रबन्ध-काव्यों में जयशकर 'प्रसाद' की अमर कृति कामायनी तथा मैथिली शरण 'गुप्त' की यशोधरा व साकेत, आदि इसी युग की वे विख्यात रचनायें हैं, जिन पर हिन्दी-साहित्य को अमित गर्व करने का अधिकार है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेको प्रबन्ध-काव्य लिखे गये।

मुक्तक-काव्य

मुक्तक-काव्य तो इस युग की विशेषता ही थी। 'छायावाद' और 'रहस्य-वाद' के क्षेत्र मे प्रसाद, महादेवी, निराला, और पन्त, आदि, 'राष्ट्रीय कविता' के क्षेत्र मे माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि, 'हालावाद' और 'स्वच्छन्दतावाद' के क्षेत्र मे 'बच्चन' व 'नवीन', आदि, अनेक कवियो ने एक साथ ही, इस युग को अनेकविध महत्तर व उच्चतर कवित्व प्रदान किया। यह सभी कुछ गर्व के योग्य है।

गद्य-क्षेत्र में

भाषा

'गद्य' के क्षेत्र में भी यह युग अपने उत्तरदायित्व मे पीछे नही रहा है। भाषा का संस्कार 'गद्य' मे भी हुवा। इस युग ने बंगला की माधुरी और मराठी की सप्राणता से हिन्दी गद्य को सशक्त कर दिया। नाटक, कहानी. उपन्यास, एकांकी, जीवनी, निबन्ध, आलोचना, इतिहास, शब्दकोष, एवं अनुसन्धान कार्य, आदि किसी भी दृष्टि से यह युग किसी भी अन्य युग से पीछे नही है।

युग-प्रतिनिधि व्यक्तित्त्व

इस युग मे गत युग के अनेको लेखक अपने निर्माण कार्य मे जुटे रहे। किन्तु युग के नये विद्रोह ने जिन दो व्यक्तित्वो को सर्वाधिक महत्त्व दिया, वे थे प्रेमचन्द और प्रसाद। यह स्मरण रखना चाहिये कि इनका यह महत्त्व भारतेन्दु और द्विवेदी को प्राप्त महत्त्व से सर्वथा भिन्न है। उनमे नव-निर्माण के प्रति उत्साह तथा प्रोत्साहन का गुरुत्त्व भी विद्यमान था। इन दोनो मे से एक

ने भी उस गौरव को प्राप्त करने मे रुचि नही दिखाई । 'प्रसाद' की गोष्ठी का रूप भी 'भारतेन्दु' की मित्र-मण्डली से भिन्न था ।

प्रसाद

प्रसाद को व्यक्तिवादी समझकर भी हम भ्रम मे रहेंगे । वे आनन्दी जीव थे, किन्तु उनकी साहित्यिक चेतना ने उन्हे गम्भीर विचारक और विवेचक भी वना दिया था । वे साहित्यिक दलवन्दियो एवं आदर्श-विनियोजनाओ से दूर ही रहते थे । 'इन्दु' के सम्पादक रहकर भी उन्होने आचार्यत्त्व का गौरव अपने ऊपर नही लिया । वे एकान्ततः साहित्य के उपासक थे । प्रेमचन्द का भी यही हाल था । इन दोनो ने ही जीविका के अन्य उपलब्ध साधनों को त्याग कर, घर-फूँक मस्ती की भावना से ही, साहित्य-सेवा एक व्रत के रूप में अपना ली थी । अपने जीवन को निर्धनता के कठोर शिकञ्जे में जकड़ देने वाले इन कलाकारों की कलाकृतियों पर प्रकाशको ने आज चाहे महल खड़े कर लिये हो, किन्तु इनके अपने जीवन मे अपने साहित्य से आर्थिक लाभ व तज्जन्य भौतिक सुख इन्हे कभी प्राप्त न हुवे ।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द ने जीवन के वाहरी शोपण एवं वाह्य व्यवस्थाओ को अधिक परखा था । वे उनसे क्रियात्मक जीवन मे जूझे भी थे । इसीलिये उनके साहित्य में 'प्रसाद' की-सी आन्तरिकता की अपेक्षा वहिर्मुख प्रकाशन व अभिव्यक्ति की अधिकता पाई जाती है । 'प्रसाद' की भाँति वे भी अन्तरग और वहिरंग मे मानवता के पुजारी थे । उनका महत्त्व भी, प्रसाद की भाँति, किसी आचार्यत्व मे न होकर सर्वोच्च साहित्य-सेवा मे ही है ।

आन्तरिक एकता

प्रसाद ने जिस यथार्थ को अपने कवित्व में आवृत करके साहित्यिकों के आल्हाद की वस्तु वनाया, प्रेमचन्द ने उसे ही जनरुचि के माध्यम उपन्यास और कहानी के द्वारा जन-जन तक पहुँचा दिया । एक ने मानव-मन तक गहरी पैठ ली, तो दूसरे ने मानव की परिस्थितियों के वहिरंग को भी खोजा-परखा । पद्य और नाटक के क्षेत्र में प्रसाद ने जो गौरव प्राप्त किया, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में वही गौरव प्रेमचन्द ने प्राप्त किया । **इसीलिए प्रायः इस काल को 'प्रसाद-प्रेमचन्द-युग' का नाम भी दिया जाता है ।**

नाटक

'भारतेन्दु' के बाद नाटको मे वह सप्राणता न आ सकी थी। कुछेक प्रहसनो तथा अनुवादो को छोडकर अगले कुछ वर्षों मे कुछ भी नव-निर्माण न हुवा। 'भारतेन्दु' की-सी सामाजिक चेतना एव उनके क्रियात्मक दृष्टिकोण का स्थान किसी अन्य लेखक की चेतना ने न लिया। प्रसाद ऐसे पहले लेखक थे। उनकी इतिहास के प्रति अनुसन्धान वृत्ति, भारतीय सस्कृति के प्रति अनुराग, एवं अपने सामाजिक एव राजनैतिक वातावरण के प्रति क्षोभ, सबने मिलकर उन्हें कुछ नव-निर्माण के लिए प्रेरित कर दिया था। काव्य-क्षेत्र मे उनकी स्थिर गति ने उनके प्रत्येक शब्द मे कवित्व भर दिया था।

भारतेन्दु के अथक प्रयत्नो के बाद भी रगमंच के क्षेत्र मे कोई भी सुधार स्थिर न हो सके और पारसी-कम्पनियो का अपना ढग नाटको के प्रणयन और अभिनय मे चलता ही रहा। प्रसाद अपने विषयो के गौरव के अनुकूल उसे पुराने उच्च-स्तर पर लाना चाहते थे। उन्हें 'भारतेन्दु-नट-मण्डली' जैसे किसी दल का क्रियात्मक सहयोग प्राप्त नही था। न ही उन्हें रगमच का स्वतन्त्र अनुभव था। फिर भी क्रान्तिकारी की इच्छा लिये वे, पुरानी मान्यताओ को तोडकर, बाहरी ढाँचे को आधुनिक रूप देने के लिये व्यग्र थे। इसके साथ ही वे उन्हें सक्षिप्त और समयानुकूल भी रखना चाहते थे। किन्तु इसके विरोध मे उनके आधारभूत विषयो की व्यापकता आ बैठती है। उनकी कथायें प्राय ही विस्तृत हो गई है। ऐसा सोद्देश्य ही हुवा है। फिर भी 'राज्यश्री', 'विशाख', 'समुद्रगुप्त', आदि अनेको छोटे नाटक भी उनके अच्छे है। उनके प्रारम्भिक नाटक 'विशाख' मे तो स्वयं प्रसाद पारसी ढाँचे से अन्तःप्रभावित है। यद्यपि विषय-वस्तु की दृष्टि से वे एकदम भिन्न स्तर पर हैं। बाद मे वे सर्वथा स्वतन्त्र शैली पर बढ पडे। इसमे क्रियात्मक परीक्षण के अभाव मे कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती है। फिर भी एक **नयी दिशा** का सकेंत व निर्देश है।

'प्रसाद' के बाद—'प्रसाद' के बाद इस और आगामी युग के अनेक नाटककारो ने उनका अनुकरण किया। इतिहास के माध्यम से वर्तमान की समस्याओ को सुलझाने की इस राह ने मानो एक विस्तृत क्षेत्र हिन्दी नाटक-कारो के लिये खोल दिया। इसे केवल द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव कहकर इस की स्वतन्त्र व सोद्देश्य चेतना को हम सही रूप मे न जान सकेगे। आगामी युग के चार-पाँच लेखक इस दिशा मे सर्वाधिक प्रसिद्ध हुवे।

एकांकी व गीतिनाट्य

एकांकी और गीतिनाट्य भी 'प्रसाद' ने सर्वप्रथम लिखे। परन्तु उनके 'कामना' और 'एक घूंट' एकाकियो का अन्धानुकरण बाद मे न हुवा। कुछ व्यवधान से जो एकाकी परम्परा बाद मे चली, उस पर अग्रेजी एकांकियो का अधिक प्रभाव रहा। बंगला का प्रभाव, इस क्षेत्र मे, हिन्दी पर सीधा नही पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ हिन्दी-प्रदेश भी पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क मे सीधे-से आ गया था। इसीलिये उसमे भी सीधा प्रभाव परिलक्षित होने लगा। एकाकियो की अगली परम्परा अत्यन्त समृद्ध बनी। कॉलेजो में इन एकांकियो ने तुरन्त ही पारसी-नाटको का स्थान ले लिया। इन एकाकियो मे कुछ एक ने इतिहास का भी आधार लेना चाहा। अन्यथा जीवन और उसकी समस्याओ का अधिक आधार इनमे लिया गया। 'गीतिनाट्यो' की परम्परा का अनुकरण कदाचित् ही हुवा, उसे लिखने के लिये नाटककार की अपेक्षा कविचेतना की अपेक्षा थी। सुमित्रानन्दन पन्त के गीति-नाट्य बहुत बाद की वस्तु है।

उपन्यास

उपन्यास के क्षेत्र मे भी 'प्रसाद' ने प्रवेश किया, परन्तु इसमे अधिक महत्त्व प्रेमचन्द को ही प्राप्त हुवा। 'प्रसाद' ने कुल मिलाकर ढाई उपन्यास ही लिखे, किन्तु उसमे ही वे अपनी यथार्थ-दृष्टि की कवित्व-सौन्दर्य से आवृत अभिव्यक्ति दे गये। समाज और व्यक्ति के यथार्थ के प्रति उनकी जागरूकता उनके इन उपन्यासो से ही सिद्ध हो जाती है। इसकी अपेक्षा प्रेमचन्द का पहला हिन्दी उपन्यास 'सेवासदन' जिस सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आया, उसको बदलने की लेखक की सोद्देश्य प्रेरणा भी उसी उपन्यास मे झलकी। आदर्श की यह प्रेरणा उत्तरोत्तर उनके उपन्यासो मे कम होती गई, और वे भी यथार्थ को अधिक सजग होकर प्रस्तुत करने लगे। उनकी दृष्टि 'प्रसाद' की भांति मानव और समाज की आन्तरिकता पर न होकर, उसके वहिरग पर अधिक थी। दार्शनिक चिन्तन और कवित्व उनमे भी आया है, किन्तु स्थूल यथार्थ से उलझ कर ही। यथार्थ की इस जागरूकता ने ही, उनकी सरल अभिव्यक्ति से मिलकर, उन्हे जन-जीवन का सबसे वडा कलाकार बना दिया। उनकी भाषा सरल, व निरलकार सहज कवित्व से परिपूर्ण है। उपन्यासो की दृष्टि से इस युग को समृद्धतम युग कहा जा सकता है। एक साथ अनेकों

लेखको ने इस पृष्ठभूमि पर उतर कर कार्य किया। जासूसी और विलासिता के उपन्यास निम्न स्तर के पाठको मे भले ही चलते रहे हों, सफलता उनको इस युग मे व इसके बाद न मिल सकी। सजग कलाकार की लेखनी से प्रसूत अपने युग के जीवन के चित्रण व उसकी समस्याओ ने पाठक का ध्यान बरबस अपनी ओर खीच लिया। इस समय के कुछ उपन्यासो को हम हिन्दी-साहित्य मे सादर स्थान दे सकते है।

कहानी

कहानियाँ भी 'प्रसाद' ने लिखीं, और मानव-मन के द्वन्द्वो के चित्रण में वे सतर्क रहे। यथार्थ भी उनकी कहानियो मे झलकता रहा, और भाषा भी कवित्वपूर्ण रही। किन्तु, उनकी अपेक्षा इस क्षेत्र मे भी प्रधानता प्रेमचन्द को ही मिली। स्पष्टतः इसका कारण था, जन और समाज के जीवन की व्यापकतर पृष्ठभूमि पर उनका विशालतर साहित्य-निर्माण! जीवन और समाज की कदाचित् ही कोई समस्या उन्होने अछूती छोडी हो। तीन सौ से ऊपर कहानियाँ लिखकर वे जीवन के सबसे बडे कलाकार बन गये। उनके अतिरिक्त उर्दू के कुछ अन्य कहानीकार भी हिन्दी क्षेत्र मे उतरे। परन्तु, हिन्दी-लेखको का एक बड़ा दल भी इस प्रकार के यथार्थवादी कहानीकारो के वर्ग मे शामिल हुवा। इन सबमे अनुभूति की उस गहराई को पाना असम्भव है, किन्तु फिर भी हरेक मे कुछ न कुछ नवीन वक्तव्य को लेकर बढने की भावना अवश्य थी।

आलोचना

'आलोचना' के क्षेत्र मे भारतीय 'रसवाद' का सिद्धान्त आध्यात्मिक दृष्टिकोण की देन कहा जा सकता है। 'प्रसाद' इस सिद्धान्त के महान् पोषक बनकर आये। उन्होने साहित्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से सम्बद्ध बताकर साहित्य को सीधे-से आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर ला दिया। पाश्चात्य के भौतिक चिन्तन की उन्हें चिन्ता न थी। परन्तु इस क्षेत्र के प्रत्येक अंग पर उन्होने क्रमबद्ध विचार व्यक्त न किये। उस दृष्टि से इस युग मे डा० श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाब राय, आदि आचार्य ही बढ़े। प्रेमचन्द के कुछ निबन्ध भी इस विषय मे सामने आये, किन्तु उनमे भी वैयक्तिक दृष्टिकोण की ही प्रधानता थी। सैद्धान्तिक-विवेचन का श्रेय उक्त सज्जनो को ही रहा।

इनमे भी अधिकतर रसवादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता मिली। तुलनात्मक आलोचना भी इन दिनों खूब चली।

साहित्य का इतिहास

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के क्रमबद्ध प्रयत्न भी इसी समय हुवे। 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' के निर्देशन पर आचार्य शुक्ल, डा० श्याम-सुन्दरदास एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इतिहास-लेखन का कार्य आरम्भ किया। किन्तु, कुछ ही समय बाद तीनो ने इस कार्य को तीन स्वतन्त्ररूपो मे ही पूर्ण किया। इनमे शुक्लजी का कार्य अधिक प्रामाणिक समझा गया। डा० श्यामसुन्दरदास को अधिक सफलता 'भाषा-अध्ययन' या 'भाषा-विज्ञान' के सम्बन्ध मे मिली। तीनों के दृष्टिकोण मे बहुत अन्तर न रहा।

निबन्ध

निबन्धों को इस युग मे यद्यपि पृथक् से महत्त्व न दिया गया, तो भी प्रायः सभी महान् लेखकों ने उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे। इनमे आलोचनात्मक निबन्धों के साथ-साथ भावनात्मक और वर्णनात्मक निबन्धो की भी प्रचुरता है। ये सभी निबन्ध उच्च साहित्यिक कोटि के थे।

शोधकार्य

'काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा' के शोध-विभाग एवं 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की पुरस्कार-योजना से अनेकानेक शोध-विषयक लेख और प्रबन्ध भी इस समय प्रकाशित हुवे। इन्होंने ही आगे चलकर विश्वविद्यालयो मे होने वाले हिन्दी-क्षेत्र के शोध-कार्य की दिशा का निर्धारण किया।

भाषा, कवित्व, शैली, आदि सभी दृष्टियो से यह काल अन्य कालो से भिन्न स्तर पर कहा जा सकता है। इसमे जिन व्यक्तित्वो को प्रधानता मिली, उन्हें केवल अपने कृतित्व के बल पर ही! यूँ, इस युग मे हर क्षेत्र मे उत्कृष्ट लेखको की सख्या कम नही है।

सम्पूर्ण युग का मूल्यांकन

सच तो यह है कि इतने विविध आन्दोलनो, जागरण के उग्रतम सन्देशो, विद्रोहमय स्वरो, एवं नानाविध प्रगतियो को लिये हुवे यह युग हिन्दी-साहित्य की **सर्वतोमुखी प्रगति** का काल कहा जा सकता है। पत्रकारिता, निबन्ध,

कविता, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के आदर्श नमूने भी इसी युग में सामने आये। यदि आगामी युग—यथार्थ युग—को 'प्रसार-युग' कहा जाये, तो इस युग को 'निर्माण-युग' कहना होगा। साहित्यिक-सृजन एवं भावना के गौरव की दृष्टि से इस युग की प्रतिद्वन्द्विता में 'सांस्कृतिक-पुनर्जागरण-युग' या 'भक्ति-युग' ही ठहरता है। उत्कृष्ट लेखकों की संख्या तो किसी भी युग की अपेक्षा इसमें अधिक रही।

यथार्थ - युग

:

(सन १९३५ से अब तक)

एक दृष्टि में
यथार्थ-युग का साहित्य
प्रथम चरण
सन् १९४७ ई० से पहले
'प्रगति युग'
द्वितीय चरण
सन् १९४७ ई० के बाद
'नवीन युग'
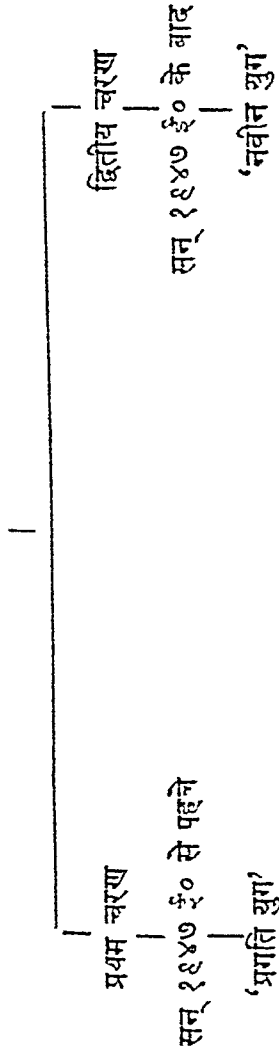
यथार्थ-युग

भूमिका

राजनैतिक दृष्टि

सन् १९३५ ई० से आज तक के युग को राजनैतिक दृष्टि से दो भागो में बाँटा जा सकता है . स्वतन्त्रता से पूर्व, तथा स्वतन्त्रता के बाद। सन् १९४७ ई० की १५ अगस्त को भारत स्वतन्त्र हुवा। सन् १९५० ई० की २६ जनवरी का महत्त्व 'गणतन्त्र' के सविधान की दृष्टि से भी अनूठा है। परन्तु इन दोनो वर्षों या दिवसो का महत्त्व इससे पूर्ववर्त्ती आन्दोलन से पृथक् करके नही देखा जा सकता। स्वातन्त्र्य के लिये किये जाने वाले स्वातन्त्र्य-आन्दोलनो को छोड़ भी दिया जाये, तब भी सन् १९३९ ई० मे सुभाष बाबू के काग्रेस के अध्यक्षपद से दिये गये भाषण से लेकर सन् १९५० ई० तक के इतिहास को दो खण्डों में नही बाँटा जा सकता। उस भाषण के ६ मास बाद ही द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुवा। सन् १९४० ई० व सन् १९४१ ई० के सत्याग्रह आन्दोलन, सन् १९४२ ई० का 'भारत छोडो' आन्दोलन, सुभाषबाबू द्वारा पश्चिम तथा पूर्व मे संगठित किये 'आज़ाद-हिन्द-फौज' के सगठन तथा उनके महत्त्वपूर्ण अभियान, सन् १९४५ ई० मे होने वाले नाविक-सैनिको तथा वायु-सेना के विद्रोह, तथा 'आज़ाद-हिन्द-फौज़' के प्रति देशव्यापी सहानुभूति—को पृथक्-पृथक् करके कैसे देखा जा सकता है? लालकिले पर अपनी ध्वजा सच्चे रूप मे तो सन् १९५० ई० की २६ जनवरी कोही लहराई, जब विदेशी-साम्राज्य से हर प्रकार का सीधा-सम्बन्ध समाप्त हो गया।

—और, इस सब की पृष्ठभूमि शुरू हुई थी सन् १९३५ ई० के संविधान से।

साहित्यिक-दृष्टि

सन् '३५ ई० से आज तक के युग को साहित्य की दृष्टि से भी दो भागो

मे बाँटा जाता है। पहले युग को 'प्रगति-युग' या 'प्रगतिवादी-युग' (सन् '४७ ई० तक) कहा जाता है, और बाद के युग को 'प्रयोगवादी-युग' या 'नवीन-युग' कह दिया जाता है। कहा जाता है कि 'प्रगतिवाद' मे मार्क्सवाद के बँधे-बँधाये सिद्धान्त का आधार लेना आवश्यक है। आखिर निर्धनो की पुकार उठाने का अर्थ है, उनकी 'साम्राज्यशाही' (?) का नारा लगाना। सन १९३४ ई० मे लन्दन मे 'अखिल-विश्व-प्रगतिशील-लेखक-सघ' की स्थापना हुई। भारत की ओर से डा० मुल्कराज 'आनन्द' व ख्वाजा अहमद 'अब्बास' ने भाग लिया। सन् १९३५ ई० मे उन्ही की प्रेरणा पर भारत मे 'अखिल-भारत-प्रगतिशील-लेखक-सघ' की स्थापना लखनऊ मे मुन्शी प्रेमचन्द की अध्यक्षता मे हुई। कहते है उसी समय मे 'प्रगतिवाद' ने भारतीय साहित्य मे पाँव जमाये। किन्तु सन् १९४३ ई० के बाद हिन्दी-साहित्य मे कुछ नये विद्रोही लक्षण पाये गये। उस वर्ष 'प्रगतिशील' समझे जाने वाले कुछ कलाकारों की विद्रोहमयी कृतियो को लेकर 'अज्ञेय' ने प्रथम 'तार-सप्तक' का प्रकाशन किया। 'दूसरा सप्तक' सन् १९५१ ई० मे प्रकाशित हुवा। इस समय तक कविता का यह 'मुक्त'-ढग अधिक प्रचलित हो चुका था। इसमे भी 'नकेन-वाद' आदि बने। कुछ ने 'प्रपद्यवाद' को 'प्रयोगवाद' की अगली अवस्था करार दिया।

किन्तु यह सब हुआ पद्य मे। गद्य मे किंचित् सुधार के साथ वही पुरानी वृत्ति चलती रही। नये मार्ग खुले, नये क्षेत्र मिले, नयी अभिव्यक्तियाँ जगी · किन्तु किसी 'वाद' के बिना। शायद इसे भी 'प्रयोग' कहा जाये। तो फिर सभी साहित्य क्या एक प्रयोग नही है?

भाव-ऐक्य

वस्तुतः 'यथार्थ' को स्थूल-रूप मे देखने-समझने की जो आवाज सन् '३५ ई० मे उठाई गई थी, वह राजनीति के किसी 'वाद' से न बँधकर, आज साहित्य का 'उद्देश्य' बन गई है। अन्तर यही है कि पहले वह 'सामान्य-चित्रण' तक सीमित थी, अब वह 'सूक्ष्म-चित्रण' या प्रसग-चित्रण' तक पहुँच गई है। 'गद्य' और 'पद्य' के विषय मे यही कहा जा सकता है।

—अतः हमने इन्हे एक युग के ही दो चरण माना है स्वतन्त्रता से पहले व स्वतन्त्रता के बाद।

प्रथम चरण : स्वतन्त्रता से पूर्व

[प्रगति-युग]

(सन् १९३५ से सन् १९४७ तक)

समाजवादी आन्दोलन और राष्ट्रीयता

सन् १९२९ की विश्वव्यापी मन्दी ने पूँजीवादी राष्ट्रो की अर्थ-व्यवस्था को हिलाकर रख दिया। उधर नवोदित समाजवादी राष्ट्र रूस इस अरसे मे भी प्रगति करता रहा। पूँजीवादियो का समस्त विरोध सहकर भी लेनिन के नेतृत्व मे वह बढता ही आया। लेनिन के बाद स्टालिन के समय मे अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन को और व्यापकतर कर दिया गया। किन्तु इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समाजवादी और साम्यवादी नाम से दो पृथक्-पृथक् दल हो गये। इन नवोदित समाजवादी आन्दोलनो ने रूस के परीक्षण की प्रशसा करके भी राष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवादी सिद्धान्तो के विकास पर बल दिया। रूस के इंगित पर चलने की अपेक्षा इन्होने अपना स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बनाया। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन केवल रूस के इंगित पर चल रहा था। उसमे राष्ट्रीयता का सिद्धान्त विरोधी बैठता था। द्वितीय महायुद्ध के छिडने पर यह खाई व्यापकतर हो गई। इतना होने पर भी दोनो ही का प्रभाव क्षेत्र मजदूर और शोपित कृपक-वर्ग, आदि थे। सौभाग्य से भारत की यह भूमि इन आन्दोलनो के अनुकूल थी। कृषको का अधिकांश जमीदारो और सरकार के दुहरे अत्याचारो से पीडित था। नवोदित मजदूरवर्ग भी इन आन्दोलनो से प्रभावित था। सन् १९३४ ई० मे सोशलिस्ट पार्टी बनी और सन् १९४० मे भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी अस्तित्व मे आई। किन्तु कोई सशक्त नेतृत्व इन दलो को न मिल पाया। ब्रिटिश सरकार के विरोधी रुख ने भी इन आन्दोलनो को पनपने न दिया। इस सबसे बढकर भारतीय सस्कृति के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण तथा भारतीय सन्तो की परम्परा मे चलने वाले महात्मा गाँधी के सहिष्णुता के उपदेश ने इस घृणा और विद्वेष के सिद्धान्त को भारत भूमि मे पल्लवित न होने दिया। इस सबसे बढकर यह कि ये सब प्रश्न उस समय गौण थे। सबसे बडा प्रश्न था देश की स्वतन्त्रता का। इन प्रश्नो को देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक टाला जा सकता था।

राजनीति के मोड़

सन् १९२९ मे ही भारत ने युवक-नेता जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व मे पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था। सन् १९३५ तक भारत भर मे महात्मा गाँधी के सत्याग्रह के कई परीक्षण हो चुके थे। 'गाँधी-इरविन-पैक्ट' ने सुधारो का मार्ग दिखाया और लन्दन की गोलमेज कान्फ्रेंस से एक नया 'प्रान्तीय-विधान', सन् १९३५ मे, भारत को मिला। इससे पूर्व सन् १९३४ ई० मे शहीद भगतसिंह, आदि की फासी के साथ ही सशस्त्र-क्रान्तिकारी-आन्दोलन की इतिश्री हो चुकी थी। इस नये विधान से पूर्व ही केन्द्रीय व प्रान्तीय विधान-परिषदो के चुनाव मे, 'स्वराज्य-पार्टी' के रूप मे, कांग्रेस अप्रत्यक्ष रूप मे भाग ले ही चुकी थी। सन् १९३६ ई० के चुनावो मे कांग्रेस ने अधिकाश प्रान्तो मे वहुमत होने के कारण अकेले ही शासन-भार सम्भाला; कुछ प्रान्तो मे मिलकर सम्भाला और कही विरोधी दल मात्र ही रह कर। वड़े-वडे नगरो के कारपोरेशन भी प्राय कांग्रेस के ही हाथ मे थे। सन् १९३७ ई० मे प्रान्तीय सरकारे वनी। और, सन् १९३९ ई० मे द्वितीय विश्वयुद्ध छिटने पर उन्हे असहयोग के कारण पदत्याग करना पडा। इन दो वर्षो के शासन मे ही देश की जनता ने स्वतन्त्रता के कुछ फल देख लिये थे। भारतीय नेताओं की योग्यता भी सिद्ध हो गई थी। दलित और शोषित वर्ग की समस्याये भी प्रमुख रूप मे सामने आई थी। उनके समाधान का गाँधीवादी उपाय भी जनता के सामने स्पष्ट हो चुका था। एक रक्तहीन क्रान्ति का स्वप्न लोगो की आँखो के आगे तैर गया था।

महायुद्ध व नये आन्दोलन

इसी समय इस नवजात स्वतन्त्रता पर कुठाराघात हुवा। युद्ध छिड़ते ही कांग्रेसी सरकारो ने पदत्याग किया। जिन प्रान्तो मे भी पदत्याग हुवा, उनमे सन् १९३५ ई० का सविधान भी स्थगित कर दिया गया। फिर वही सत्याग्रह और वही दमन का चक्र चला। दो सत्याग्रहो के वाद, अगस्त सन् १९४२ ई० को वम्वई मे महात्मा गाँधी ने कांग्रेस की ओर से 'भारत छोडो' का नारा वुलन्द किया। उसी समय सभी नेता जेलो मे वन्द कर दिये गये। ९ अगस्त की ऊषा एक रक्त-रंजित ऊषा थी, जिसकी आभा मे अगले कुछ मासो का इतिहास खूनी रंग मे रगा गया। इधर ऊषा की लाली अभी ढली भी न थी कि और भी पूर्व मे, सिगापुर और वर्मा के क्षेत्र मे, जापान के वढते सूर्य का

प्रकाश लिये, एक नयी आशा-किरण चमकी। स्वतन्त्र-भारत की पहली सेना भारत-भूमि से बाहर बनी। स्वतन्त्र-भारत की इस प्रथम सेना का नेतृत्व करने के लिये ही, मानो उग्र युवक नेता सुभाष बाबू सन् १६४१ ई० मे भारत से भाग कर जर्मनी पहुँच चुके थे। उनके सिंगापुर पहुँचते ही स्वतन्त्र भारत की प्रथम सरकार की स्थापना हुई। अगले तीन वर्षों के थोडे ही समय मे राजनीति, त्याग, दृढ़ता, योग्यता और बलिदान का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत करके यह किरण भी जापानी सूर्य के छिपने के साथ-साथ छिप गई।

महायुद्ध के बाद

सन् १६४५ ई० मे पूर्व और पश्चिम मे मित्र राष्ट्रो की विजय हुई। किन्तु इस विनाशकारी सर्वग्रासी विश्व-युद्ध के बाद—अमेरिका को छोडकर सभी मित्र राष्ट्र ध्वस्त-प्राय हो चुके थे। अपने पुनरुद्धार और पुर्ननिर्माण के लिये वे सभी स्वय अमेरिका से आशा लगाये बैठे थे। उन्हे आन्दोलनो से भरे अपने साम्राज्य बोझिल लगने लगे। महायुद्ध के बाद पहले ही चुनाव में ब्रिटेन की अनुदार सरकार पलट गई। मजदूर-समाजवादी सरकार के पदारूढ होते ही भारत को स्वतन्त्रता देने के यत्न आरम्भ हुवे। सन् १६४६ ई० मे प्रथम अन्तरिम भारतीय सरकार की स्थापना हुई। परन्तु सन् १६४७ ई० की **स्वतन्त्रता** ने देश को दो टुकडो मे बाँटकर एक लम्बे संघर्ष का अन्त लिखा।

सामाजिक स्थिति

इस बीच सामाजिक स्तर पर भी बहुत कुछ परिवर्तन हुवा। हिन्दू-मुस्लिम समस्या उग्रतम बन ही गई थी, जिसका परिणाम भारत-पाकिस्तान के बँटवारे के रूप मे हुवा। हरिजनो को हिन्दुवो से पृथक् करने की नीति भी पर्याप्त सफल रही। काँग्रेस ने सन्तुष्टीकरण की नीति को दोनों ओर अपनाया। हरिजनो की समस्या कुछ सुलझी अवश्य। किन्तु समग्रतः धर्म के आधार पर दल को बढावा देकर स्वतन्त्रता के आन्दोलन को धीमा करने की साम्राज्य-वादी चाल पर्याप्त प्रभावकारी सिद्ध हुई। हरिजनो के मन से इस विद्वेष को दूर करने के लिए गाँधी जी ने काँग्रेस की ओर से भरसक यत्न किया। वे इसे हिन्दुवो का उत्तरदायित्व मानते थे, किन्तु साथ ही हिन्दुवो का एक घरेलू मामला भी! स्त्रियो ने भी इस स्वातन्त्र्य आन्दोलन मे बढ-चढ कर भाग लिया और प्रमुखता प्राप्त की।

शिक्षा —शिक्षा का स्तर अधिकाधिक उच्च और व्यापकतर होता जा रहा था। वैज्ञानिक शिक्षा के समावेश के साथ-साथ देशीभाषाओं को भी शिक्षा मे उचित स्थान मिलना आरम्भ हो गया। विशेषकर उनमे अनुसन्धान-कार्य बढने लगा। क्योंकि इस समय अनुसन्धान-परक उपाधियो के लिये देशी भाषाओं मे शोध-प्रबन्ध स्वीकृत होने लगे थे। अ-हिन्दी-भाषी प्रदेशो मे भी हिन्दी-सम्बन्धी अनुसन्धान की ओर रुचि बढने लगी। विदेशो तक के विश्वविद्यालयो ने हिन्दी की इस अनुसन्धान दिशा मे प्रशसनीय कार्य किया।

युग चतना

वास्तव मे यह युग मानव से बढकर समाज की ओर झुक चुका था। समाज की चिन्ता और तत्सम्बद्ध विचारधारा इतनी प्रबल हो गई थी, कि व्यक्ति का जीवन-दर्शन और आन्तरिक भावना कुछ-कुछ दब-सी गई थी। उसे आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियो ने अभिभूत-सा कर लिया था। साहित्यकार इस प्रभाव से स्वयं कैसे अछूता रह सकता था ? चारो ओर की इन बदलती परिस्थितियो ने उसे भी समाजोन्मुख कर दिया। राष्ट्रीय-आन्दोलन की व्यापकता उसमे अधिक अनुभूति-सप्राण दिखाई देती है। अन्तर्राष्ट्रीय-समाजवाद की अनुभूति उसमे निरी मौखिक ही रही। प्रेमचन्द की सी सामाजिक जीवन की अनुभूति की गहराई कम लेखको मे ही आ पाई। प्रेमचन्द और प्रसाद के नक्षत्रो के साहित्याकाश से अस्त होने के बाद जो साहित्य बना, उसमे विचारधाराओ की प्रबलता, तर्कजन्य शुष्कता, एवं वाणी की अस्थान-गत कर्कशता विद्यमान है। विद्रोह के नाम पर केवल कुछ लेखक ही सप्राण साहित्य का निर्माण कर सके। इनमे भी विशेषता उन्ही कुछ को मिली, जो राष्ट्रीय सघर्ष से स्वय सम्बद्ध रहे। 'प्रगतिवाद' की विचारधारा को 'समाजवादी' विचारधारा से सम्बद्ध करके उसे सीमित करने का प्रयास करने वाले आलोचक यह भूल जाते हैं, कि भारतीय साहित्य मे 'प्रगतिवाद' का अस्तित्व यदि कुछ भी है, तो उस समय के स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी उद्गारो से सम्बद्ध हो कर ही ! एक परतन्त्र राष्ट्र के कवि की आवाज को यदि 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता' और 'समाजवाद' मे से चुनने का प्रश्न उपस्थित हो, तो 'समाजवादी विचारधारा' को मुख्यता देना, किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित भले ही हो, युगानुरूप और स्वाभाविक नही कहा जा सकता। 'राष्ट्रीय-चेतना' और 'समाजवादी-धारा' का यदि कही-कही अन्योन्य-मिश्रण हो गया है, तो यह

समयानुकूल व उचित ही था। अन्यथा **राष्ट्रीयता** के ज्ञान के बिना **अन्तर्राष्ट्रीयता** के नारे व्यर्थ ही हैं।

कुत्सित चित्रण

प्रगतिवाद के नाम पर कुत्सितयथार्थवाद और गर्हित काम-कुण्ठाओ का चित्रण करने वालो के विषय मे भी उपर्युक्त वक्तव्य ही पर्याप्त होगा। जातीय सस्कृति का पोषक साहित्यकार कभी भी युग-स्वर की उपेक्षा नही कर सकता। इस पर, स्वतन्त्रता की पुकार मे असमर्थ कण्ठ जब सामाजिक मर्यादाओ को तोड देने के नाम पर केवल थोथी काम-वासना की भौतिक-तृप्ति को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बना बैठता है, तब उसके बेसुरे राग पर हँसी आने की बजाय करुणा ही उत्पन्न होनी चाहिए। इसे 'निम्न वर्ग के उत्थान की प्रेरणा का साहित्य' न कहकर, उस वर्ग के प्रति असहिष्णु और उसकी अशक्तियो और सीमाओ की खिल्ली उडाने वाला साहित्य ही कहना चाहिये। फ्रॉयड के आधार पर मनोविश्लेषण हो या कुछ और, उसे केवल दिमागी कसरत भर ही कहा जा सकता है, **विजन के गान-मात्र ही** !

चलचित्रों का प्रभाव

एक और सत्य की ओर से भी हमे आँखे न मूँदनी चाहिये। इस युग मे फिल्म के बढते प्रयोग ने, उसकी पूँजी और उसके सस्तेपन ने, उसके आनन्द की समग्रता और व्यग्रता ने नाटको और उच्चकोटि के साहित्य की लोक-प्रियता को कम करने मे पर्याप्त योगदान दिया है। उसका कारण यही था कि फिल्म के हाथो मे पड कर कोई भी उत्कृष्टतम कृति जिस रूप मे सामने आती थी, उसे देखने के बाद, उस कृति का साहित्यिक रूप बोझिल और भयावह ही लगता था। रंगमच की रही सही उपस्थिति भी मिट-सी गई। केवल विद्यालयो या कॉलेजो के रगमच का ही आश्रय रह गया, जिस पर कोई साहित्यिक कृति प्रस्तुत की जा सकती थी। इस युग के साहित्य का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि पर होना चाहिए।

कविता के क्षेत्र में

विद्रोह स्वर

इस युग के पद्य मे 'प्रगतिवाद' का स्वर प्रधान रहा। कुछ लोगो ने उसे समाजवादी विचारधारा से सम्बद्ध कर देने का प्रयत्न किया। इस युग का

'प्रगतिवाद' पूर्व युगो के प्रगति-परक साहित्य से भिन्न ही था। प्रत्येक युग में कुछ न कुछ साहित्य अपने युग की जडता के विपरीत आवाज लिये हुये होता है। खडी-बोली के साहित्य मे हमें यह स्वर भारतेन्दु के समय से भी पूर्व से दिखाई देता है। समाज-व्यवस्था, आर्थिक-व्यवस्था, एव धार्मिक-राजनैतिक क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रगतिशील विचार उस युग मे ही प्रखर होकर सामने आते रहे। द्विवेदी युग मे इसी प्रकार के कुछ कवियों ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के भी नारे को इसी स्वर मे सम्मिलित कर लिया। वस्तुत. विद्रोह की यह वृत्ति भारतीय कलाकार मे आरम्भ से ही रही है। सौन्दर्य-प्रेमी कालिदास की भी वाणी समाज के प्रति मूक न रही थी। नारी, दलित, एव अन्य वर्गों की पीडा का चित्रण उसने सतर्क होकर किया। बाण और दण्डी ने इसे यथार्थ की चरम सीमा तक पहुंचा दिया। तुलसी तक भी अपने समाज की दुरवस्था से विचलित हुवे बिना न रह सके। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', महादेवी, 'निराला', आदि मे भी यही विद्रोही स्पष्ट रहा।

'नवदृष्टि-युग', इस दृष्टि से प्रगतिवादी ही था, क्योंकि विद्रोह उसका भी मुख्य लक्षण था। किन्तु प्रस्तुत युग मे उसे समाजवादी राजनैतिक-आर्थिक-चेतना के युगविद्रोह से सन्नद्ध कर देने का प्रयास हुवा।

प्रगतिवादी कविता

इस प्रकार के लेखक सोवियत रूस की सफलताओ एव विश्वव्यापी समाजवादी आन्दोलनो से अत्यधिक प्रभावित रहे। डा० शिवमंगलसिंह सुमन, नरेन्द्र शर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण 'वर्मा', पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', आदि कुछ ऐसे ही कवि है। 'छायावाद' से प्रगति-पथ पर उतरने वाले 'पन्त' ने इसे बौद्धिक आधार-भित्ति प्रदान की। उनकी कृतियो ने प्रगतिवादी कविता का कभी मधुर और कभी रूक्ष रूप प्रस्तुत किया। उल्लिखित कवियो की कविता मे विद्रोह की आवाज मुख्य थी, किन्तु यह विद्रोह 'सोवियत-क्रान्ति' के प्रशस्ति गीतों के रूप मे भी कई जगह बदल कर रह गया था।

राष्ट्र-प्रेम की कविता

किन्तु दूसरी ओर देश के स्वातन्त्र्य के लिए व्यथित और कष्ट झेलने वाले कुछ कवि थे, जिनकी आत्मा की आवाज किन्ही नारो और विचारो

से प्रभावित न होकर, युग की भावनाओ से प्रखर हुई। राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता इनका प्रण था और वही इनका प्राण। गरीबी, शोषण, और सामाजिक पतन सब का समाधान, इनके लिए, इसी स्वतन्त्रता के प्रश्न से जुडा हुवा था। इस स्वतन्त्रता के लिये ही राष्ट्र को अपनी साँस्कृतिक जडता को दूर करके नवचेतना को ग्रहण करना आवश्यक था। उसके लिए जिस बलशाली विद्रोह की आवश्यकता थी, उसे प्रज्जवलित करने के लिये युगो-युगो के सोये देश मे चेतना भरनी थी, सोये सिह को जगाना था। गीता के बाद यह जागरण का सन्देश स्वामी दयानन्द ने दिया था। पर उसमे धर्मोपदेशक का स्वर भी मिला हुवा था। कवि की वाणी मे अनुभूति से मिलकर जब उस गीत ने अभि-व्यक्ति पाई, तो मानो देश की सदियो से सोई आत्मा ने जागरण के सकल्प मे सिहनाद किया हो। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने छायावादी युग मे गीत रचना आरम्भ की थी, किन्तु उसका स्वर इस युग मे शतधा गु जरित हो उठा। माखनलाल 'चतुर्वेदी' और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी छायावादी युग मे अपनी देन हिन्दी-साहित्य को दी थी। किन्तु इस युग मे भी उनके अनुभूतिमय स्वर की प्रखरता ने हिन्दी को अविस्मरणीय देने दी।

नव-संस्कार

'नवीन' के गीतो मे विद्रोह था, आग थी, किन्तु साथ ही थी मस्ती भी। 'चतुर्वेदी' की व्यग्यात्मक वाणी मे देश के सघर्ष की कटु-अनुभूतियो ने मुखरित होकर नव चेतना का शखनाद किया। उसकी समयानुसार ढलती भाषा ने समय-समय पर अपना कमाल दिखाया। महादेवी की मधुर-वाणी निसर्गत. सामाजिक-पीडा को ही अपनी पीडा मान बैठी थी। अपनी उस पीड़ा को वह 'कटुता' से न भर सकी। किन्तु 'निराला' ने कटुता को कविता माधुरी से सजाकर भी उसकी तीव्रता की अनुभूति को सतीक्ष्ण ही कर दिया। इस युग की उसकी कविताओ मे उच्चतम कवित्व के साथ-साथ आर्थिक व समाजिक कटुता भी पूरी तरह उभरी है। यह सब 'राष्ट्रीयता' या 'राष्ट्र' की आत्मा को पहचान कर ही हुवा है।

युग-चेतना का स्वर

इस युग के नये स्वरो मे युवक की अलहडता, सिह की सजगता, योद्धा

की सप्राणता, और शहीद की बलिदानी भावना लिये जिस युवक कवि का स्वर गूंजा, पूर्व (बिहार) से उगने वाले उस 'दिनकर' (रामधारीसिंह) ने ने केवल अपने प्रान्त का नाम ही उज्ज्वल नही किया, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की चेतना को एक सतेज स्वर मे बाँध-सा दिया। उसके 'कुरुक्षेत्र' को समाजवादी विचारधारा का महाकाव्य कहने वाले यह भूल जाते है, कि 'महाकाव्य' की परम्परागत परिभाषाओ से हीन, विचार-प्रधान, इस काव्य का महत्त्व किसी विदेश की विचारधारा का प्रचार करने मात्र मे नही है। बल्कि उसमे अपने ही देश के भविष्य, उसके भावी राजनैतिक, आर्थिक, और सामाजिक ढाँचे पर 'भारतीय' दृष्टि से विचार किया गया है। शृंगार व वीर मे एक समान रूप मे इतने जीवन्त कवि इस युग मे माखनलाल 'चतुर्वेदी', 'दिनकर' और 'नवीन' के अतिरिक्त कम ही हुवे है। भगवतीचरण 'वर्मा', हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', सोहनलाल 'द्विवेदी' देवराज 'दिनेश', आदि अन्य विद्रोही एव स्वतन्त्रता प्रेमी कवि भी हैं, जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती।

कुछ अन्य स्वर

सुभद्राकुमारी 'चौहान' के नारी हृदय ने वात्सल्य की कोमल धारा के साथ-साथ इस युग मे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के कठोर स्वर को भी गुंजारित किया। परन्तु दूसरी ओर 'अज्ञेय', 'बच्चन', व महादेवी 'वर्मा', आदि कविगण अपनी अनुभूतियो को अपनी-अपनी व्यक्तिगत शैलियो मे व्यक्त रहे थे। पर उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्वो को हम युग चेतना से सर्वथा अछूता और अप्रभावित नही कह सकते। शृंगार का स्वतन्त्र काव्य भी इस समय चलता रहा। किन्तु उसमे भी मादकता वे ही भर सके जिनमे बलिदान की मस्ती और विह्वलता भी थी। 'चतुर्वेदी', 'नवीन', 'दिनकर' का नाम यहां भी सादर लिया जा सकता है। इस समय का अधिकाश सुन्दर काव्य 'मुक्तक' मे ही है, 'प्रबन्ध' भी यद्यपि कम नही है। इसका विस्तृत विवेचन यथा-स्थान ही करेंगे।

गद्य के क्षेत्र में

'गद्य' के क्षेत्र मे भी प्रगति जारी रही। पिछले युग की अपेक्षा किसी निश्चित दिशा मे वृद्धि हुई हो—ऐसा तो नही कहा जा सकता फिर भी पिछले

युग की अपेक्षा इसे 'प्रस्तार या विस्तार-युग' अवश्य कहा जा सकता है। गत युग मे हर नये क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हुई। 'यथार्थ-युग' मे कुछ नयी शैलियो की खोज के साथ-साथ उन क्षेत्रो का नई-नई दिशाओ मे भी विस्तार हुवा। 'प्रगति-युग' का युग-व्यापी व्यक्तित्व हम किसी एक नाम मे बन्द नही कर सकते। किन्तु, अलग-अलग क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वो ने पूर्ण शक्ति व प्रतिभा का परिचय अवश्य दिया।

नाटक

'नाटक' की दिशा मे प्रगति दो प्रकार से हुई। एक ओर 'प्रसाद' की सांस्कृतिक ऐतिहासिक शैली को **सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण 'मिश्र', हरिकृष्ण 'प्रेमी'** ने क्रमश. **राजनीति, संस्कृति,** एवं **अतीत-गौरव** के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे बढाया, और नाटको को अधिकाधिक क्रियात्मक और अभिनेय बनाने का यत्न किया। उनके प्रयत्नो मे विशिष्ट आदर्शों की विनियोजना थी, एवं ऐतिहासिक अध्ययन की सुरुचि। युगानुरूप प्रेरणा के लिये उक्त तीनो ही क्षेत्रो मे बढने की आवश्यकता थी। किन्तु पाश्चात्य साहित्य के अधिकाधिक परिचय ने अपना प्रभाव डाला ही और **'अभिनय-पक्ष'** की प्रधानता बढती गई। कुछ अंशो मे इस क्षेत्र मे पाश्चात्य का अन्धानुकरण हुवा और कुछ क्षेत्रों मे भारतीय परम्परा का पुनरुद्धार हुवा। इस युग मे अन्य भी अनेक नाटककार हुवे।

एकांकी नाटक

किन्तु, दूसरी ओर इस युग की समृद्ध देन 'एकाकी-नाटक' हैं। पिछले युग मे इनका सूत्रपात हो चुका था। जीवन की समस्याओ के चित्रण के लिये भी इनका उपयोग होने लगा था। किन्तु कॉलेजो मे एव जनता मे खेले जाने के प्रलोभन ने उत्तरोत्तर इनकी नियोजना मे सुधार ही किया। निर्देशन-सूत्र कुछ लम्बे होते गये। किन्तु धीरे-धीरे दृश्य योजना कम करने की ओर लेखको का ध्यान आकृष्ट हुवा। कार्य की सुनिश्चित योजना एव उद्देश्य की तीव्र एकता की स्वीकृति के वाद दृश्यो की अधिक सख्या हास्यास्पद ही प्रतीत होती है। हमारे रगमच मे दृश्य-परिवर्तन की कितनी ही सामर्थ्य हो, एक ही समस्या या एक ही लघु-उद्देश्य का पोषण विस्तृत दृश्यो मे होने से कथा-सूत्रो के विकेन्द्रित होने की सम्भावना रहती है। इस दिशा मे, कलात्मक दृष्टि

से, गोविन्ददास 'सेठ' के कुछ प्रयोग मौलिक और प्रभावकारी सिद्ध हुवे। उन्होंने दृश्यो की संख्या घटाई, व एकांकी को अधिक सोद्देश्य बनाया। समस्या-नाटको से लक्ष्मीनारायण 'मिश्र' धीरे-धीरे सांस्कृतिक-नाटको के क्षेत्र मे आ चुके थे। किन्तु सांस्कृतिक समस्याओ को उन्होने एकांकियो के माध्यम मे अधिक अच्छी तरह व्यक्त किया। श्री 'सेठ' के एकांकियो मे कार्य और विचार साथ-साथ चलते है। 'मिश्र' के एकांकी विचार-तत्त्व प्रधान होते है। एकांकी क्षेत्र मे हरिकृष्ण 'प्रेमी' को सफल एकांकीकार नही कहा जा सकता। इस क्षेत्र मे प्रगतिवादी विचारधारा को अपनाकर भी युगानुरूप विचार करने वालो मे भगवतीचरण 'वर्मा', रामकुमार वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णुप्रभाकर, आदि अनेक उत्कृष्ट एकांकीकारो के नाम आते है। इन सबमें ही अनुभूति-प्रवणता के साथ-साथ अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य भी है।

उपन्यास

'उपन्यास' के क्षेत्र मे भी इस समय पर्याप्त प्रगति हुई। यथार्थ की जो प्रगति प्रेमचन्द के हाथो हुई थी, उसे विभिन्न दिशाओ मे बढ़ाया गया। यथार्थ की एक दिशा सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र मे थी। इस दिशा मे 'राहुल' सांकृत्यायन और यशपाल जैसे समाजवादी विचारधारा के पोषक भी थे, और उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण 'वर्मा', भगवतीप्रसाद प्रसाद 'वाजपेयी', रांगेय 'राघव' जैसे सामान्य प्रगति-प्रिय भी। मध्यवर्ग की कठिनाइयो की चर्चा करना ही किसी भी लेखक को 'प्रगतिवाद' के संकुचित दायरे में आबद्ध नही कर देता। सियाराम शरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र 'जोशी' के उपन्यासो मे भी प्रगति के विद्रोही लक्षण स्पष्ट हैं। किन्तु मनोविश्लेषण के जो मनोवैज्ञानिक प्रयोग उन सब की कृतियो मे हुवे है, उनका क्षेत्र काम-कुण्ठाओ के चित्रण तक ही सीमित रह गया है। जीवन की क्रियात्मक अनुभूति की सम्पन्नता कदाचित् इन बौद्धिक लेखको के साहित्य को अधिक सहज और ग्राह्य बना देती। भगवतीचरण 'वर्मा' का 'चित्रलेखा' इनसे भिन्न स्तर पर ही बना था। उसमे समस्या होकर भी गहराई थी, और थी क्रियात्मक अनुभूति भी। समाज की अनादि-समस्या पर, सशक्त शैली मे, उसमे विचार किया गया था। ऐतिहासिक धारा मे वृन्दावनलाल वर्मा के प्रयोग, युग की समस्याओ को प्रच्छन्न रूप मे अन्तर्हित किये, बढ रहे थे। उनकी वर्णनात्मकता ने हिन्दी

पाठको का ध्यान पर्याप्त खीचा । हजारी प्रसाद 'द्विवेदी' की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जीवनी और उपन्यास के बीच का एक नया प्रयोग था । इन सब के अतिरिक्त शृंगारी और रोमासप्रिय उपन्यासो की धारा मे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, आदि के नाम अविस्मरणीय है । वे सब जैसे युग से अप्रभावित ही थे । उस प्रकार का यथार्थ युग के प्रति आंख मूदकर ही उचित ठहराया जा सकता है ।

कहानी

'कहानी' के क्षेत्र मे भी प्राय: इन्ही लेखको ने पथ प्रशस्त किया । **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र 'जोशी', 'अज्ञेय', 'जैनेन्द्र', सियाराम शरण गुप्त, विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव**, आदि के नाम इस दिशा मे गौरव से लिये जा सकते है । **यशपाल** आदि, की कहानियो को शुद्ध राजनैतिक कहकर ही उपेक्षित नही किया जा सकता । कहानी जीवन-विवेचन का सशक्त माध्यम बन चुकी थी । उसमे कथा-तत्त्व की अपेक्षा वक्तव्य-विषय की प्रधानता होती गई । शैली मे भी, भाषा-लालित्य और वर्णन विस्तार की अपेक्षा, भावना को अनावृत रूप मे प्रस्तुत करने का ढग अधिक चल पडा । भाषा की सरलता के साथ-साथ व्यग्यात्मकता भी बढी । शब्द-चित्रणो के द्वारा वर्णन की बारीकी और सजीवता पर अधिक ध्यान दिया गया ।

निबन्ध

निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र मे भी पर्याप्त प्रगति हुई । निबन्धो मे एक ओर **हजारी प्रसाद 'द्विवेदी', माखनलाल 'चतुर्वेदी', नन्ददुलारे वाजपेयी,** एवं बाबू **गुलाबराय** जैसे सरल व निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति वाले व्यक्तित्व सामने आये, जिनकी शैली मे निरलंकार सौन्दर्य के साथ-साथ वक्तव्य के प्रति स्पष्ट दृष्टिकोण की प्रधानता थी । दूसरी ओर, सामाजिक, दार्शनिक, और आर्थिक चेतना को लेकर भी अनेक निबन्ध लिखे गये । इनमे भगवानदास 'केला', डा० देवराज, राहुल साकृत्यायन, आदि की प्रमुखता थी । छायावादी लेखको मे से शान्ति-प्रिय 'द्विवेदी', महादेवी 'वर्मा', सुमित्रानन्दन 'पन्त', एव सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', आदि के व्यक्तित्वो की विविध अभिव्यक्तिया, उनके निबन्धो या सस्मरणो के बहाने से, सामने आई । कुवर सुरेशसिह, रामेश 'वेदी', 'विराज', हरिवश, व श्रीराम शर्मा जैसे सिद्धहस्त लेखको ने शिकार व प्राणी-जगत् के

सम्बन्ध मे भी लेख लिखे। विचारधाराओ पर आधारित निबन्धो मे प्रकाशचन्द्र 'गुप्त', नलिन विलोचन शर्मा, रामवृक्ष 'बेनीपुरी', रमेश 'बक्षी', शिवदानसिंह 'चौहान' आदि के निबन्धो को प्रमुखता प्राप्त है। निबन्ध क्षेत्र को इस काल मे सबसे बडी हानि हुई 'शुक्ल' जी की मृत्यु से। डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, गौर 'अज्ञेय' के नामो के समावेश के बिना यह गिनती अधूरी रहेगी। नगेन्द्र की आलोचनात्मक, जैनेन्द्र की आन्तरिक अनुभूति-प्रवण, एवं 'अज्ञेय' की तर्कात्मक अभिव्यक्तियो ने इस क्षेत्र को अत्यन्त समृद्ध किया है। इनके अतिरिक्त पत्रि-काओ व पत्रो के माध्यम से भी इस क्षेत्र मे अनेक प्रतिभाये सामने आई हैं।

आलोचना

आलोचना के क्षेत्र मे बाबू गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी, एव हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम ऐतिहासिक-पद्धति के लेखको मे विख्यात है। इन्होंने इतिहास-परक आलोचना मे निष्पक्ष एव काव्य-सौन्दर्य-निष्ठ दृष्टिकोण को बढावा दिया। शोध की पाश्चात्य लीक पर चलने की अपेक्षा इन्होंने अपनी ही सरणि निश्चित की। डा० देवराज, डा० रामविलास 'शर्मा', डा० नलिन विलोचन शर्मा, आदि को प्रगतिवाद समीक्षको मे महत्त्व दिया जा सकता है। डा० नगेन्द्र का क्षेत्र इनसे भिन्न है। उन्हे हम तटस्थ आलोचक कह सकते हैं। एक ओर वे भारतीय रसवाद से अत्यधिक प्रभावित हैं, किन्तु दूसरी ओर पाश्चात्य आलोचना के अध्ययन ने भी उन्हे पर्याप्त प्रभावित किया है। उनकी भाषा मे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा-सी ही सहज सामर्थ्य है। समन्वय की एक अन्तर्हित भावना भी उनमे विद्यमान है। आलोचना मे मनो-विश्लेपण-तत्त्व का समावेश उनके पाश्चात्य-प्रभावित दृष्टिकोण की ही देन कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त डा० सोमनाथ गुप्त, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सूर्यकान्त, मोहन वल्लभ 'पन्त', डा० सीताराम 'चतुर्वेदी', आदि अनेक विद्वानो के आलोचना ग्रन्थ इस युग मे प्रकाशित हुवे। डा० रामकुमार वर्मा का 'आलोचनात्मक इतिहास' उनके विस्तृत अध्ययन मे अनुसन्धान-वृत्ति की प्रधानता की सूचना देता है।

अनुसन्धान

अनुसन्धान कार्य इन दिनो प्रायः सभी विश्वविद्यालयो मे आरम्भ हो गया था। इसलिये नये-नये विषयो पर नये-नये अधिकारी विद्वानो के कार्य प्रकाश

मे आने लगे। पाश्चात्य विश्वविद्यालयो मे अनेक भारतीय विद्वानो के कार्य के फलस्वरूप उन-उन देशो की विचार-सरणि का प्रभाव भारतीय और हिन्दी-साहित्यिको के विचारो पर भी पड़ा। इस क्षेत्र का कार्य अत्यन्त विस्तृत होता जा रहा है, यद्यपि मौलिकता की दृष्टि से सभी प्रयास स्तुत्य नही है।

मूल-स्वर

इस प्रकार नाना प्रसारणाओ को लिये हुवे इस काल का साहित्य जिन विविध विचारधाराओ मे बँटा, उनमें से मुख्य दो थी—**राष्ट्रीयता व समाज-वाद--सम्बन्धी** विचारधारायें। समय व परिस्थितियो की माग राष्ट्रीयता के पक्ष मे थी। समाजवादी विचारधारा का पोषण अपुष्ट और अनुभवहीन मस्तिष्क नहीं कर सकते थे। हमारा अभिप्राय किसी भी लेखक के ज्ञान व अनुभव की कमी की ओर इगित से नही है, प्रत्युत उस विचारधारा के भारतीय-क्षेत्र के लिये नितान्त वाह्य और विदेशी होने से है। उनके पनपने का क्षेत्र तो भारतीय-स्वातन्त्र्य के बाद ही सम्भव था। उससे पहले के स्वर मे, उस प्रकार की परिस्थितियो के अभाव मे, अपरिपक्वता रहनी स्वाभाविक थी। बौद्धिक चिन्तन की प्रमुखता ने उसे और भी नीरस और शुष्क बना दिया।

द्वितीय चरण : स्वातन्त्र्य प्राप्ति के बाद से

(सन् १९४७ ई० के बाद)

स्वतन्त्रता व विभाजन

सन् १९४७ ई० मे भारत पूर्णत स्वतन्त्र हुवा। उसके स्वतन्त्र होते ही उसे विभाजन के दुष्परिणामो को भुगतना पडा। यह विभाजन भले ही अंग्रेजो की कूट नीति की सफलता का परिणाम कहीं जाये, किन्तु जिस आधार पर यह हुवा उस विषमयता की अग्नि सहस्रो भोले-भाले लोगो के रक्त की अजस्र-बलि-धारा से भी न शान्त हो सकी। अभी पाकिस्तान व भारत की अदला-बदली की समस्या पूरी तरह सुलझी भी न थी कि काश्मीर की पवित्र घाटी मे खून की नदियाँ बह निकली। बचे-खुचे भारत का आन्तरिक एकीकरण अभी पूरा भी न हुवा था, कि **तेलङ्गाना** (आन्ध्रप्रदेश) के भाग मे गृहयुद्ध की सी आग भड़क उठी। किसानो के भूमि पर आधिपत्य के आन्दोलन ने खूनी

व उग्र रूप धारण कर लिया। इसके बाद ही, उसी प्रदेश ने आन्ध्रप्रदेश के निर्माण के लिये आमरण अनशन हुवा। 'महाराष्ट्र' के लिये आन्दोलन चला। 'आन्ध्रप्रदेश' बनने के बाद, सारे देश के भाषावार-पुनर्विभाजन का प्रश्न उठा। इस बीच सन् १९५० की २६ जनवरी को भारत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सार्वभौम गणतन्त्र-राज्य घोषित हो चुका था। उसके प्रथम चुनाव भी हो चुके थे। इन चुनावो मे वामपक्षीय दलो को पर्याप्त सफलता मिली। कुछ राज्यों मे कांग्रेस प्रत्यक्ष बहुमत मे न आ सकी। देशी राज्यो के नव-निर्मित प्रदेशो मे भी स्वार्थी तत्त्वो ने पर्याप्त अवरोध उत्पन्न किये। इस सब के कारण आवश्यक-सा हो गया, देश की इकाइयो का पुनर्विभाजन! इसका आधार 'यदि सम्भव हो, तो भाषा' को माना गया। पंजाब, आसाम, और बम्बई के उलझे प्रश्नो ने कठिनाइयाँ उपस्थित की। शेष भारत का भाषावार पुनर्विभाजन हो गया। इसी आधार पर सन् १९५७ के द्वितीय चुनाव हुवे। पर्याप्त बलिदान और संघर्ष के उपरान्त, द्वितीय चुनावो के कुछ ही समय बाद, बम्बई को भी दो राज्यो मे विभक्त कर दिया गया। ये दोनो राज्य महाराष्ट्र, व गुजरात कहलाये। इसी बीच आसाम और पजाब के प्रश्न कुछ बल पकड गये। पंजाब मे यह प्रश्न वहाँ के धार्मिक प्रश्न से उलझ गया। पंजाब के छोटे से प्रान्त का पुनर्विभाजन राष्ट्रीय दृष्टि से है भी असम्भव! वही हाल आसाम का भी है। वहाँ भी इन वर्षों मे जो घृणा और विद्वेष फैला, उसने फिर से देश के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन की याद दिलायी। पाकिस्तान से आये पूर्वी बंगाल के शरणार्थी अभी पूरी तरह बस न सके थे कि भारत के ही एक भाग—आसाम—के भाषाई दंगों मे सदियो से वहाँ बसे बगालियों को वहाँ से भागना पड़ा। इसके अतिरिक्त नागाओं व पहाड़ी प्रदेशों का प्रश्न शेष था। इनमे से 'नागालैण्ड' अलग बन चुका है, तथा पहाडी प्रदेशो को आन्तरिक स्व-शासन प्राप्त हो चुका है। आसाम के बगालियो का प्रश्न भी कुछ शान्त-प्राय सा दीखता है। पंजाब का प्रश्न कभी बहुत उग्र हो गया था, किन्तु अब वह भी शान्त दीखता है। इस पुनर्विभाजित भारत मे हर भाषा को स्वतन्त्र प्रगति का पूर्ण अवसर मिला है।

सीमान्तों का खतरा

इसी बीच भारत को पिछले कुछ वर्षों से सहस्रो मील के विस्तृत उत्तरी सीमान्त पर एक ऐसे शत्रु का सामना करना पड़ रहा है, जिसे वह सदियों से अपना मित्र मानता चला आ रहा था। चीन की बढती साम्राज्य-लिप्सा

ने तिब्बत के से छोटे किन्तु सप्राण देश को पद-दलित करके, भारत की सीमाओं को अनुरक्षित समझकर हमारे देश मे पर्याप्त दूरी तक प्रवेश पा लिया है। भारत के सचेत होते ही इस प्रश्न को शान्ति से सुलझाने के यत्न आरम्भ हुवे हैं। किन्तु निकट भविष्य मे, इसके सुलझाव की कोई आशा नही है। इसके साथ ही काश्मीर के प्रदेश पर हुवा पाकिस्तान का आक्रमण अब तक भी उसी स्थिति मे है। इसका आधा प्रदेश अब भी आक्रान्ता के हाथ मे है। अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों की दृष्टि से भारत इन प्रश्नो पर युद्ध नही चाहता।

इस पर भी उन्नति

इतना सब होने पर भी, अनवरत एक पर एक सघर्ष का सान्मुख्य करने पर भी, भारत ने घर और बाहर जो उन्नति की है, वह किसी भी समृद्ध-तम देश के लिये स्पृहणीय है। विदेशी-सम्बन्धो की दृष्टि से भारत की तटस्थता की नीति का विश्व मे आदर व सम्मान हुवा है। विश्व मे जहाँ कही भी संघर्ष या युद्ध छिडने की शका हुई, भारत ने शान्ति स्थापना के यत्न किये। उसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे, निभाने पडे। साथ ही विश्वभर के पद-दलित राष्ट्रों की आशा का स्थान उसने ले लिया है। 'सयुक्त राष्ट्र-सघ' (U. N. O) की व्यापकतर कार्यवाहियो मे भारत ने अधिकाधिक भाग लिया है, और अनेक उत्तरदायित्व पूर्ण पद सम्हाले हे। उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, परतन्त्र एव सरक्षित प्रदेशो की क्रमिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे। पंचशील के सिद्धान्त को, जो कभी भारत व चीन के बीच परस्पर-सम्बन्धो की दृढता के लिये स्वीकृत हुवे थे, सम्पूर्ण एशिया ने स्वीकार किया। और, आज विश्व उन्हे स्वीकार कर रहा है। घर मे भी आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक तौर पर स्थिरता और समृद्धि दोनो ही बढ़ी है।

आर्थिक समृद्धि

पिछले दशक मे दो पचवर्षीय योजनाओ को पूरा करके भारत तीसरी पचवर्षीय योजना को आरम्भ कर चुका है। पिछले पन्द्रह वर्षो मे, आर्थिक दृष्टि से, उसकी काया पलट हो चुकी है। औद्योगिक विकास व विस्तार अत्यन्त तीव्र गति से हुवा है। कृषि योजनाओ मे भी अत्यन्त सुधार हुवा है। आर्थिक क्षेत्र मे हम अधिकाधिक आत्म-निर्भर बने है। जनता को उसके फल प्रत्यक्ष रूप मे चाहे अधिक उपलब्ध न भी हुवे हो, प्रत्युत भले ही उसे कुछ कष्टो

को अधिकतर सहना पड़ा हो, तो भी उसके जीवनस्तर पर अप्रत्यक्ष रूप मे समृद्धि का प्रभाव पड़ा है। सामाजिक सेवाओ का विस्तार हुवा है। सामान्य-जन की दैनिक जीवन की सुविधाओ मे भी वृद्धि हुई है। प्रगति के ऐसे अव-सरो पर, युद्ध की वेला की भाति, कुछ बलिदान व त्याग भी करना पड़ता है। अवसरवादी लोग राष्ट्र की प्रगति का दुरुपयोग भी करते है। तो भी उस सब को भावी समृद्धि की आशा मे सह कर बढना होता है। आखिर शासन के सशक्त हाथ समृद्धि व स्थिरता के क्षणो मे उन लोगो के लिये निर्मम भी हो उठेगे।

राजनैतिक स्थिरता

प्रजातन्त्रीय शासन मे जनता यदि अपने सबसे बड़े अधिकार—मता-धिकार—के प्रति ही असावधान हो उठे, तो उसका समाधान सैनिक क्रान्तियों के पास भी नही है। राजनैतिक क्षेत्र मे भारत की सबसे बडी स्थिरता यही है कि आस-पास के अधिकांश देशो मे सैनिक शासन स्थापित हो जाने के बाद भी भारत मे प्रजातन्त्र के प्रति आस्था दृढ ही हुई है। राष्ट्रीय-सुरक्षा के क्षेत्र मे भारत आत्म-निर्भर हुवा है, और वह नित्य प्रगति-पथ पर अग्रसर है। बाधाओ के रूप मे प्रादेशिक राजनीति मे कितने ही उथल-पुथल हुवे हो, साम्य-वादियो का कहीं प्रभुत्व हुवा हो या प्रतिक्रिया-वादियों का, मुक्ति-आन्दोलन छिडा हो या भाषा-आन्दोलन, भारत ने उन्हे **विकराल गृह-युद्ध** का रूप धारण करने नही दिया है। **गोवा, काश्मीर** और **चीन** के मोर्चो पर यदि उसने शान्ति अपनाई है, तो वह किसी अशक्ति के कारण नही; बल्कि 'बढ़ो और बढने दो'—की नीति के आधार पर। 'गोवा' अब स्वतन्त्र हो चुका है। शेष दोनो प्रश्नो के निबटने की भी आशा की जा सकती है।

भूदान-यज्ञ : मूक-क्रान्ति

महात्मा गांधी की नश्वर-काया की समाप्ति के कुछ ही काल के भीतर कृषको की देशव्यापी दुरवस्था से प्रेरित होकर, इस युग के महान् सन्त विनोबा ने कृषको का मुक्ति आन्दोलन, 'भूदान-यज्ञ' के रूप मे, प्रवर्तित किया। भारत के विश्व-व्यापी अहिंसामय शान्ति-प्रयत्नो के सम्मुख, उसके घर मे ही यह निरस्त्र और अहिंसक क्रान्ति का परीक्षण है। इसे पर्याप्त सफलता मिली है। और, अब तो **श्रम-दान जीवन-दान, सम्पत्ति-दान**, आदि के

रूप मे इस आन्दोलन ने जन-जीवन के परिवर्त्तन का एक सर्वग्राही रूप धारण कर लिया है। यहाँ तक कि भारतीय शासन ने भी, साधु-समाज व 'भारत-सेवक समाज' जैसी सस्थाओं को प्रोत्साहन देकर, 'जीवन-दान' व 'श्रम-दान' को **यज्ञ और कर्त्तव्य** का रूप प्रदान किया है। इस परीक्षण ने विश्व भर में उत्सुकता जगाई है।

सामाजिक-प्रगति

शिक्षा व विज्ञान के क्षेत्र मे भी भारत ने विश्व के महान्तम राष्ट्रो के साथ कदम से कदम मिला कर प्रगति की है। **परिवर्त्तन, परीक्षण और प्रगति** साथ-साथ चल रहे है। छोटे व पिछडे वर्गों, अल्पसख्यको तथा आदि-वासियो, आदि को अधिकाधिक सुरक्षा प्राप्त हुई है। धर्म, राजनीति, अर्थ, या समाज की दृष्टि से हरएक को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। **ग्रामो** तक इस स्वराज्य की मशाल लेकर नहरें पहुँची है; **बिजली** गई है; **चिकित्सालय, पाठशाला** और **सड़कें** पहुँची है। तथा इन सबसे बढकर उनकी सदियो-सहस्राब्दियो पुरानी **पंचायतें**, नये उत्तरदायित्वो के साथ, उन गाँवो मे स्वराज्य की ज्योति लेकर, पहुँची हैं। देश के सञ्चार-साधनो ने भी आवश्यकतानुकूल विस्तार ग्रहण कर ग्रामीण जनता तक अपनी पहुँच अधिकाधिक रूप मे की है। अपने ही कार-खानो की खाद और ट्रैक्टर भी किसानो की युगनिद्रा को तोडने के लिये मशीन-युग का सदेश लेकर, गावो तक पहुँचे है। इस प्रकार गाँवो की दुनिया ने नई क्रान्ति के फलो को चखा है।

विश्व का बदलता नक्शा

और विश्व ने तो पिछले महायुद्ध के बाद से, प्रतिक्षण नये-नये युद्धो की आशका और त्रास के वातावरण मे पलते हुवे भी, हर क्षेत्र मे अभूतपूर्व प्रगति की है। कल के परतन्त्र देश आज स्वतन्त्र है। **एशिया और अफ्रीका** सदियो बाद अपनी परतन्त्रता की शृखलाओ को झनझनाकर उठ खडे हुवे है। उनमे आर्थिक प्रगति के लक्षण स्पष्ट हुवे है। परतन्त्रता को हर क्षेत्र से समाप्त करने का निश्चय उन्होने कर लिया है। दूसरी ओर, रूस और अमेरिका की स्पर्द्धा इस धरती से उठकर आकाश मे भी होने लगी हे। भू-उपग्रहो के बाद मानव ने भी अन्तरिक्ष मे उडान भर ली है। सम्भव है वह चन्द्रादि ग्रहो तक भी निकट भविष्य मे पहुँच जाय। परन्तु, धरती का क्षोभ फिर भी मिटा नही है। यहाँ अब भी स्वार्थमय सघर्ष चल ही रहे है।

साहित्य पर प्रभाव

अन्तरिक्ष की इस विजय के बाद से कदाचित् इस धरती पर नुक्तविलास के ऐसे स्वप्न प्रत्येक ससारी जन ने देखने आरम्भ कर दिये है। साहित्य ने इन स्वप्नो को शब्दो मे बाधा है। विज्ञान और साहित्य कदम पर कदम रख कर साथ-साथ चल रहे हैं। विदेशो का साहित्य तो विज्ञान से भी आगे बढ गया है। वह अन्य लोको की यात्रा भी कर आया है। उसने अन्य ग्रहो से धरती के मानव का सम्पर्क भी स्थापित कर दिया है। विज्ञान के लिये अभी वह कार्य शेष है। फिर भी पाश्चात्य साहित्यकार धरती के दुःख, सुख व उसकी चिन्ता से पूर्णतः मुक्त नही हो सका है। आकाश की उड़ान का मूल्याकन उसने धरती मे ही किया है। वह अपने उस आधार को भूल कैसे जाय! विश्व-बन्धुता, शान्ति, व सुखी जीवन के उसके स्वप्न अभी भी पूरे नही हुवे हैं। विज्ञान की इस प्रगति ने उसके इन विधायक स्वरों को कुछ तीव्रतर ही किया है।

भारतीय साहित्य

और भारत मे इन दिनो निर्मित सम्पूर्ण साहित्य इन सम्पर्कों से अछूता नही रहा है। उसमे इन सभी **परिस्थितियो, प्रगतियो, एवं स्वप्नों ने** साकार रूप ग्रहण किया है। अन्तर यही है कि कही साहित्यकार उस सीमा तक पहुच कर अनुभूति ग्रहण कर पाया है, और कहीं उसने केवल सुनी-सुनाई के आधार पर ऐसा किया है। विज्ञान की उस प्रगति से बहुत दूर रहकर, भारतीय साहित्यकार यदि उस वैज्ञानिक परिधि मे साहित्य की रचना आरम्भ भी करदे, तो भी वह जन-जीवन के प्रति अपने कर्त्तव्यो से उदासीन कैसे हो सकता है? "कभी व्योम-कल्पना का क्षेत्र था, आज व्योम सत्य का क्षेत्र है। किन्तु, व्योम का सत्य और उसका स्वप्न तभी मान्य होगा, यदि धरती के सत्य व धरती के स्वप्नो को सही मान मिल सकेगा"।

हिन्दी की स्थिति

इस सबके साथ एक सबसे बड़े सत्य को हमे आंखो से ओझल नही करना है। वह यह कि भारत की गणतन्त्र घोषणा के साथ ही 'हिन्दी' को राष्ट्र-भाषा घोषित कर दिया गया है। भाषावार प्रान्तो का बटवारा उस कटुता का एक निदर्शन मात्र था, जिसे स्वार्थी तत्त्वो ने, 'हिन्दी-साम्राज्यवाद'

का नारा लगा कर जगाया था। परतन्त्र मनोवृत्ति ने अंग्रेज़ी का चंगुल तब भी न छोड़ना चाहा। केन्द्रीय-शासन ने हिन्दी के लिये कुछ किया, तो उसे पक्षपात गिना गया। 'हिन्दी-साम्राज्य' का अर्थ था, उत्तर का दक्षिण पर साम्राज्य। अतः सरकारी सहयोग केवल हिन्दी-प्रचार और हिन्दी-शिक्षा के आरम्भिक प्रयत्नो से आगे नही बढ़ सकता था। विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के सम्मान का अर्थ हुवा, उनके पाठ्यक्रम की पुस्तको व सहायक पुस्तको के छापने मे वृद्धि। 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की दलबन्दी ने स्वतन्त्र उत्साह को भी नष्ट कर दिया। इस सब पृष्ठभूमि पर ही हमे उस युग के साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

कविता के क्षेत्र में

विश्व साहित्य का बदलता स्वर

गत महायुद्ध के बाद जो विचारधारा विश्व भर में फैली, वह थी स्वतन्त्रता की: राष्ट्र की, व्यक्ति की, समाज की, धर्म की, साहित्य की, और सदाचार की स्वतन्त्रता! पिछले चरण के विद्रोह भरे गीतो ने इस नवयुग की पृष्ठभूमि तैयार की ही थी। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व के अधिनायकवाद के सन्त्रास ने भी इसकी भूमिका बनाने में सहायता की। समाजवादी शक्तिया राजनैतिक क्षेत्र मे विजयी होती रही। किन्तु यह विजय वस्तुत. समाजवादी शक्तियो की न थी। समाजवादी प्रसार को साम्राज्यवादियो की घोरतर असफलता एव उसके प्रति विद्रोह ने जन्म दिया था और प्रगति दी थी। वस्तुतः यह सब स्वतन्त्रता की दिशा मे एक प्रयासमात्र था। समाजवाद तो सभी नव-स्वतन्त्र देशो को प्रिय था। किन्तु, इस प्रकार के समाजवादी देशो का, सैनिक जीवन की भाँति, सामूहिक एव नियन्त्रित जीवन मानव की अन्तश्चेतना के सर्वथा विपरीत था। इसलिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा चारो ओर उठने लगा था। इस नारे को 'अमेरिकी-पूंजीवाद' की देन कहकर टाला नही जा सकता। यह वह सप्राण स्वर था, जिसे विचारकों ने इस प्रकार के जीवन की परीक्षा के बाद एक विद्रोह भरे स्वर के रूप मे गुञ्जारित किया था। रूस का बोरिस पेस्तरनैक हो, यूगोस्लाविया का जिलास, या भारत का 'अज्ञेय' उनके प्रयत्नो को, समाजवाद-विरोधी या पूंजीवादी टाइप के न कहकर, मानव की सर्वतोमुखी मुक्ति के प्रयत्नो की एक कड़ी मात्र कहना चाहिए।

भारतीय स्वर की विशेषता

विश्व के ज्ञात इतिहास मे प्राचीनतम संस्कृति के देश भारत की स्वतन्त्रता का जो अर्थ उसके साहित्यकार के लिए हुवा, वह विश्व के साहित्यकार की उपर्युक्त चेतना से अभिन्न ही था। उसने युग-युग के शोषण के अन्त के लिए नारा लगाया। किन्तु मानव के अन्तर् की परीक्षा भी उसकी दृष्टि मे आवश्यक थी। पिछले कुछ दशको मे गाधीवादी विचारधारा ने भारत के सभी साहित्यो को प्रभावित किया है। हिन्दी-साहित्य के अधिकांश साहित्यकार तो उस विचारधारा के निकट सम्पर्क मे रहे भी थे। 'समाजवादी' विचारधारा की हिंसक-मनोवृत्ति के विरुद्ध गांधी जी ने एक सुस्पष्ट आदर्श की स्थापना की थी। वे उस हिंसक मनोवृत्ति के प्राणपण से विरोधी थे। गांधी जी के सामने ही सोशलिस्टो के काग्रेस से अलग हो जाने के बाद, काग्रेस ने शुद्ध 'गांधीवाद' को अपना ध्येय माना था। 'गांधीवाद' की विशेषता यही थी कि उसने **सर्वोदय** की कल्पना की, एक वर्ग के स्थान पर दूसरे वर्ग का शासन लाने की भावना को जन्म नही दिया। विविध वर्गों के शासन की बात करते हुवे मानव की अपनी स्थिति को भुलाया जा रहा था। व्यक्ति और विश्व के सम्बन्धो पर पुनर्विचार के लिये राजनीतिज्ञो और अर्थशास्त्रियों के बाद साहित्यकारों और विचारको की वारी थी। भारतीय साहित्यकार चिन्तन के इस क्षेत्र मे सदा से ही अगणी रहा है। चिन्तन की इस आतुरता ने उसकी आँखे कई वार **यथार्थ** से भी मूँद दी है।

हिन्दी कविता मे 'प्रयोगवाद'

'प्रयोगवाद' के रूप मे हिन्दी पद्य की जो नई धारा 'तार-सप्तक', 'दूसरा' और 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ, 'अज्ञेय' जैसे महान् विचारक के नेतृत्व मे, हमारे सम्मुख आई, वह **'मानवता-वाद'** का ही साहित्यिक रूप थी। उसका **चिन्तन** क्रियात्मक स्तर पर था। उसका दर्शन यथार्थ पर आधारित था।

'प्रयोगवाद' की सत्ता, हिन्दी-साहित्य मे, पर्याप्त विवादास्पद रही है। उसका कारण है, कुछ तथाकथित कवियो द्वारा, इसका मनमाना प्रयोग! अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर इसमे शैली व विचार दोनो के साथ ही कम खिलवाड नही वा है। किन्तु गिरिजाकुमार माथुर, अज्ञेय, गजानन 'मुक्तिबोध', भारतभूषण 'अग्रवाल', रामावतार 'त्यागी', रामानन्द 'दोषी', रमानाथ 'अवस्थी', आदि अनेक कवियो ने इस 'वाद' को एक सुदृढ़

व स्थायी आधार का साहित्य भी प्रदान किया है। अभिव्यक्ति व भावना दोनो मे ही उनका साहित्य समृद्ध है।

पुराने स्वर

'निराला', 'दिनकर', व 'नवीन' ने जिस दर्शन को अपनाया था, उसमे परिवर्तन की आवश्यकता विशेष न थी। केवल उनकी प्रौढता और परिपक्वता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नये मूल्यो के प्रति उन्हे अधिक सजग कर दिया था। प्रयोगवादियों की भाँति उन्हे, काव्य-मर्यादाओ को बिना भंग किये भी, अपनी वाणी सुनाने का अवसर मिला। 'बच्चन' जैसे पुराने कवि का स्वर भी इस नये स्वर मे आ मिला। इनके स्वर मे एक नव-निर्माण की भावना भी थी। राष्ट्र की बदलती भाग्य रेखाओ ने इन्हे अपने प्रति आकृष्ट किया था।

अरविन्द-दर्शन का प्रभाव

अरविन्द के प्रभाव की दार्शनिक क्षेत्र में उपेक्षा कर पाना असम्भव था। इस युग के अनेक विचारको के साथ, पुराने कलाकार 'पन्त' ने भी अरविन्द-दर्शन का विस्तृत जय-गान किया। अध्ययन के प्रति जागरूक और विचारधाराओ के प्रवाह मे बह जाने वाले 'पन्त' ने अपने कवि-जीवन मे यदि किसी विचारधारा को अधिक स्थिरिता से पकडा तो वह यही विचारधारा है। इसका एक मात्रकारण यह है कि इस विचारधारा और उनकी क्रियात्मक अनुभूति मे बहुत कम अन्तर है।

युग काव्य

'दिनकर' के 'रश्मिरथी' तथा 'उर्वशी' महाकाव्यो मे नवयुग का जो सन्देश है, उसमे अपने युग की समस्याओ से भी जूझने का यत्न है। उसकी अनवरत लेखनी समय-सागर की बढती लहरियो पर अब भी अपना नियन्त्रण साधे हुये है। 'पन्त' के काव्यो ने आशावाद का बौद्धिक स्वर अपने काव्यो मे उंडेला, किन्तु 'दिनकर' ने व्यावहारिक उल्लास से स्फुरणा ली। उसके काव्य मे कठोर वास्तविकता भी है, दर्शन की गम्भीरता भी, भविष्य का आशावाद भी, और, इस सबके साथ है युवकोचित आत्म-विश्वास भी! यह आत्म-विश्वास का स्वर और जागरण का सन्देश कदाचित् ही इस युग मे किसी अन्य कवि मे इतने सशक्त रूप मे दिखाई देता है। आत्मविश्वास-मिश्रित विद्रोह का

यह स्वर वीरेन्द्र 'मिश्र', 'नीरज', भवानी 'मिश्र', 'दोषी', 'अवस्थी' 'त्यागी', आदि नवयुवक कवियो के साथ-साथ, युग-पुरातन किन्तु चिर-नवीन माखन लाल 'चतुर्वेदी' के काव्य मे भी मिलता है; यद्यपि 'जागरण' को प्रधानता नही मिली।

'हास्य' के क्षेत्र मे गोपाल प्रसाद 'व्यास' है ही। भवानी 'मिश्र', 'काका हाथरसी', 'चोच', आदि कुछ अन्य कलाकार भी सामने आये है। पुराने महारथी 'बेधडक' और 'बेढब' बनारसी का स्वर भी अभी सजीव है।

लोक-गीत व लोक-धुन

राष्ट्र-निर्माण के उत्साह ने लोक-धुनो पर आधारित गीतों को भी जन्म दिया है। किन्तु ये प्रयोग उपहासास्पद ही लगते हैं। क्योंकि कवि की तादात्म्यानुभूति के स्थान पर इनमे युग पुरातन लोक-गीतों के अनुकरण की वृत्ति अधिक है। कवि ने ग्रामो की बदलती चेतना को कम पहचाना है। इस दिशा मे कुछ चलचित्रों ने भी अच्छे गीत दिये है।

अपरिवर्तित जड स्वर

देश पर पडी मुसीबतो ने सभी भारतीय भाषाओ के कवियों के साथ-साथ हिन्दी कवि को भी देश की सुरक्षा के प्रति स्वर सजग करने को प्रेरित किया है। परन्तु, कुछ क्षेत्रो मे कवि अब भी अपने उर की पीड़ाओं और व्यथाओ को लिये हुवे चल रहा है। उर्दू कवि के न बदलने वाले स्वर ने ही हिन्दी के नवयुवक कवि को कभी-कभी ऐसा विवश किया है। अन्यथा नव-युवक कवियो मे से अनेक ने नारी की भृकुटि मे नव-युग के क्रान्ति सन्देश को पढ लिया है, और उसकी विलासिता के स्थान पर उससे प्रगति के लिये प्रेरणा की माँग की है। 'मुक्तक' इस युग का प्रधान स्वर है। पर इस युग मे भी कुछ उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य बने है। उनका मूल्यांकन आगामी युग ही करेगा। यह युग परिवर्त्तन का युग है, इस युग की कृतियो को हम स्वय आँक नही सकते। इन स्वरो के साथ-साथ हिन्दी मे प्रगतिवादियो का स्वर भी अभी तक कायम है। वे अब भी दबे और खुले स्वरो मे कभी-कभी समाज-व्यवस्था और वर्ग-सघर्ष की बात उठाते है परन्तु उनकी वह साम्प्रदायिक की सी कट्टरता प्राय समाप्त हो चुकी है। 'राष्ट्रीयता' से उसका अधिकाशतः समझौता हो चुका है।

हिन्दी-कविता के अभाव

इन उपलब्धियो के साथ-साथ एक कमी भी इस युग के हिन्दी-कवि के सामने आई है। वह यह कि हमारा कवि विश्व के प्रमुख साहित्यकारों के स्वर में स्वर मिलाने व उसके प्रयोगो का अनुसरण करने को उत्सुक है। यह प्रवृत्ति तो बुरी नही है, यदि हमारा दृष्टिकोण, हमारा परिचय, जीवन, और चिन्तन भी उसी स्तर का हो। पर वस्तुस्थिति ऐसी नही है। हमारे साहित्यकार का परिचय क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। क्रियात्मक अनुभूति भी उसे उसी सीमित व पिछडे स्तर की है। उसका चिन्तन आध्यात्मिक है, पश्चिम की भाँति नितान्त भौतिकवादी नही। उसका जीवन, दुर्भाग्य से, पश्चिम के एक सम्मानित मानव के तुल्य भी नही हैं। उदरपूर्ति की समस्या उसे व्यथित किये हुवे है। इसलिये जब वह धरती को छोडकर आकाश की उडान करने लगता है, तो उसकी अभिव्यक्ति और अनुभूति का अन्तर एकदम सामने आता है। भाषा और शैली की वह सजीवता, अनुभूति की तीव्रता के बिना, काव्य में सम्भव नही है।

गद्य के क्षेत्र में

उपन्यास

गद्य के क्षेत्र मे भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का यह स्वर प्रधान रहा है। उपन्यासो मे 'जैनेन्द्र', 'अज्ञेय', सियाराम शरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, एव इलाचन्द्र 'जोशी', आदि इस चेतना का उपयोग अपने उपन्यासों मे पहले ही से कर रहे थे। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के कुछ पुजारियो ने गर्हित कुण्ठाओं को ही जीवन का आधार मानकर उनका भी चित्रण किया। चतुरसेन शास्त्री, कुशवाहा 'कान्त', दयाशकर मिश्र 'दद्दा', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', 'आवारा', आदि के उपन्यास इस दिशा मे प्रसिद्ध है ही। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र 'जोशी' जैसे प्रसिद्ध उपन्यासकारो की भी अधिकाश कृतियां इन्ही यौन-समस्याओ पर आधारित है। अन्तर यही है कि 'जोशी' व 'जैनेद्र' ने शृगार के अतिरजन द्वारा अपनी कृतियो को सस्ता नही बना दिया है। चतुरसेन शास्त्री ने कही-कही सास्कृतिक-गौरव से भी प्रेरणा ली है। जबकि शृंगारी उपन्यासो की एक बडी श्रेणी सस्ती कोटि के मनोरजन मे, उलझ कर रह गई है। 'यथार्थ' के नाम पर यह सभी व्यापार स्तुत्य नही है। इलाचन्द्र 'जोशी', यशपाल, विष्णु प्रभाकर, व रांगेय राघव, जैसे उपन्यासकारो ने स्वातन्त्र्योपलब्धि के बाद से होने वाले परिवर्त्तनो का आभास भी अपने उपन्यासो मे दिया है।

यशपाल का 'झूठा सच', उपन्यास की अपेक्षा, स्वातन्त्र्योत्तर-इतिहास का कोष सा बन गया है। फिर भी इसमे रोचकता की कमी नही है। वह युग की प्रतिनिधि कृति है। जोशी के 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', व 'जहाज का पछी' में नव-निर्माण की भावना प्रबलतर होती गई है। सामाजिक उत्थान के साथ-साथ व्यक्ति की शक्ति मे भी उनकी निष्ठा है। रागेय 'राघव' ने अनेक कृतियों मे अधिक क्रियात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। अनेक स्थान पर वे असफल भी रहे है।

कहानियां

'कहानियो' मे मानव के अन्त -विश्लेषण, राष्ट्रीय-निर्माण-भावना, व भाव-चित्रण आदि की प्रधानता होती गई है। कहानियो का ढांचा, कथा-विस्तार व कथा-वस्तु के ठोस-रूप की अपेक्षा, वक्तव्य-वस्तु, और भावना की स्पष्टता पर आधारित होता गया है। भाषा व शब्द-चित्रो पर ध्यान देने की अपेक्षा, वस्तु या भाव के चित्रण की सजीवता व स्वाभाविकता पर अधिक बल दिया जा रहा है। पुराने तरीके की रोमाण्टिक कहानियो की मात्रा भी कुछ बढ़ गई है। नवीनतम कहानियो को हम 'क्षणोपलब्धि' या 'क्षण-चित्र' कह सकते हैं ?

निबन्ध, आलोचना

'निबन्ध' व 'आलोचना' इस युग मे एक बडी मात्रा मे लिखे जा रहे है। किन्तु, उनमे कोई विशिष्ट व्यक्तित्व या नवीनता आ पाई हो, सो बात नही है। समन्वयात्मक प्रयत्नो का ही आधिक्य रहा है। शोध और ऐतिहासिक अनुसन्धान का मे कार्य बढा है। परन्तु, तिथि-निर्धारण एव स्थान-निर्णयों के प्रश्नो मे उलझ कर अच्छे से अच्छे आलोचक भी अपने अध्ययन मे किसी नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत नही कर सके है। आलोचना सम्बन्धी भावो व आदर्शों मे कोई विशेष क्रान्ति के लक्षण प्रगट नही हुवे है। पाश्चात्य या भारतीय अनुकरण की अपेक्षा कोई सर्वथा मौलिक वस्तु सामने नही आई है।

एकांकी

'एकाकी' के क्षेत्र मे पूर्व युग की अपेक्षा कुछ अधिक कार्य हुवा है। युग की बदली परिस्थितियो ने 'एकांकी' को जनता तक पहुँचने का सबल माध्यम बना दिया है। पूर्व युग के लेखक तो है ही; अनेक नये लेखक भी सामने आये हैं। लेखक समस्याओ के साथ **नव-निर्माण** की भावना को भी लेकर बढ़ रहा है। काश्मीर का आक्रमण, देश की स्वतन्त्रता, विवाह, शिक्षा की समस्या, तथा

इसी प्रकार के अन्य अनेक विषय आज के एकांकियो के बने है। कही-कही नये प्रयोग प्रतीकात्मक एकांकियो के रूप मे भी हुवे है। सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशकर 'भट्ट', भुवनेश्वर प्रसाद, जगदीश चन्द्र 'माथुर', आदि के नाम इस दिशा मे उल्लेखनीय हैं। नये लेखको मे कणादऋषि भटनागर आदि का नाम लिया जा सकता है। 'रेडियो' ने इन एकांकियो के लिखने मे पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। सामुदायिक विकास की योजना के सचालको ने भी इस माध्यम को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है।

नाटक

'नाटको' के क्षेत्र मे सर्वाधिक लिखने वालो मे सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण 'मिश्र', एव हरिकृष्ण 'प्रेमी' मुख्य है। पुरानी परम्परा के अतिरिक्त इनकी कोई नवीन-धारा सामने नही आई। हाँ, वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक नाटक के कुछ प्रयोग अवश्य किये है। किन्तु उनके एक या दो नाटक ही उपयुक्त ठहराये जा सकते है। भाषा, वातावरण, एव अभिनेयता का उनमे नाटकोचित सन्तुलन नही आ पाया है। नये युग मे रगमंच के निर्माण और विकास पर जितना ही ध्यान दिया जा रहा है, साहित्यिक नाटको का विकास उस स्तर पर उतनी तीव्रता से नही हो पा रहा है। रेडियो-रूपको अथवा ध्वनि नाटको का प्रभाव इन दिनो अवश्य बढता जा रहा है। उधर रगमच के अनुभवी कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने कुछ प्रयोग रंगमच पर किये है। उनके नाटकों के लेखक भी वे स्वयं है। साहित्यकार की दृष्टि से उन्हे सफल नही कहा जा सकता। उनके नाटको मे—'आहुति', 'पठान', 'दीवार', आदि प्रयोग रंगमच पर भले ही सफल रहे हो, उनमे साहित्यिकता का अभाव ही रहा है। फिल्म के बढते हुवे प्रभाव ने प्रगति-युग से ही नाटको के स्वाभाविक विकास मे रुकावट डाली है। नवोदित कलाकारो और साहित्यकार का सहयोग ही इनके समुचित विकास का हेतु बन सकता है। इसके लिये नाटक-मण्डलियो की स्थापना व उचित मानदण्ड वाले नाटको का निर्माण, क्रियात्मक भूमिका पर ही, प्रशस्य होगा। सरकार इसके प्रति सजग है। भारत मे भी विदेशो की भाँति सिने-शिक्षण-सस्था खोली जा रही है।

अन्य क्षेत्र

जीवनी तथा पत्रकारिता आदि के क्षेत्र मे भी प्रगति हो रही है। पुस्तका-

लय-आन्दोलन के विकास के साथ-साथ पुस्तकों की बिक्री भी बढ़ रही है। साथ ही प्रकाशकों की भी बाढ़ आ गई है। 'हिन्दी' राष्ट्र-भाषा स्वीकार की जा चुकी है। किन्तु राष्ट्र के कुछ प्रगति-विरोधी और भ्रान्त तत्त्व, उसके साम्राज्यवाद का नारा लगा कर, उसके विरुद्ध एक दूषित वातावरण बना रहे हैं। हिन्दी के उत्थान के लिये सरकार और विश्वविद्यालयों के नारे प्रायः उसके सरलीकरण एव शिक्षा के स्तर पर उसके प्रसार तक ही सीमित हैं। साहित्यकारों को प्रोत्साहन देने के लिये 'अकादमियो' (संस्थाओ) की स्थापना तथा पुरस्कारों की योजना हुई है। परन्तु हिन्दी के लिये कुछ विशेष नहीं हुआ है। उसे भारत की अन्य तेरह भाषाओ के समकक्ष मानकर ही चला जा रहा है।

वास्तविक समस्या

इस प्रकार सरकार और प्रकाशको का ध्यान एक विशिष्ट पहलू की ओर ही केन्द्रित है। सामान्य जनता के स्तर का या विश्वविद्यालयो के शिक्षा-स्तर का साहित्य ही प्रकाशन पा सकता है। साहित्यकार के हृदय के स्वतन्त्र उद्‌गारो को प्रकाशित करने, उसे प्रोत्साहित करने, व उसे लाभान्वित करने की भावना बहुत कम प्रकाशको मे पाई जाती है। जहाँ प्रत्यक्षतः यह है, वहाँ भी शोषण के फौलादी पञ्जे लेखक के श्रम को निचोड़ लेते है। प्रेमचन्द और भारतेन्दु की भाँति सारी सम्पत्ति लुटाकर भी लेखक यदि एकाध रचना प्रकाशित करने मे सफल हो जाये, तो विज्ञापन और प्रकाशन के युग मे उसकी पहुँच कहाँ तक होगी ? अतः सरकारी प्रोत्साहन के अतिरिक्त अच्छे प्रकाशको के भी सजग होने की अवाश्यकता है।

यदि राष्ट्र भाषा के उत्तरदायित्व से पृथक् करके भी हिन्दी को एक जीवन्त भाषा स्वीकार कर लिया जाये, और उसके तथा अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन के लिए कुछ स्वतन्त्र उद्योग किया जाये, तभी साहित्यिक दृष्टि से बहुत कुछ अन्तर्हित उपयोगी तत्व प्रकाशन में आ सकेगा। और, तभी हम इस सम्पूर्ण साहित्य की उपलब्धियों और अभावों का सही अनुमान कर सकेंगे। अन्यथा अप्रकाशित विशाल साहित्य से परिचय के अभाव में हम अपने साहित्य के विषय में अनेक भ्रान्तियों में ही पड़े रहेंगे।

आधुनिक - साहित्य

आधुनिक कविता

खडी-बोली का बढता महत्त्व

आधुनिक हिन्दी-साहित्य को प्राय हम खडी-बोली के साहित्य के रूप मे जानते हैं। गद्य मे खडी-बोली का आरम्भ उत्क्रान्ति-युग की आदि-सीमा से भी पर्याप्त पहले हो चुका था। परन्तु पद्य मे इसका प्रयोग नवदृष्टि-युग के आरम्भ होने पर भी पूरी तरह शुरू न हुवा। पद्य की भाषा पिछली सदियो मे, प्रायः सार्वत्रिक रूप मे ही, व्रज भाषा के रूप मे रूढ हो चुकी थी। स्थानीय और प्रादेशिक कवियो को छोड कर प्रायः सभी प्रशस्त साहित्यिकारो ने व्रज मे ही कविता करना अपना धर्म समझ लिया था। साहित्यिक भाषा के रूप मे उनके सामने कोई अन्य युगादर्श भी न था। धीरे-धीरे कविता की शैली और भावना रूढ होती गई। विषय तो थे ही युग पुरातन। जीवन से सम्बन्ध टूटने पर हर म्रियमाण कविता मे यही लक्षण आ जाते है। गद्य मे खडी-बोली के इतनी तीव्रता से प्रवेश और प्रसार का एक-मात्र कारण था, युगव्याप्त परिवर्तन और उसके प्रति नये साहित्यकार की सजगता। हिन्दी कवि इस नये व सजग कलाकार की भाषा तथा उसके स्वर से अपरिचित था। वर्षो से उसके काव्य-विषयो मे हृदय के स्वतन्त्र उल्लास को स्थान न मिल पाया था। जहाँ मिला उसे सन्त-साहित्य, भक्त-साहित्य, या इसी तरह का अन्य कोई नाम दे दिया गया। कवि का कार्य ही मान लिया गया था—रूढ विषयो की रूढ़िगत चर्चा मे उक्ति-वैचित्र्य का आनन्द मात्र लेना। जीवन-दृष्टि के सकोच एव अनुभवहीनता ने उसकी मनोवृत्ति को संकुचित कर दिया। विद्रोह के प्रति उसका आत्मा निष्प्राण-सी हो चुकी थी। जन-जीवन की प्रतिक्रिया से उसका हृदय सर्वथा शून्य था। कविता के इस 'विलास-क्षेत्र' मे उसे फँसाने के लिये दरबारो की रसिकता ने मोहक-जाल का कार्य किया। कल्पना के कृत्रिम जीवन मे फंसकर कवि चारो ओर के जीवन की कठोर वास्तविकताओ से अछूता-अनजाना रह गया। इसीलिए जब चारो ओर होने वाले परिवर्त्तनो ने भी उसे अपने विद्रोही-

नेतृत्व के उत्तरदायित्व के प्रति सजग न किया, तो यह आश्चर्य का विषय न था। खड़ी-बोली गद्य के अधिक उपयुक्त किसी और कारण से न थी, बल्कि इसी कारण कि वह, 'व्रज' के समान साहित्य की रूढ भाषा न होकर, सम्पूर्ण भारत मे बोली और समझे जाने वाली जन-भाषा थी।

जन-भाषा का माध्यम

जन-भाषा का माध्यम अपनाने के उत्सुक साहित्यकार जन-जीवन की प्रतिक्रिया मे अछूने कैसे रह सकते थे? फिर उनमे से अधिकाश निरे साहित्यकार न थे। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह आत्म-विलास या आत्म-विनोद के लिये न होकर, जनता को कुछ समझाने, उस तक अपनी बात पहुँचाने के लिये लिखा था। उत्क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण साहित्य इसी भावना से लिखा गया। इसीलिये जन-भाषा का रूप निखर मँजकर सामने आना आवश्यक था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु की भावना भी 'जन' तक पहुँचने की रही थी। परन्तु उनमे और उत्क्रान्ति-युगीन लेखको मे एक अन्तर था। भारतेन्दु साहित्यकार थे, जन-चेतना के प्रति सजग कलाकार! उन्हे प्रचार अभीष्ट न था, किन्तु जन-रुचि को परिवर्त्तित करने व जगाने की भावना उनमे भी थी। इस सब के लिये उन्होने सीधी प्रचार-पुस्तकें न लिखकर कवित्व का आश्रय लिया।

स्वानुभूति व युग-पीड़ा —अपने साहित्य की विविध दिशाओ मे उन्होने जो कुछ भी व्यक्त किया है, वह उनकी **स्वानुभूति** है! अन्तर यही है कि कलाकार की चेतना ने सजग होकर युग-पीडा को अनुभव किया है। अपने जीवन के हर्ष-विषादो से भी अधिक उसका हृदय इन युग-व्याप्त हर्ष-विषादो से अधिक आन्दोलित रहा है। कवि का कार्य, उसकी दृष्टि मे भी कदाचित्, **काव्य-विलास** ही रहा होगा। किन्तु, निश्चय ही उसका अर्थ विलासमय क्रीड़ा और उपहास की भावना न होकर, बृहत्तर-सत्य से परिचय की अवस्था मे होने वाले, युग से तादात्म्य-जन्य 'आनन्द' से है। कवि जगत्, राष्ट्र, या समाज के दुख की असीमता मे डूबकर अपने व्यक्तिगत दु.ख की सीमाओ को भूल जाता है। इस भूलने मे भी उसे आनन्द आता है। भारतेन्दु के काव्य की इस नवीनता ने उन्हे अपने पूर्ववर्त्ती साहित्यकारो से एकदम भिन्न स्तर पर स्थित कर दिया।

यथार्थ की स्पष्टता . नयापन—इससे पूर्व सन्तो और भक्तो के साहित्य

मे भी युग-पीडा की यह भावना दिखाई दी थी, किन्तु, उनके आध्यात्मिक आवरण मे यथार्थ अधिक स्पष्टता ग्रहण न कर सका। भारतेन्दु के बाद यथार्थ की यह स्थूल-स्पष्टता साहित्य का प्रमुख लक्षण ही बन गई। इसे हम 'नई चाल' की कविता कहे, या कविता का 'नया-युग' : कविता यही से अपना नया रूप ग्रहण करती है।

पुराण और नव—भारतेन्दु का काव्य जहाँ एक ओर नये-युग की सूचना देता है, उसमे नयी भावनाये और नये विषयो का समावेश हुवा है, वहाँ उसमें युगो पुरानी भावनाओ और सार्वयुगीन विषयो को भी नये रूप मे प्रस्तुत किया गया है। **समाज-सुधार**, **देश-प्रेम**, एव **राष्ट्रीय-गौरव** की भावनाये जहाँ उनके काव्य की नयी दिशा को सूचित करती है, वहाँ श्रृंगार, भक्ति और **प्रकृति-चित्रण** जैसे पुराने विषयो को भी उन्होंने नये ढग से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उनका काव्य **युग-सन्धि का काव्य** कहा जा सकता है।

कृष्ण-भक्ति : नई दृष्टि—'कृष्ण-भक्ति' हिन्दी कविता का बहुत पुराना विषय था, किन्तु उसमे आरम्भ से ही 'चक्र-सुदर्शन-धारी' कृष्ण की उपासना के स्थान पर 'रास-मुरली-रत' कृष्ण की ही चर्चा हुई थी। 'राधा' वहाँ एक विशिष्ट प्रेमिका या नायिका मात्र बनकर आई थी। इस परम्परा का आरम्भ हुवा था, पुष्टि-मार्गीय 'लीला-गान' की आवश्यकता तथा व्रज को 'गोलोक' का प्रतिनिधि मानने के कारण। बाद मे नये मतमतान्तरो या बदलते काव्यादर्शो के कारण यह परम्परा जड़ता मे बदल गई थी। 'भारतेन्दु' ने हिन्दी साहित्य मे प्रथम बार **राधावल्लभ** और **सुदर्शनचक्रधारी** कृष्ण के विभिन्न रूपो को एक कर दिया। उनकी दृष्टि मे भारत की तत्कालीन अशक्ति और निष्क्रियता, युवक और युवतियो मे से समान रूप से, दूर करके उन्हे प्रेरित करने तथा प्रोत्साहन देने के लिये **राधा** को वर्तमान युगानुरूप सच्ची **नायिका** बनना होगा, तथा **कृष्ण** का नेता के रूप मे **पुनर्जागरण** आवश्यक होगा। विलास-रत कृष्ण भारत का उद्धार क्या कर सकेगा? उनके काव्य मे कृष्ण-भक्ति का यही स्वरूप स्पष्ट हुवा है। 'गीता' की भावना के आधार पर कवि कृष्ण को देश की उन्नति और स्वतन्त्रता के लिये जगाता है।

श्रृंगार नयी चेतना—रीतिकाल का प्रमुख विषय था श्रृगार! इस क्षेत्र मे भी भारतेन्दु को हम क्रान्तिकारी के रूप मे पाते है। प्रेम के गान और भौतिक-रूप की अपेक्षा, उसके अलौकिक रूप पर बहुत पहले से ही बल दिया जाता रहा है। परन्तु लौकिक प्रेम भी **विभाव**, **हाव-भाव**, आदि के अतिरंजित

चित्रण के अतिरिक्त कुछ हो सकता है, इसकी कल्पना रीति-युग में नही की गई थी। कवि-सम्राट् कालिदास ने शृंगार की इसी नग्नता मे से उस की पावन अलौकिकता को खोज निकाला था। वासना के दुर्दान्त रूप से प्रेम का यह उज्ज्वल रूप सूर और तुलसी के काव्य मे भी सामने आता दिखाई देता है। मीरा और कबीर भी इस पावन प्रेम से पीडित रहे। किन्तु सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य मे प्रेम को भौतिकता से सर्वथा मुक्त नही किया जा सका। भारतेन्दु ने प्रेम को शुद्ध रूप मे भावनात्मक उच्चता की वस्तु बनाकर, इस दिशा मे भी पथ-प्रदर्शन किया।

प्रकृति चित्रण—'प्रकृति-चित्रण' के विषय मे भारतेन्दु पुराने हिन्दी कवियो से भिन्न नही है; फिर भी उनकी एक विशेषता यह है कि वे ऐसे वर्णनो मे उपमादि लिखने मे अत्यन्त सतर्क रहे है। क्योकि उनकी उपमाओ मे अस्वाभाविकता और चमत्कार की अपेक्षा सत्यता का अनुकरण अधिक है।

नये विषय—राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार, तथा सास्कृतिक व आर्थिक-चेतना के प्रति सजगता तो भारतेन्दु का अपना क्षेत्र ही है। उनकी यह प्रेरणा अपने समकालीन साहित्यिको का एक ऐसा दल निर्माण करने मे समर्थ हुई, जिसने अपने साहित्यिक स्वर मे एक धार्मिक-जोश और मस्ती-सी भरकर देश को हर दिशा मे नव जागरण का सन्देश दिया। प्रतापनारायण 'मिश्र' की व्यग्यभरी सामाजिक कविता, वालमुकुन्द गुप्त की आर्थिक-चेतना, बालकृष्ण 'भट्ट', 'प्रेमघन', तथा अन्य अनेक कवियो द्वारा भक्ति एव शृगार आदि का नवीकरण, एव समाज के प्रति सजगता, आदि वाते इस कथन को प्रामाणिक सिद्ध करती है। इन सब के स्वर मे एक विद्रोह-भावना-सी भरी हुई है। नीति-परक वात कहते हुवे भी, वे अपने चारो ओर के समाज के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से मुक्त नही हुवे है।

जन-जीवन : असीम क्षेत्र—इस सब का परिणाम स्पष्ट था। नये विषयो के समावेश से कविता के क्षेत्र मे युग-व्याप्त जडता दूर हुई, तथा एक नये जोश के साथ नव-निर्माण आरम्भ हुवा। कविता का जन-जीवन से सम्पर्क होते ही, विषय-विस्तार के रूप मे, कविता के लिये मानो प्रगति के अनेको द्वार खुल गये।

व्रज-भाषा—इस बढ़ती हुई कविता ने भाषा मे भी अपने अनुरूप परिवर्तन कर लिये। भाषा तो व्रज ही रही; किन्तु उसके पुराने ढांचे मे यह सामर्थ्य

नही रही थी, कि वह इन नयी अभिव्यक्तियो का बोझ वहन कर सके। इसलिये उसकी शब्दराशि मे खडी-बोली का अधिकाधिक प्रभाव पडा। साथ ही शब्दो मे तत्सम वृत्ति भी बढने लगी। भाषा के प्रति सजग-चेतना वाले कुछ कवियो मे तत्सम-वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक प्रधान नही हो पाई।

खड़ी-बोली—साथ ही खडी-बोली मे कविता के प्रयोग होने आरम्भ हुवे। स्वय भारतेन्दु ने 'समस्या पूर्ति' और 'कह-मुकरियों' के रूप मे इस प्रकार की पद्य-रचना आरम्भ की। उन्होने एक पत्र-सम्पादक को कुछ पद्य भेजते हुवे लिखा था, "यदि ये रचनाये पाठको को पसन्द आई, तो और भी लिखने का प्रयास करूँगा।" स्पष्ट है कि जन-रुचि के प्रति इस सजगता ने ही इस युग के कवियो को नये-नये पथ पर अग्रसर होते रहने के लिये सचेत किया था।

एक शब्द मे इस युग की कविता का मुख्य लक्षण ही था, जन-भावना का समादर !

नवदृष्टि-युग की आरम्भिक कविता

भारतेन्दु के बाद और आचार्य द्विवेदी के सरस्वती का सम्पादक बनने से पूर्व 'खडी-बोली' का आश्रय कविता क्षेत्र मे भी अधिकाधिक लिया जाने लगा। इसका प्रधान कारण था जन-भावना के साथ-साथ जन-रुचि का ध्यान ! आचार्य द्विवेदी द्वारा सरस्वती का सम्पादकत्व ग्रहण मानो हर दिशा मे खड़ी-बोली-हिन्दी का विजय-घोष था। द्विवेदी जी स्वयं भी कभी-कभी व्यग्यात्मक-कविता आदि के लिये प्रादेशिक बोली का आश्रय ले लेते थे। किन्तु इस उत्तर-दायित्वपूर्ण पद पर आते ही उन्होने खडी-बोली के प्रति अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति अनुभव कर लिया। उत्क्रान्ति-युग ने जिस प्रकार खड़ी-बोली को गद्य के प्रयोग के उपयुक्त बना दिया था, उस प्रकार का कोई अवसर 'पद्य' के लिये नही आया था। इसके विपरीत भाषा के पुराने आदर्शों मे ही नवीन-विषय ढल जाने से 'ब्रज-भाषा' को ही समृद्धि मिली थी। परन्तु वह भाषा साहित्यिक-कौशल के लिये ही मान्य रह गई थी। विशेषकर गद्य-प्रसार ने 'खडी-बोली' को अत्यधिक लोक-प्रिय बना दिया था। इसलिये आवश्यक था कि कविता को जन-जीवन के अधिक निकट लाने के लिये भाषा का यह अन्तर भी दूर कर दिया जाये। द्विवेदीजी पहले से ही इस आदर्श पर चल रहे थे। दूसरे भी कुछ कवियो के प्रयोग बीसवी शती के आगमन से पूर्व ही आरम्भ हो चुके थे।

'सरस्वती' व द्विवेदी जी का योगदान

किन्तु इन प्रयत्नो को स्थिरता व साहित्यिक मान्यता 'सरस्वती' मे इनके नियमित प्रकाशन से ही मिली। **मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल, गोपालसिंह, नाथूराम शंकर शर्मा,** तथा, स्वयं **द्विवेदी जी** ने इस दिशा मे अथक प्रयत्न किये। **द्विवेदी जी** के प्रयत्न अनेक-विध थे। **एक ओर,** सामाजिक विषयो एव सस्कृत व अग्रेजी आदि के आदर्श अनुवादो के रूप मे वे स्वय खडी-बोली को साहित्यिक स्तर पर समादृत कर रहे थे। उनकी भाषा मे प्रवाह था, और उनकी व्यग्यात्मकता ने उसे बल दिया। उनकी वर्णनात्मकता की वृत्ति ने प्रवाह बढाने मे सहायता दी। **दूसरी ओर,** उन्होने आदर्श के रूप मे खडी-बोली के उपयुक्त सस्कृत के वार्णिक छन्दो के चुनाव पर बल दिया। नये-नये विषयो के चुनाव पर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रभाव डाला। सस्कृत छन्दो के कारण भाषा मे स्वभावतः तत्सम शब्दो का बाहुल्य अपेक्षित था। यह छन्द-परम्परा उस आरम्भिक युग मे लोक-प्रिय भी हुई। इसके कारण भी इस नयी भाषा का सम्बन्ध, अपभ्रंश-ब्रज-अवधी की मात्रा-बहुल सगीतात्मक वृत्ति से टूटकर, संस्कृत-भाषा, सस्कृत-साहित्य, एवं तत्सम्बद्ध भावना से अधिक जुड़ गया। **तीसरी बात** थी—उनके द्वारा, **सम्पादक** और **आचार्य** रूप मे, उस युग के काव्य का स्वय निर्देशन और काँट-छाँट। यह निर्देशन और काँट-छाँट भाषा एव छन्द तक ही सीमित रहती थी। भावना यदि उनके आदर्श से हीन हो, तो वे उसे 'सरस्वती' मे स्थान ही न देते थे। अन्यथा भाषा और छन्द को स्वय सुधारकर, तथा भावना को अक्षुण्ण रखकर, वे उन कविताओ को रूपान्तरित रूप मे प्रकाशित कर देते थे। उनसे इस प्रकार की प्रेरणा और निर्देशन ग्रहण करने वालो मे प्राय उपर्युक्त सभी कवियो का समावेश हो जाता है।

नियन्त्रण और कविता

आरम्भ मे ही इस प्रकार के कठिन नियन्त्रण एव निर्देशन मे भाषा चल निकली। यद्यपि स्वभावत. भाषा एवं रचना शैली के इस ध्यान मे 'भावना' की प्रमुखता तथा भावुक-चेतना मन्द पडती गई। परीक्षणो का युग आरम्भ हुवा। अभिव्यक्ति की व्यग्रता कुछ मन्द-सी पड गई। ऐसी स्थिति मे वर्णनात्मकता का

बढ जाना स्वाभाविक था। स्वय द्विवेदी जी इस प्रकार की कविता को आदर्श मान रहे थे।

मैथिलीशरण 'गुप्त'

'भारत-भारती'—खडी-बोली-हिन्दी को सर्वाधिक श्रेय दिलाने वाली इस युग की कृति थी 'भारत-भारती'। मैथिलीशरण गुप्त की यह एक कृति ही उपरोक्त सभी तथ्यों को हमारे सामने स्पष्ट कर देगी। भारत की साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना मे चहुँमुखी विद्रोह-ज्वाला को धधका देने वाली वह कृति काव्य के उच्चत्तम आदर्शों पर स्थित न थी। किन्तु, सास्कृतिक भावना की प्रबलता, ऐतिहासिक वर्णनात्मकता, सस्कृत के विस्तृत किन्तु गेय छन्द, आदि सभी ने मिलकर इसे जो विषयानुरूप सौन्दर्य प्रदान किया, लोकप्रियता ने जनवाणी पर लाकर उसे उस युग की 'गीता' के रूप मे पलट दिया। जन-जागरण का ऐसा जन-प्रिय महान् काव्य, 'राम-चरित-मानस' के बाद, सम्भवत, यह पहला ही था। 'मानस' भी अभिधा रूप मे वह सब कुछ नहीं कह पाया था, जो इस काव्य मे कहा गया। इसमे उत्थान और उस हेतु प्रयत्न के लिये सीधा जन-आह्वान किया गया था। निश्चय ही इसका स्वर वर्णनात्मक महाकाव्य से मिलता-जुलता था। इसीलिये भावनाओ का वह उमड़ता रूप इसमे नही पाया जाता, जो सूर, कबीर, मीरा और भारतेन्दु की परम्परा के मुक्तक-काव्य मे पाया जाता है। विषय मे ऐतिहासिक वर्णन की प्रधानता के कारण इसका रस भी मुख्यत प्रबन्ध-रस ही रहा है। भाषा बोलचाल की ही रही है। साहित्यिकता के नाम पर उसमे बोलचाल की भाषा से किसी प्रकार का विशेष अन्तर नही है। कोमलता या सरलता विषयानुसार अपेक्षित भी न थी। इसके बाद उनके सभी काव्य उत्तरोत्तर अधिक प्रवाह को लेकर चलते गये। परन्तु बहुत बाद मे ही, बहुत कम काव्यों मे, वे सस्कृत के वार्णिक छन्दो की इस गतानुगतिकता से मुक्त हो पाये। फिर तो 'मुक्त-छन्द' का प्रयोग उन्होने प्रबन्ध काव्य मे भी करके युगादर्श कायम कर दिया। हिन्दी के इस नये रूप को काव्योचित प्रवहण-शीलता से सयुक्त करने मे उनका योगदान स्वीकार करना ही होगा।

हरिऔध

प्रियप्रवास—इनके साथ ही काव्य क्षेत्र मे नव प्रयोग की भावना से उद्बुद्ध

अयोध्यासिंह उपाध्याय ('हरिऔध') ने भी अपना योगदान दिया। उनका 'प्रियप्रवास' खड़ी-बोली का प्रथम महाकाव्य है। 'गुप्त' के 'साकेत' से बहुत पूर्व ही उन्होंने खड़ी बोली मे महाकाव्य-परम्परा की नींव डाली। उनका यह काव्य 'भारत-भारती' से विषय और शैली मे भिन्न था। विषय अत्यन्त घिसा हुवा था—**कृष्ण का मथुरा प्रवास**! किन्तु उसका निर्वाह नव-युग की भावनाओ के रंग मे कुछ इस प्रकार हुवा था कि वह, भक्ति या शृंगार की वस्तु न रह कर, सामाजिक भावनाओ से परिपूर्ण वर्त्तमान युग का एक आधुनिक महाकाव्य बन गया था। कवि की भाषा व छन्द-शैली मे यदि उसे उचित प्रवाह मिल पाता, और कवि का मोह, केवल मुहावरों और लोकक्तियो मे स्थित वक्रता की ओर न रह कर, स्वाभाविक लाक्षणिकता और व्यजना-गत सौष्ठव मे हो पाता, तो निश्चय ही इस काव्य की उपयोगिता अत्यधिक बढ जाती। भावना के उमडते स्थलो मे भी वर्णनात्मकता के मोह ने उसे कवि की स्वानुभूति से कही-कही विरहित कर दिया है। इसकी अपेक्षा वह स्थिति-वर्णन आदि मे ही उलझ कर रह गया है। संस्कृत छन्द, अतुकान्त वृत्ति, लोकोक्ति-बाहुल्य, आदि ने उसकी काव्य-माधुरी को कम ही किया है। फिर भी आरम्भिक महाकाव्य के अनुरूप उसमे सौष्ठव व औचित्य है ही।

अन्य काव्य—इसके कई वर्षों बाद आने वाला उनका 'वैदेही-वनवास' नामक खण्ड-काव्य इन सभी दृष्टियो से अधिक अच्छा था। वस्तुत इस प्रवाह मे उनकी भाषा को माँजने और सशक्त बनाने का कार्य किया था, उनके मुक्तक काव्य ने। रीतिकालीन नीति-काव्य की परम्परा मे भारतेन्दु के समय से ही मुक्तक पद लिखे जा रहे थे। 'हरिऔध' ने भी 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे', आदि के रूप मे इस काव्य मे कौशल प्राप्त किया था। उनका यह अभ्यास ही उनके महाकाव्य आदि को सशक्त-रूप प्रदान करने का कारण बना।

इसके अतिरिक्त **नाथूराम 'शंकर'** की सामाजिक उत्थान एवं चारित्रिक सुधार के स्वर वाली कविता, **रामनरेश 'त्रिपाठी'** की वर्णनात्मक कवितायें, 'पथिक' आदि काव्य, व हिन्दी के विविध काव्य-सग्रहो का 'कविता-कौमुदी' के रूप मे प्रकाशन, **गोपालसिंह** का अनुभूति-प्रधान काव्य आदि अनेकविध सप्राण रचनायें इस युग मे हुई। इन सब का ही अपना-अपना महत्त्व है।

ब्रज-भाषा-काव्य

इनके अतिरिक्त इस युग की काव्य-धारा का एक दूसरा भी अंग था—**ब्रज-भाषा का पद्य**। यू तो इस युग के अधिकाश कवियो ने इसी भाषा के काव्य से आरम्भ किया, किन्तु इस काव्य मे सिद्धहस्तता प्राप्त करने वालो मे 'रत्नाकर' और 'कविरत्न' के ही नाम प्रमुख रूप मे लिये जा सकते है।

भारतेन्दु के साथ कविता रचना आरम्भ करने वाले प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, आदि अनेको कवि इस युग मे भी उत्कृष्ट कविताओ का सृजन करते रहे। उनमे से अधिकाश की काव्य भाषा 'ब्रज' ही रही।

जगन्नाथ दास रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' उनके कवित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी अग है। भ्रमर गीत की परम्परा मे चलने वाला यह शतक एक **खण्ड-काव्य** के रूप मे है। इसकी भाषा, इसके प्रवाह, एव इसके युक्तिक्रम ने इसे एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया। कवि की भाषा व्यावहारिक अधिक है। उसमे पुराने रूपो के प्रति जड आकर्षण विद्यमान नही है। युगानुभूति की दृष्टि से सत्यनारायण 'कविरत्न' को अधिक सफलता मिली। उनका कृष्ण-काव्य आधुनिक युग के अनुरूप ढला हुवा है। भक्त हृदय की तडप भी वहाँ स्पष्ट हुई है। भाषा मे सरलता व प्रवाह भी विद्यमान है। इनके अतिरिक्त 'वियोगीहरि' आदि ने भी ब्रज-भाषा मे ही उत्कृष्ट काव्य रचना की। 'वियोगी हरि' की 'वीर-सतसई' प्रसिद्ध रचना है।

नव-दृष्टि का विद्रोही काव्य

कवि-भावना पर बल—इन सब वैविध्यमय प्रयत्नो ने बहुत कम समय मे ही नये काव्य को स्थिर रूप व महत्त्व प्रदान किया। इस युग के मध्य मे ही जयशकर 'प्रसाद' के कवित्त्व ने, ब्रज-भाषा के माध्यम से, विद्रोहमयी अभिव्यक्ति पानी आरम्भ का थी। भावनाओ की नवीनता के साथ-साथ उसमे 'व्यक्तित्व' का स्वर भी प्रमुख था। अब तक के बाह्यार्थ-निरूपक काव्य से यह स्वर भिन्न था। धीरे-धीरे इनकी रचनायें खडी-बोली के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुई। महादेवी वर्मा का भी खडी-बोली कविता मे प्रवेश कुछ बाद मे, इसी प्रकार से, ब्रज-भाषा के माध्यम से हुवा। प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' के आरम्भिक ब्रज-भाषा-रूप मे ही प्रेम की व्यक्तिगत अनुभूति एव रहस्यात्मक अभिव्यक्ति पूर्णतया वर्तमान थी। महादेवी और पन्त का जो काव्य

वाद मे नारी-सुलभ कोमलता, माधुर्य और उत्सुकता को लिये हिन्दी-साहित्यागण मे उतरा, वह 'प्रसाद' के काव्य के इस आरम्भिक रूप से सर्वथा भिन्न न था। 'पन्त' के कोमल-हृदय को प्रकृति की कोमलता व मोहकता ने अभिभूत कर दिया था। मानो अनन्त-सत्ता का आभास उसे इस प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य मे ही मिल गया हो। आंग्ल कवियो के अध्ययन ने भी उसकी अभिव्यक्ति पर प्रभाव डाला। महादेवी के हृदय मे, नारी-सुलभ लाज के रहते भी, प्रकृति के सौन्दर्य की अपेक्षा, विश्व-पीड़ा के प्रति जो सजगता स्पष्ट हुई, उसने उनके व्यक्तिगत दुख के स्थान पर विश्वात्मक दुख-भावना एवं करुणा को प्रमुखत अभिव्यक्ति दी। यह अवस्था दार्शनिक 'सर्वात्मवाद' से मिलती-जुलती थी।

अनुभूति की एकता : सर्वात्म—'प्रसाद' ने जिस रहस्यात्मक अनुभूति को 'सर्वात्मवाद' के रूप मे अनुभव किया था, 'पन्त' ने उसे ही प्रकृति के सौन्दर्य की असीम गहनता के रूप मे, एवं महादेवी ने विश्व-पीडा की सर्वव्यापकता के रूप मे उसी अनुभूति को पा लिया। आगे चलकर इस प्रकार की अनुभूति के दो भेद हो गये। **कल्पना की सुकुमारता में यह अनुभूति ही 'साध्य' होकर 'छायावाद' कहलाई, जब कि चिन्तन की गहराई में इस अनुभूति के 'मूल-उत्स' पर बढ़ जाने की वृत्ति ने 'रहस्यवाद' का रूप ग्रहण किया।**

'जूही की कली' ' नया मोड़—इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, निराला की कविता—'**जूही की कली**'—का सन् १९१७ ई० मे प्रकाशन। इस कविता ने एक साथ कई क्षेत्रो मे युग-मर्यादा एव काव्य-मर्यादा को तोड कर रख दिया। बगला, सस्कृत, अग्रेजी और हिन्दी का परम-निष्णात कवि इस युग-विद्रोही कविता को **मुक्त-छंद** मे लेकर साहित्यागण उतरा था। उसने अध्यात्म **और नग्न शृंगार** का अभूतपूर्व, एकत्र, चित्रण किया था। उसकी भाषा अत्यन्त सशक्त और सजीव खडी-बोली थी। **वर्णनात्मकता, भावुकता, नाद-सौंदर्य, एव सक्षिप्तता** का एकत्र समन्वय हिन्दी के इस नवीन-काव्य के लिये, इस रूप मे, सर्वथा अज्ञात था। इसकी लोकप्रियता को देख कर, युग की काव्य-सम्बन्धी अनेको मान्यताये एक साथ टूटने से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे महारथी भी घबरा उठे। उन्होने इस प्रकार के प्रयत्नों की खुलकर निन्दा की। कवि 'पन्त' तक ने भी, बाद मे, इस प्रकार के काव्य का विरोध किया। इन सब विरोधो के बाद भी यह कविता अगले युग के व्यक्तित्व व भाव-प्रधान काव्य के लिए विद्रोह-घोष सिद्ध हुई।

वर्णनात्मक काव्य

इस प्रकार नवदृष्टि-युग के प्रथम चरण की उपलब्धियों को भाषा, कवित्व, काव्य-विस्तार, एवं आकार प्रकार सभी दृष्टियो से [illegible] एवं व्यापक कहा जा सकता है। निश्चय ही भारतेन्दु के काव्य में, तथा उनकी समकालिक-कृतियो मे, भावावेश और भावोच्छ्वास की भी झलक दिखाई देती है। किन्तु सामाजिकता का जो यथार्थ-निरूपण [illegible] से आरम्भ हुवा, उसने इस चरण तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं भावावेश को महत्वहीन कर दिया था। 'ब्रज-भाषा' की कविताओं मे गतानुगतिकता का मोह विशेष अधिक था, किन्तु 'भावावेश' की उन्मुक्त-अभिव्यक्ति वहाँ भी न थी। युगादर्शो की प्रेरणा से वह भी कुछ दबा-सा था। युगादर्श और सामाजिकता की चर्चा का अर्थ यह नही कि समुचित रूप मे कविता के वर्ण्य-विषय नहीं बन सकते, या उनका भावावेश मे प्रकृति-गत विरोध है। वस्तुतः, इनके प्रति जब तक कवि की आत्मानुभूति अभिव्यक्ति के लिये मचल न पड़े, तब तक ये विषय काव्य के स्वाभाविक अंग नही बन पाते। भारतेन्दु और उनके युग के काव्य की यह स्वाभाविकता ही उसे द्विवेदी युग के वर्णनात्मक काव्य की रूक्षता से भिन्न सिद्ध करती है। अन्यथा खडी-बोली को सार्वदेशिक बनाने एव उसके काव्य को अल्पकाल मे ही विश्व के उत्कृष्टतम काव्यों के सम-कक्ष कृतित्व मे समर्थ बनाने मे इस युग का जो भाग है, उसे भुलाया नही जा सकता।

चार व्यक्तित्व : 'निराला' की भिन्नता

प्रसाद, पन्त, महादेवी और निराला के व्यक्तित्व खड़ी-बोली के काव्य को लगभग एक साथ ही प्राप्त हुवे, यद्यपि प्रसाद का कृतित्व कुछ पहले से सामने आना आरम्भ हो चुका था। ऊपर जिस सर्वात्मवाद की-सी अनुभूति की चर्चा की गई है, उसे किसी दार्शनिक-सिद्धान्त का अंग समझ लेना भ्रम होगा। 'निराला' के बाद के काव्यो मे, उनके औपनिषदिक अध्ययन के फलस्वरूप, कही-कही ऐसी सिद्धान्त-प्रियता आ गई है। अन्यथा, अन्यत्र उपलब्ध होने वाली यह अनुभूति एक प्रकार के विद्रोही व्यक्तित्व का विकास मात्र ही है। निश्चय ही शेष तीनो व्यक्तित्वो मे विद्रोह की प्रखरता न थी। न ही व्यक्तित्व का वह तीखापन था, जो उनके काव्य मे भी निराला के काव्य के समान ही स्पष्टवादिता भर देता। अध्यात्म, शृंगार, पीडा, दर्शन, सांस्कृतिक भावना,

आदि किसी भी क्षेत्र में 'निराला' का व्यक्तित्व दब कर सामने नहीं आया है। उसने सभी अनुभूतियो को प्रखर शैली मे सतेज व्यक्तित्व के साथ अभिव्यक्त किया है। इसके विपरीत शेष तीनो के व्यक्तित्व मे एक प्रकार का 'सकोच'-सा है। सकोच को फ्रॉयड के सिद्धान्तानुसार कुण्ठाओ से जनित मानना, या फिर बंगला और पाश्चात्य कवियो के सम्पर्क का परिणाम मान बैठना उचित नही है। तीनो के व्यक्तित्व मे यह सकोच भिन्न-भिन्न कारण से आया।

प्रसाद की दृष्टि

प्रसाद के चिन्तात्मक और बौद्धिक दृष्टि से सजग व्यक्तित्व ने उसके कवित्व मे दार्शनिक की एक स्वाभाविक छाया डाल दी। उसने विश्व के प्रत्यक्ष को दार्शनिकता के इस माध्यम से छानकर ही लिया। विश्व के सौन्दर्य और उसकी विकृतियों से प्रभावित उसका हृदय, अन्तत जिस सौन्दर्य के दर्शन कर पाया, न तो वह अध्यात्म का 'ब्रह्म' था, ना ही 'प्रकृति' का 'सौन्दर्य'। प्रत्युत वह था भावना का सौन्दर्य, जो विश्व की पीडा, उसके सुख, व प्रकृति के हास-विलास मे सर्वत्र एक समान झनकता था। उपनिषदो के आनन्द की भाँति, यथार्थ की अनुभूति मिश्रित होकर भी, उसमे एक स्वप्निल आदर्शात्मकता की छाया विद्यमान थी। जिस कवि ने एक बार भी इस दृष्टि को पा लिया वह जीवन के स्थूल हर्ष-विषाद को उसके सीधे से रूप में ग्रहण करने मे समर्थ नही रह पाता। उनका यह 'रहस्यवाद' न तो बगला की ही ऐकान्तिक देन था, और ना ही पाश्चात्य रोमाण्टिसिज्म की उच्छृंखल अभिव्यक्ति। उसमे कवि की स्वानुभूति, उसके अध्ययन, एव उसकी दार्शनिकता का एकत्र समन्वय विद्यमान था।

महादेवी : 'पीड़ा' और 'प्रिय'

दूसरी ओर, महादेवी का संकोच केवल नारी सुलभ ही है। तभी तो विश्व-पीडा की अनुभूति के बाद अपने दुख को तुच्छ मान बैठने वाली यह नारी विश्व-पीडा के प्रति करुणा से गलित हो उसी मे अपने 'प्रिय' को खोज लेती है। जीवन मे नारी की चरम-साध्यता है, 'प्रिय' की उपलब्धि मे! और, जब जीवन का चरम साध्य हो उठा हो 'दुःख', तो उसमे 'प्रियत्व' की उपलब्धि इस नारी को क्यों न होती? दर्शन के 'अध्यात्म' की अपेक्षा, वह स्थूल के इसी सर्वात्म-व्याप्त 'अध्यात्म' से नाता जोड बैठती है। युग-युग से उसके जन्म

मानो इसी व्यथा को मिटाने के लिये हो रहे हैं। पर पीढ़ी पर पीढ़ी बीतने पर भी मानव का यह दुःख कम होने के स्थान पर बढ़ता रहा है। यहां 'प्रवन्ना' का संकोच 'अश्रु' और 'करुणा' के रूप मे सामने आता है। वह 'अध्यात्म' के ब्रह्म को भी 'प्रिय' तभी मानने को तैयार होती है, यदि वह इस विश्व-पीड़ा को हटाये। यदि वह स्वय इस पीड़ा को देने वाला है, तो उसे स्वय भी इसकी अनुभूति लेनी ही चाहिये। और, परिमाणतः। इसे मिटाना भी चाहिये। तब वह, अपनी आत्म-भावना के निकटतम बन जाने पर, उसी 'प्रिय' मे अपनी जीवन-ज्योति को मिला देगी—मिटा देगी। नारी ने जिससे भी 'प्रिय' का नाता जोडा, वह उससे ही खुलकर बात करने की अधिकारिणी नही रह जाती। भारतीय नारी की इस मर्यादा को मीरा सी विद्रोहिनी नारी ही तिलांजलि दे सकी थी। युग-मर्यादा मे पली बढ़ी महादेवी के लिये यह असम्भव है। उसका 'छायावाद' इसीलिये आध्यात्मिकता को स्पर्श करके भी दार्शनिकता की सीमा तक रूढ नहीं बन जाता। दूसरी ओर, वह यथार्थ पर आधारित होकर भी, यथार्थ के स्थूल और नग्न रूप का, नारे लगाकर उद्घोष नही करता। 'निराला' ने जिस पीड़ा को उन्मुक्त अभिव्यक्ति दी, 'प्रसाद' जिसे दार्शनिक आवरण में गहरा बना बैठे, महादेवी ने उसे ही अपनी साधना के आवरण में 'जलते-दीप' की साधनारत 'दीपशिखा' के समान मधुर बना दिया।

सुमित्रानन्द 'पन्त'

और 'पन्त' : इन सबसे पृथक्, परिस्थितियो और अध्ययन से साफ़ प्रभावित होने वाला एक सुकुमार कवि, अपनी अल्पायु के बोझ से झुककर, जैसे एक अज्ञात नारी-सुलभ 'संकोच' मे आ गया। अग्रेजी कविताओ ने उसकी अभिव्यक्ति पर भले ही प्रभाव डाला था, किन्तु पर्वतीय प्रकृति के राशि-राशि सौन्दर्य ने उसकी आँखों को धरती की स्थूलता तक सीमित न रखकर आकाश के जिस अनन्त लोक की खोज के लिए उन्मुक्त कर दिया, उस 'अनन्त सौन्दर्य' के प्रति उनकी सजगता ने उसे विश्व के कण-कण मे वही रमता-रूप दिखा दिया। इस प्रकार 'सर्वात्मवाद' का एक नया रूप, प्रकृति-चित्रण के आवरण मे, उसके काव्य मे प्रकाशित हुवा। विषयानुकूल सौन्दर्य-भावना मे डूबा उसका मन, कोमलता के नैसर्गिक सौन्दर्य से, 'सकोच' मे आ गया।

अभिव्यक्ति के दो रूप

इस प्रकार 'निराला' की उन्मुक्तता ने उसे संकोचहीन प्रखरतर अभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्रदान की। जब कि प्रसाद के हृदय की मधुरता, पन्त के विषय की कोमलता, एवं महादेवी के व्यक्तित्व व गम्भीरता ने उस प्रकार की अभिव्यक्ति के प्रति एक स्वाभाविक संकोच सा उनके काव्य में कर दिया।

'प्रसाद' का कृतित्व

'प्रसाद' की कविता 'आँसू', 'झरना', 'लहर' से होते हुवे, 'कामायनी' तक पहुँचने में कितनी ही सीढ़ियाँ तय कर सकी, किन्तु उनके कवित्व के बाह्य या आभ्यन्तर में कोई आमूल अन्तर आया। यात्रा के प्रथम पड़ाव में जिन भावनाओं का आश्रय उसने लिया था, अन्त तक वे भावनायें सरल, सुस्पष्ट और आन्तरिक बनती गई। उनके सम्पूर्ण-कृतित्व में प्रेम के भौतिक रूप की अपेक्षा प्रेम के आन्तरिक और दिव्य रूप की भव्यता का जो प्रदर्शन है, वह मात्र आदर्श न होकर विकास प्रक्रिया से पुष्ट एवं दर्शन की गरिमा से मण्डित है। इस विषय में उनका कृतित्व कालिदास से मिलता-जुलता है। उस महाकवि के काव्य व नाटकों में भी प्रेम के भौतिक रूप से क्रमशः प्रेम के दिव्य रूप की उपलब्धि ही आदर्श मानी गई है। सूफी 'रहस्यवाद' में यह स्थिति न थी। प्रसाद का 'रहस्यवाद' इसी विकास के सिद्धान्त पर आधारित था।

कामायनी : युग-दर्शन

उनके रहस्यवाद का पूर्ण विकास हुवा 'कामायनी' में। 'कामायनी' में प्रेम के इस रूप की विजय को 'सर्वात्मवादी-दर्शन' से सन्नद्ध कर दिया गया है। **"सबमें एक ही तत्व है, इस सत्य की उपलब्धि से मानव के समस्त विरोध और संघर्ष समाप्त हो सकते हैं"**—यह था वह सन्देश जिसे 'प्रसाद' ने 'कामायनी' के माध्यम से कहना चाहा। यह महाकाव्य उनके दार्शनिक चिन्तन की, व्यावहारिक आधार पर, सर्वोत्तम परिणति भी है। "मानव के विश्वव्याप्त-संघर्षमय जीवन में सुख और चैन के लिये राजनैतिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता कहाँ तक है? तथा उसके व्यष्टि और समष्टि में किस प्रकार का सन्तुलन किस रूप में स्थापित होना चाहिये?" **कामायनी** में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। आज का 'प्रगतिवादी' हिंसा का प्रत्युत्तर हिंसा से देता है। परन्तु, प्रसाद उसे 'प्रेम के द्वारा पराजय' का पाठ

पढाते है। लगता है युग-पुरुष 'गाँधी' के दर्शन ने, वैदिक मर्यादाओ को स्वीकार करके, 'प्रसाद' के कवित्व का रूप प्राप्त कर लिया हो। **संघर्ष को प्रेम से जीतने की प्रसाद की यह भावना उनके नाटकों में भी आरम्भ से ही दिखाई देती है।** मानव के समष्टि और व्यष्टि-विकास के विषय मे प्रसाद का एक ही आदर्श था—सन्तुलित जीवन। निश्चय ही अरविन्द के 'दिव्य जीवन' की भाँति अति-लौकिक न होकर, 'प्रसाद' का यह आदर्श ऐह-लौकिक और व्यावहारिक था। 'समाजवाद' की सामूहिकता और यान्त्रिक-जीवन भावना से भी वे परिचित थे, और फ्राँस की-सी अराजकता-मय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से भी !

'कामायनी' जीवन और जगत् की व्यष्टिगत और समष्टिगत ऐसी ही समस्याओं पर एक व्यावहारिक किन्तु दार्शनिक कवि की कवित्वमय अन्तर्दृष्टि है, जिस पर यदि चलना सम्भव हो तो मानवीय सघर्षों का अन्त अवश्यम्भावी है। गाँधी और विनोवा की दृष्टि में राजनीत और अध्यात्म का आदर्श भी यही है।

अभिव्यक्ति : दो पक्ष

प्रसाद को अपनी इस अनुभूति के अनुरूप अभिव्यक्ति के लिये साधन भी सहज ही मिले थे। भाषा का लालित्य, छन्दो की प्रवाहमयता, चित्र खीचने की क्षमता, एव विशाल शब्द-भण्डार तो उनकी निजी सम्पत्ति थे ही। उनकी उपमाओ की नवीनता भी कही-कही महाकवि कालिदास का स्मरण करा देती है। तीर वरसाती ऊषा और पराजित होकर भागती कालरात्रि का चित्र ऐसे सैकडो चित्रो मे से एक है। किन्तु दूसरी ओर, वे भी कही-कही परम्परागत चित्रणों के मोह मे फस गये है। मनोविज्ञान का महान् पारखी कवि जव प्रकृति के ऐसे गतानुगतिमय चित्रो को असमय प्रस्तुत करता है, तव प्राय. उसकी दार्शनिकता या सांकेतिकता के कारण ही ऐसा होता है। अन्यथा कवित्व की उच्चतम सीमाओं को छूने वाले गीतिकाव्य तथा प्रबन्ध काव्य मे सिद्धहस्त कवि से ऐसी तुच्छ त्रुटियाँ सम्भव न थी !

'पन्त' का काव्य-विकास

'पन्त' ने 'प्रसाद' के ही सम्मुख अपने विकास-क्रम की कुछ अवस्थाये पार करली थी। परिस्थितियो व अध्ययन के प्रति अत्यधिक प्रतिक्रियाशील 'पन्त' का मन सर्वप्रथम जब प्रकृति के रंगीन सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसकी अनन्तता व सार्वत्रिकता से विभोर हो उठा, तो उसे हाड़-मांस की स्त्री से

विरक्ति-सी हो गई थी। उसे प्रकृति मे ही अपनी प्रेयसी का रूप दिखाई देना आरम्भ हो गया था। 'पल्लव' और 'वीणा' की अवस्था पार करके 'ग्रन्थि' तक पहुँचते-पहुँचते उसे किसी के केश-जाल और नयन-युग्म ने उलझा ही लिया। और, सहज द्रवणशील मन को धरती, जल-थल और नभ मे उस 'प्रियतमा' का रूप-मात्र ही दिखाई देने लगा। 'उस' के बिना सब निःसार था। धीरे-धीरे 'परिवर्तन' कविता तक उसे अनुभूति का एक नया स्तर उपलब्ध हुवा : **विश्व में सब कुछ विनाश-शील है, प्रकृति का बाह्यरूप हो या नारी का बाह्य सौन्दर्य !** विश्व की इस विनाश-शीलता पर उसके वेदान्त-सम्बन्धी अध्ययन का प्रभाव था। इससे पूर्व वह अपनी प्रकृति-परक अभिव्यक्ति मे कुछ अग्रेजी कवियो की शैली से प्रभावित रहा था। किन्तु वेदान्ती दृष्टिकोण का यह प्रभाव भी क्षणस्थायी ही रहा।

दार्शनिक स्वर—**उपनिषदो और भारतीय तत्ववाद के अध्ययन** ने उसे जीवन के गहरे सत्यो की ओर आकृष्ट किया। 'गुजन' इन आन्तरिक सत्यों के प्रति उसकी उत्सुकता एव अध्ययन का परिणाम है। अनुभूति की वह गहराई व व्यापकता कवि फिर से न छू पाया, जो उसने प्रकृति से प्रभावित होकर पाई थी। भाषा तथा कल्पना की कोमलता उसका साथ सदा ही देती रही। यह आश्चर्य की बात है कि कवि ने अपने आरम्भिक वर्षों मे ही, 'निराला' की भाँति, कविता मे मुक्त-छन्द के कुछ प्रयोग करने चाहे, यद्यपि अभिव्यक्ति की कोमलता ने इसमे उसे कुशल सिद्ध न किया। युग-प्रवाह मे बहकर 'निराला' का विरोध करने वाले इस कवि ने बाद मे स्वय प्रगतिवादी-काव्य की रचना मे उन मुक्त-छन्दो का खुलकर प्रयोग किया। **कल्पना, अलंकार, भाषा-प्रवाह, कोमलता, एव नाद-सौन्दर्य**—सभी दृष्टियो से उसकी आरम्भिक कवितायें प्रशस्य है।

अध्ययन और युग-चेतना—सन् १९३४ ई० मे ही इस कवि के अध्ययन पर मार्क्सवादी विचारधारा, एव विज्ञान युग का प्रभाव बढता जा रहा था। रवीन्द्र के मानवतावाद, एव **गाँधीजी** के 'दरिद्रनारायण' की भावनाओ ने भी इसे दीन-हीन जीवन की ओर आकृष्ट किया। स्वानुभूति-विहीन कवि, अपने बौद्धिक अध्ययन और चिन्तन के आधार पर, 'प्रगतिवाद' की एक नई दिशा मे 'युगवाणी' मे बढ चला। 'प्रगति-युग' मे भी उसने 'ग्राम्या' मे इसी जन-वाणी का उद्घोष किया। युग का 'शुष्क' गद्य इस अलकृत वाणी की कोमलता को न सह सका। प्रगतिवाद की इस रचना मे अनेक तत्त्व ऐसे थे, जो स्वतः प्रगतिवादी

काव्यभूमि और काव्य-शैली के अनुपयुक्त थे। अनेकों कवितायें, सैद्धान्तिक अनुवाद होने के कारण, कवित्व से सर्वथा हीन रह गई। कहीं-कहीं कविता शुष्क गद्य-मात्र रह गई, और कहीं वह अलंकारों की रुन-झुन से विचारधारा के प्रतिकूल प्रभाव सृजन करने का कारण बनी।

नई दृष्टि : भौतिकता से विराग—बाद में कवि ने अपनी लम्बी रुग्णता के बाद इस वैज्ञानिक-युग की असमर्थता को पहचाना, तथा 'अरविन्द दर्शन' के नवीन अध्ययन ने उसे एक नई दृष्टि दी। अनुभूति की गरिमा एवं आयु की प्रौढ़ता ने उसकी इस दृष्टि को पिछले दो दशकों में पुष्ट से पुष्टतर ही किया है। भारतीय स्वातन्त्र्य ने उसकी आस्था को और भी दृढ़ किया है। अनुभूति की ऐसी गहराई इससे पूर्व उसमें कभी भी, किसी विचारधारा के प्रति भी, नहीं रही। वस्तुत. उसमें भी, 'अरविन्द दर्शन' के अन्धानुकरण की अपेक्षा, क्रमश. उनका अपना दृष्टिकोण ही विकसित होता गया है। अनेकों काव्य इस बीच उसने लिखे हैं। स्वर्णधूलि, स्वर्णकिरण, मधुज्वाल, अतिमा, शिल्पी, आदि अनेकों कृतियाँ इसी धारा के उत्तरोत्तर विकास-क्रम में आई हैं।

इतने युग-परिवर्तनों के बाद भी पन्त की कविता अपनी सहज कोमलता एवं कल्पना-प्रवणता को छोड़ नहीं पाई है। यही उसकी हिन्दी साहित्य को सबसे बड़ी देन है। 'कला और बूढ़ा चांद' उनकी आत्मा की आवाज बन गया है।

'निराला' : बढ़ते चरण—'निराला' ने भी परिवर्तन की अनेक सीढ़ियाँ पार की हैं। किन्तु, 'विद्रोह' का उसका स्वर मृत्यु के क्षण तक भी नहीं दब सका। रोगों ने उसका शरीर जर्जर कर दिया, लोगों ने उसे विक्षिप्त तक कह दिया, परन्तु उसके स्वर की गर्मी अब तक भी युग में एक नई अनुभूति जगा देने की सामर्थ्य रखती है। अब तो उसे भी 'युग-प्रणेता' मान लिया गया है।

परिवर्त्तनशीलता : सत्य एक—वस्तुत. निराला का व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही इतना बहुमुखी रहा है, कि उसे 'परिवर्तनशील' कहना, अपनी अनभिज्ञता का प्रदर्शन मात्र ही होगा। अपनी आरम्भिक कृतियों में ही 'आत्म-पीड़ा' व 'विश्व-पीड़ा' के प्रति उग्रशब्दों में उसने जो स्वानुभूति प्रकट की, वह, प्रत्यक्षत: उसके आध्यात्मिक और सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से भिन्न दिखाई देकर भी, छायावाद और रहस्यवाद की सीमाओं में ही समाहित थी। उसका 'देश-प्रेम' इसी व्यापक-पीड़ा की तीव्र अनुभूति से सजग था। देश, या निर्धन को जगाने के लिये उसके पास, राजनीतिज्ञ की कूट-चातुरी की अपेक्षा, तुलसी सी उपदेश-चेतना थी। इस पीड़ा के साथ-साथ शृंगार को भी वह न भूल सका। 'शृंगार'

का कोई भी रूप उसे ग्राह्य था। किसी लाज-संकोच की आवश्यकता उसके प्रखर व्यक्तित्व ने अनुभव न की। उसके लिये 'अध्यात्म' किसी क्रियात्मक अनुभूति से सर्वथा भिन्न न था। जीवन मे 'प्रिय' का मिलन अध्यात्म के प्रिय-मिलन से भिन्न कैसे हो सकता है ? अन्तर अनुभूति का है। अनुभूति की तीव्रता को यदि अभिव्यक्ति की विशदता मिल जाये, तो कोई भी भावना सशक्ततर रूप में प्रभावकर सिद्ध हो सकती है।

शैली-वैशिष्ट्य—'निराला' की शैली उसके व्यक्तित्व सी विविध रही। महान् पाण्डित्य, कोमल हृदय, निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व, मधुर अनुभूति और शैली की प्रकरणानुकूलता का ऐसा एकत्र समन्वय किसी और आधुनिक कवि मे नही मिलता। यदि ऐसे कवि ने कभी प्रगतिवाद अपनाया भी तो किसी बाह्य या पराये तत्व के रूप मे नही, प्रत्युत आत्मानुभूति के एक अविभाज्य अश के रूप में ही। 'अनामिका', 'गीतिका' व 'परिमल' की कोमल, मधुर, व उदात्त भावना का कवि, 'नये पत्ते' आदि मे भी, किसी दार्शनिक या वैज्ञानिक चिन्तन का अनुगामी न बनकर, अपनी चेतना का जागरूक कवि ही रहा है। और आज मृत्यु से हारकर भी उसकी वाणी, निजी ओजस्विता व सप्राणता से, मृत्यु पर विजय पा चुकी है। उसकी अमर-वाणी ने युग, शासन और भौतिक-वाद की रूढियो को सदा-सदा के लिये एक चैलेञ्ज दे दिया है।

महादेवी : अमर-साधिका

और इन सबसे भिन्न, झञ्झा और प्रलय के थपेडों के बीच आशा और विश्वास लिये चुपचाप बढती चलने वाली एक साधिका अपने चचल-अंचल की ओट मे, मार्ग की प्रदर्शिका 'दीप-शिखा' को बचाती हुई धीरे-धीरे बढ रही है। मध्ययुग के विद्रोही व्यक्तित्व वाली मीरा की जाति की होते हुवे भी महादेवी हृदय से भक्त, स्वर में कवि, सगीत में गायक, भाषा की कलाकार होने के साथ-साथ युग की बौद्धिकता, दर्शनों की आध्यात्मिकता, जीवन की व्यावहारिकता और नारी की मर्यादा को लिये, जिस दिशा में बढ रही है, उसके पथ पर 'व्यष्टि-पीडा' का 'समष्टि-पीडा' से पहले ही समन्वय हो चुका है।

'प्रगतिवाद' क्यों नही ?—व्यष्टि की अनुभूति से समष्टि की अनुभूति की ओर बढकर प्रगतिवाद की एक अलग धारा अपनाने का न उसके लिये कारण है, न आवश्यकता। प्रगतिवाद के पथ पर बढकर नारे लगाने की अपेक्षा, उसका विश्वास अपनी साधना की सतत सजगता मे है। उसके पारिवारिक वातावरण,

उसकी शिक्षा-दीक्षा, नारी-सुलभ हृदय, क्रियाशील जीवन, एवं पीड़ा से सान्मुख्य ने उसकी अभिव्यक्ति को अधिकाधिक समर्थ ही बनाया है। वह अपनी इस अनुभूति को, 'प्रगतिवाद' की बौद्धिक कर्कशता एवं सैद्धान्तिक जटिलता मे उलझा कर, अपना बनाकर कैसे रख पायेगी ?

प्रगति के चरण—विश्व-पीडा से आत्मीयता का यह 'मोह' उसके जीवन की निधि है। और, 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और 'दीप-शिखा' के क्रम से यही 'मोह' निरन्तर घनतर होता गया है। उसे पहले कभी इस साधना-पथ की समाप्ति की आशा रही होगी, किन्तु अब तो इसकी अनन्तता में ही उसने सुख माना है। इन पाँचो पुस्तको मे क्रमश. उनकी भावना के साथ-साथ कला का भी विकास हुवा है। 'नीरजा' भावना और गीति-काव्यत्व की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है। उसके बाद की रचनाओ मे अभिव्यक्ति-कौशल व निरलकार सौन्दर्य उत्तरोत्तर बढता ही गया है। इनके बाद भी महादेवी का गीतिकाव्य विभिन्न रूपो मे स्फुट होता रहा है। वैदिक मन्त्रो के अनुवाद का उनका प्रयत्न, उनके स्वभाव के अनुकूल ही है। पीडा मे भी विलसित उनका हृदय यदि वैदिक ऋषियो के से उन्मुक्त उल्लास को व्यक्त करने मे समर्थ हो सके, तो यह हिन्दी का सौभाग्य ही होगा।

'नवीन' व 'चतुर्वेदी'

इस युग के अन्य छायावादी कवियो मे माखनलाल 'चतुर्वेदी' व बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नामोल्लेख किये बिना यह प्रसंग अधूरा रहेगा। राष्ट्र के इन दीवाने वीरो ने जेल की सीखचो के पीछे भी उल्लास और जीवट की जो जोत जगाई, उसकी अनुभूति अन्यो के लिये सहज थी भी नही ! 'विद्रोह' और 'राष्ट्रप्रेम' दोनो के काव्य मे व्यक्त हुवा, तथा 'शृंगार' का सन्धान भी दोनो ने किया। भाषा मे वर्चस्विता एवं भावो की गरिमा दोनो को प्राप्त है। 'हिम-तरङ्गिणी' और 'हिम-किरीटिनी' के कवि 'चतुर्वेदी' व्यञ्जना के चमत्कार मे अधिक सिद्धहस्त है। उनके प्रेम मे छायावादी सकोच है। कदाचित् उनका ओजस्वी व्यक्तित्व इस क्षेत्र की नवीनता से स्वतः संकुचित हो उठा है। उनकी वाणी आयु की क्षीणता के साथ-साथ क्षीण और मन्द नही हुई है। 'नवीन' के यौवन का विद्रोह उनकी बढती आयु व उत्तरदायित्व भी न रोक सके थे। प्रेम का भावावेग मानो उनकी राष्ट्र-पीड़ा का ही बदला रूप था। 'उर्मिला' (काव्य) के अश्रुवो मे 'विप्लव-गान' (कविता) से कम उत्ताप नही

है। उसे नारी का अभारतीय-वृत्ति का विलाप कहना, अपनी अकुशलता सूचित करना है। विद्रोही के हृदय मे भी कितना प्यार उमडता है ? यह उसी की सूचना है। भाषा मे, व्यग्य का आधिक्य न होकर, प्रवाह तथा गति है। आज वह चिर-नवीन भी काल का शिकार होकर चिर-पुराण बन चुका है।

डा० रामकुमार वर्मा—पूर्वोक्त कवियो की अपेक्षा भिन्न स्वर लिये हुवे, 'रहस्यवाद' के पथिक, रामकुमार वर्मा ने आलोचना-क्षेत्र के साथ-साथ, कविता-जगत् मे भी पर्याप्त ख्याति पाई है। उनकी कविता मे अनुभूति की मार्मिकता के साथ-साथ, दार्शनिकता की गहराई भी उपस्थित है। परन्तु उनका अपना महत्त्व कवि की अपेक्षा आलोचक-रूप मे ही अधिक स्वीकृत हुवा है। वैसे उनका कविरूप किसी भी दशा मे कम महत्त्वपूर्ण नही है।

नवदृष्टि काव्य : सांस्कृतिक नवचेतना की कविता

पाश्चात्य साहित्य के पडे हुवे यत्किचन प्रभाव को छोडकर, यदि इस साहित्य पर विचार किया जाये तो यह काव्य भारतीय-सस्कृति की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व का सिद्ध होगा। इस मण्डली के अधिकाश कवियो ने भारतीय वैदिक और औपनिषदिक साहित्य की अमूल्य निधियो का मन्थन किया है। कुछ ने इतिहास-चेतना द्वारा, तथा कुछ ने देश-दशा के प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा, इस 'भूमि' से और इसके निवासियो से प्यार पाल लिया था। उन्हे भी सास्कृतिक गौरव की भावना विरासत मे मिली थी। उधर गाधी जी के आगमन ने भी स्वधर्म व स्वसस्कृति के प्रति गौरव की भावना जगाई। अत इस सम्पूर्ण काव्य की पृष्ठभूमि को समझने के लिये अच्छा होगा कि हम भारतीय-सस्कृति के मूल तीनों तत्त्वो पर एक बार दृष्टि डाललें। ये तीनो तत्त्व हमने, **समन्वय, स्वतन्त्रता,** एव **विद्रोह** के रूप मे, अन्यत्र, गिनवाये है। इस युग के काव्य मे इन तीनो तत्त्वो को ही, स्पष्टत, हम पाते है।

समन्वय—इससे पूर्व 'भक्ति-धारा' के साहित्य मे भी हमे यही तीनो तत्त्व प्रखर रूप मे मिले। इनकी महत्ता मे युगानुरूप अन्तर अवश्य आया है। इस युग के दोनो चरणो मे ही इन तीनो तत्त्वो को प्रधानता प्राप्त हुई है, यद्यपि युग-दृष्टि के साथ उनके क्षेत्र मे भी अन्तर आया है। पाश्चात्य और पूर्व के उत्कृष्ट अश के **समन्वय** की बात पहले कही जा चुकी है। यह समन्वय शिक्षा, सस्कृति, विज्ञान और धर्म के क्षेत्र मे, स्वामी दयानन्द के समय से ही, आरम्भ हो चुका था। इस युग मे साहित्यिक आदान-प्रदान के कारण यह प्रभाव साहित्य

मे भी लक्षित हुवा। साहित्य की शैली ही नही चिन्तन-पक्ष मे भी यह प्रभाव स्पष्ट हुवा है। यह सौभाग्य की बात है कि इस समन्वय के महान्-स्रष्टाओ मे 'गुप्त', 'प्रसाद', 'प्रेमचन्द', 'महादेवी', 'निराला', जैसे वे समृद्ध व्यक्तित्व थे, जिन्होने किसी कमजोरी के कारण पश्चिम के 'संस्कारो' को नहीं अपनाया। वल्कि, अपनी सम्पन्न व प्रौढ पृष्ठभूमि पर स्थिर रहकर जो कुछ वे पश्चिम से ग्रहण कर सके, उसे ही उन्होंने 'आत्म-सात्' किया।

स्वतन्त्रता —स्वतन्त्रता को भी देश-प्रेम और वलिदानी प्रयत्नों की प्रशंसा, या स्तुतिगीतो तक सीमित कर देना उचित नहीं। यद्यपि इस दृष्टि से भी 'गुप्त', 'प्रसाद', और 'निराला' का व्यक्तित्व एक-दूसरे से बढ़कर हो सकता है। इससे वढकर प्रसाद, प्रेमचन्द, महादेवी, निराला, पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा, एव 'नवीन' जैसे कवियो के काव्य मे व्यक्ति की मनसा-वाचा-कर्मणा स्वतन्त्रता पर भी वल दिया गया है। इन सभी कवियो के अन्दर 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' के रूप मे अपने व्यक्तित्व को असीम से एकाकार कर देने की जो वृत्ति पाई जाती है, वह व्यष्टि-समष्टि के समन्वय, एव सामाजिक वन्धनो मे स्वतन्त्रता, का स्पष्ट परिणाम कही जा सकती है। विश्व के वर्त्तमान आर्थिक एव राजनैतिक संघर्षो से वाहर निकलने, एवं नव-पक्ष के प्रति सजग, समन्वित दृष्टि अपनाने का श्रेय प्रेमचन्द, 'प्रसाद', व 'गुप्त' जैसी गिनी-चुनी युग-चेतनाओ को ही दिया जा सकता है। सामाजिक दृष्टि से यही श्रेय महादेवी व 'निराला' को भी दिया जाना चाहिये।

विद्रोह —'विद्रोह' की वृत्ति इस सम्पूर्ण काव्य की प्राण-चेतना है। 'गुप्त' और 'हरिऔध' आदि के प्रयत्न तो थे ही नये पथ के सृजन के लिये। भाषा, शैली, आदर्श, व्यक्ति-चेतना आदि सभी दृष्टियो से वे एक नयी दिशा ढूढने के लिये वढ रहे थे। किन्तु उनका नियमन और नियन्त्रण, 'द्विवेदी' जी के कठोर अनुशासन मे, काव्य की कठोरता का कारण वना। भाषा और अभिव्यक्ति-शैली पर अधिक ध्यान देने का परिणाम होता है—भाव-पक्ष में शिथिलता। यहाँ भी वही हुवा। युगादर्श अभिन्न रहते हुवे भी, कवियो के हृदय ने, राजनीति, समाज, एवं व्यक्ति-जीवन की सीमाओ की भाति, काव्य की इन सीमाओ से भी 'विद्रोह' किया। विद्रोह एक प्रवृत्ति है : जडता का प्राण-पण से विरोध। इन कवियो ने पूर्वोपलब्धियो पर सन्तोष न करके उन्हे वढ़ाने के लिये, नये-नये क्षेत्रो का विस्तार खोजने के लिये, विद्रोह की उसी वृत्ति को सजग किया।

इस पृष्ठभूमि पर ही इस युग की 'काव्य-सरणि' का महत्व भली-भाँति जाना जा सकेगा। गुप्त, प्रेमचन्द, व प्रसाद के तीन व्यक्तित्व ही इस पृष्ठ भूमिका पर, सर्वतोव्यापी महत्व ग्रहण करते हुवे, सामने आते है। 'गुप्त' समाज-चेतना की दृष्टि से, प्रेमचन्द युग-चेतना की दृष्टि से, व 'प्रसाद' काव्य-चेतना की दृष्टि से युग-व्यतिरिक्त होकर सर्वोत्कृष्ट है। उनका महत्वांकन सही रूप मे करने के लिये इस पृष्ठभूमिका को स्मरण रखना अधिक उचित होगा।

अन्य कवि

इन कवियों के अतिरिक्त सियारामशरण 'गुप्त', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर 'भट्ट', हरिकृष्ण 'प्रेमी', आदि कवि भी इसी युग मे प्रशस्त और मान्य हुवे। भट्ट जी के 'तक्षशिला' काव्य को अत्यन्त प्रसिद्धि मिली। पिछले युग के कवियो मे से गोपालसिंह, 'गुप्त', व 'हरिऔध', आदि काव्य रचना करते ही रहे।

'गुप्त' व 'हरिऔध'

'गुप्त' जी के 'साकेत' और 'यशोधरा'—इस युग के दो काव्य नये ढग के सिद्ध हुवे। 'साकेत' मे भावना की नवीनता, आदर्श की व्यग्रता, भाषा का बदलता रूप, संस्कृत-छन्दो के साथ-साथ गीति-योजना, वर्णनात्मकता और भावावेश, आदि सब मिल-जुल कर उसे युग-सन्धि का काव्य बना देते है। 'यशोधरा' मे नारी का ही नही, कवित्व का भी विद्रोह है कवि के अपने कवित्व का अपने ही पुराने कृतित्व के प्रति विद्रोह। इस काव्य ने तन-वृद्ध कवि को भी नये कवियों के समकक्ष ला विठाया।

अन्य काव्य—उधर 'हरिऔध' के 'वैदेही बनवास' ने भी भावना की मौलिकता, विषय-विन्यास, एव भाषा की प्रवहणशीलता के कारण, 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा, अपना नया स्थान बनाया। निश्चय ही गुप्त जी को 'साकेत' लिखने की प्रेरणा द्विवेदी जी के, रवीन्द्र बाबू के एक प्रेरक लेख के आधार पर लिखे, लेख से मिली थी। 'हरिऔध' को भी यह प्रेरणा इसी लेख के उपेक्षित शब्द से मिली, यद्यपि उसमे सीता-बनवास पर सीधे रूप मे कुछ नयी बात सोचने को नहीं कहा गया था। रवीन्द्र के इस लेख का शीर्षक था, 'काव्य की उपेक्षिता उर्मिला'। द्विवेदी जी ने, 'काव्य के उपेक्षित' शीर्षक से लेख लिखा।

नये स्वर

फिर तो अन्य कवियो के 'साकेत के सन्त' (वलदेव प्रसाद 'मिश्र'), 'आर्यावर्त' (मोहन लाल महतो वियोगी), आदि अनेको काव्य सम्मुख आये, जिनमे नये व उपेक्षित विषयो का आधार लिया गया था। इस प्रकार भाषा, विषय, भावना, आदि के सर्वतोमुखी विकास और समृद्धि को लिये हुवे इन युग के दोनो चरण समाप्त हुवे।

वच्चन (हरिवशराय)

वच्चन का क्षणिक 'हालावाद' इस युग का एकाकी स्वर है। उमर खैयाम की रूवाइयो के अनुवाद तथा उसी धारा पर यौवन की मस्ती से सम्पन्न उसकी अपनी कविता ने एक वार युग-विपरीत चल कर भी हिन्दी श्रोताओ को रस-मग्न कर दिया। मस्ती, अल्हडपन और सगीत सभी कुछ उसकी वाणी मे था। शैली की सम्पन्नता और भाषा के प्रवाह ने मिलकर उसके उस 'विदेशी-से' स्वर मे भी एक अनजान मधुरता ला दी। 'मधु-वाला', 'मधुशाला', 'मधु-कलग', आदि ऐसी रचनायें है। 'एकान्त-सगीत', व 'सप्तरश्मि', आदि मे कुछ गहराई आती है।

पन्त : नये युग में

सन् १९३४ ई० मे पन्त के विचार परिवर्तन व उनके स्वर परिवर्तन की चर्चा की जा चुकी है। सन् १९४० तक उनकी युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या की रचनायें पूरी हो चुकी थी। 'युगान्त' मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। 'युगवाणी' मे सैद्धान्तिक दृष्टि से समाजवादी विचारधारा की पुष्टि की वात सामने आती है। और, 'ग्राम्या' मे यही दृष्टि 'मानवतावादी' दृष्टि से एक हो जाती है। इसके कुछ वर्षो के अन्दर ही 'पन्त' इस विचारधारा से हट गये। विज्ञान व यन्त्र-युग की साँस्कृतिक और वैज्ञानिक प्रगति के प्रति उसकी आस्था क्षीण हो गई।

युग से आगे . 'निराला'

'निराला' ने कभी इस धारा को सैद्धान्तिक मतवाद की पुष्टि के लिये नही अपनाया, न ही उसकी आस्था उसके कीर्तिगान के प्रति रही। दलित व शोषित जीवन का परिचय उसका 'परिमल' की रचनाओ से ही मिलता है। उनकी प्रगतिवादी रचनाओ मे इतना ही अन्तर हुवा कि शोषित वर्ग के विविध

अंगों के प्रति सहानुभूति कुछ अधिक मुखर हुई, तथा शोषक वर्ग के प्रति अबतक
अज्ञात घृणा अधिक स्पष्ट हुई। यह सब जीवन की विषमताओ और परिस्थि-
तियो का प्रभाव था। कवि का अन्त हृदय रागात्मक भावनाओ से सर्वथा
हीन न हुवा। 'नये पत्ते', 'कुकुरमुत्ता' आदि इसी स्तर की कृतियाँ है।

बदलती परिस्थिति : नई विचारधारा

इनके अतिरिक्त सोवियत रूस की क्रान्ति की सफलता ने विश्व भर मे
एक बहुमुखी आन्दोलन-सा खडा कर दिया था। राजनैतिक क्षेत्र के साथ-साथ
साहित्यिक क्षेत्र मे भी इस आन्दोलन ने प्रगति की। भारत के एम० एन० राय
तथा उनके अन्य कई साथियो ने रूस की समाजवादी क्रान्ति मे सक्रिय भाग
लिया था। उनके भारत मे प्रवेश के साथ ही यहाँ भी वह विचारधारा
आनी आरम्भ हुई। सशस्त्र क्रान्तिकारियो की असफलता और सत्याग्रह-सग्राम
के जन-आन्दोलन ने जन-सगठन का नव-उत्साह सचारित कर दिया। सन्
१९३५ में लन्दन में अखिल-विश्व-प्रगतिशील-लेखक-सघ की बैठक हुई। और,
अगले वर्ष भारत मे मुंशी प्रेमचन्द के नेतृत्व मे लखनऊ मे अखिल-भारतीय
प्रगतिशील-लेखक-सघ की स्थापना हुई। इससे पूर्व ही प्रेमचन्द के साहित्य मे
भी, गद्य-क्षेत्र मे, शोषण-विरोध और समाज-परिवर्तन का स्वर प्रमुख हो
चुका था। इस सम्मेलन का अस्तित्व प्रगतिशील लेखको के लिये
वरदान बन कर आया। अब उनकी विचारधारा एक निश्चित पद्धति
पर ढलने लगी। बौद्धिक दृष्टि से सजग अनेक कवियो ने इस प्रकार की
विचारधारा को अपनाया। अनेको ने केवल क्रान्ति और वर्ग सघर्ष की
सैद्धान्तिक रट लगाकर सस्ती प्रशसा भी लेनी चाही। घृणा का साहित्य
साहित्यकार के हृदय की—आन्तरिकता की—उपज नही हो सकता। इसीलिये
ऐसा साहित्य न चिरस्थायी हो सका, न मूल्यवान्। समाजवादी दलो का,
उनकी राजनीति का, इस विचारधारा से सीधा कोई सम्बन्ध नही। युग-व्याप्त
रूढियो और मान्यताओ को तोडने के लिये आवाज उठाना सभी युगो मे कवि
का कार्य रहा है। कवि जन्मजात विद्रोही होता है। किन्तु जब जीवन की
परिस्थितिया विषम हो, शोषण के तरीके अमानवीय हो, उस समय विद्रोह-
स्फुरण के उस पुनीत कर्त्तव्य से पीछ रहने वाला, स्वय को 'कवि' कहकर भी,
सत्कवि नही कहला सकता।

नये कवि : नया स्वर

शिवमंगलसिंह 'सुमन', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पद्मसिंह शर्मा कमलेश, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नरेन्द्र 'शर्मा', उदयशंकर 'भट्ट', 'नागार्जुन', आदि अनेक स्वतन्त्र कवियों की कवित्वमय वाणी में वर्ग-संघर्ष की भावना भी थी, रूस की विजयों या समाजवाद की विजय के प्रति आस्था भी व सामाजिक क्रान्ति की अनिवार्यता का राग भी; और साहित्य, राजनीति, समाज, एवं धर्म की मान्यताओं को बदल देने की 'विद्रोह-भावना' भी थी। भगवतीचरण 'वर्मा' के स्वर में साहित्यिकता अधिक थी। उसमें युग के बदलने का अनुरोध मानवतावादी आधारों पर अधिक था। निश्चय ही इन सबके स्वर पर सशस्त्र-क्रांति की हाल की असफलता का प्रभाव था, और आगे बढ़ने का निश्चय था। इनके स्वरों पर प्रायः ही गांधी का अहिंसक स्वर प्रभाव न डाल सका था। अथवा ये उससे ऊब चुके थे। इनकी दृष्टि में ऐसे गर्हित जीवन में 'व्यक्ति' का प्रश्न न होकर, 'समाज' और 'युग' के उद्धार का प्रश्न था। संस्कृति समाज और युग की उपेक्षा सहकर नहीं बढ़ सकती। इसलिये यदि व्यक्ति को भी बढ़ना है, तो भी 'सामाजिक-उत्थान' से ही उसका उत्थान सम्भव होगा। निश्चय ही इनमें से कुछेक के स्वरों में परस्पर अन्तर भी है। उनकी 'वैयक्तिकता' की छाप स्पष्ट है।

उपेक्षित सत्य

परन्तु इस प्रकार की क्रान्तिकारी विचारधारा को लेकर भी ये लोग एक सत्य की उपेक्षा अनजाने कर बैठे थे। सन् १९०५ ई० के बाद से ही राष्ट्रीय आन्दोलन का जो विशालतम व उग्रतम रूप सामने आ रहा था, उसकी उपेक्षा करना युगधर्म की उपेक्षा करना था। सशस्त्र-क्रांतिकारी आन्दोलन इस स्वातन्त्र्य यज्ञ का ही एक भाग था। 'सत्याग्रह' भी इसी की कड़ी में हुवे थे। 'समाजवाद' या कोई भी अन्य सिद्धान्त अपनाने से पहले, भारत के लिये स्वतन्त्रता का प्रश्न सर्वाधिक मुख्य था। समाजवादियों एवं साम्यवादियों का, उस समय, कांग्रेस या अन्य किसी राष्ट्रीय शक्ति से मतभेद रखने का प्रश्न ही न उठता था। एकमात्र प्रश्न, जिसने सम्पूर्ण राष्ट्र को आन्दोलित कर दिया था, यह था कि राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को कैसे प्राप्त किया जाय? विश्व भर की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति से हमारा संघर्ष था। इस संघर्ष की उपेक्षा असम्भव थी, और असह्य भी। इसे केवल 'क्रान्ति' के

नारो से प्राप्त नही किया जा सकता था। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के हर प्रयत्न के प्रति कवि की सजगता एव उसका उत्साह अपेक्षित था। 'समाजवाद' मे आस्था रखने वाले इन कवियो मे से अधिकाश ने राजनैतिक और आर्थिक सिद्धान्तो एव अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को जितना अधिक महत्त्व दिया, उतना महत्त्व वे राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता के प्रश्न को न दे सके। राष्ट्रीय प्रश्नो के प्रति सजगता का अर्थ यही न था कि 'खादी', 'सत्याग्रह', एव 'राष्ट्रीय' नेताओ के प्रशसा गीत गाये जायें; प्रत्युत विद्रोह-गीतो मे 'राष्ट्रीय-गौरव', 'राष्ट्रीय-पराधीनता', एवं 'राष्ट्रीय-स्वातन्त्र्य' को मुख्य स्थान मिलना चाहिये था।

स्वातन्त्र्य : भारतीय-सस्कृति का मूलमन्त्र

समन्वय के अतिरिक्त भारतीय सस्कृति के मूल-मन्त्र हैं : 'स्वातन्त्र्य' व 'विद्रोह'। इस स्वातन्त्र्य की पुकार पिछले १०० वर्षों से सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक नेताओ नें मचाई थी। साहित्यकारो ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं समाज-सुधार आदि के स्वरो से इसे सम्पुष्ट किया था। इन स्वरो को एका-एक तिलांजलि देकर नये स्वरो को गुञ्जारित करने का अर्थ था, राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-संघर्ष से असहयोग। स्वातन्त्र्य किसी भी राष्ट्र व व्यक्ति का जीवन है। जिस राष्ट्र या व्यक्ति को स्वातन्त्र्य प्राप्त नही, उसे शोषक-शोषित, अथवा धनी-निर्धन, आदि मे भेद करने का कोई अधिकार नही। स्वतन्त्रता के लिये सबको ही कन्धे से कन्धा भिडाकर संघर्ष और विद्रोह करना होता है। 'समाजवाद' के दलगत-पोषण मे लगे ऐसे कवि निश्चय ही इस दृष्टि से अपने कर्त्तव्य-निर्धारण में पीछे रह गये।

राष्ट्रीय-चेतना के कवि

परन्तु कुछ कवि इधर बढ़े। इस क्षेत्र मे प्रमुख स्वर लेकर बढने वालो मे प्रमुख थे माखनलाल 'चतुर्वेदी', रामधारीसिंह 'दिनकर', 'प्रेमी', सोहन-लाल 'द्विवेदी', सुभद्राकुमारी 'चौहान', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', देवराज 'दिनेश' आदि। इनमे भी 'द्विवेदी' का साहित्य युग-विशेष सम्बद्ध रह गया, न कि भावना-विशेष से। खादी, गांधी, ग्राम आदि को लेकर उन्होने अमर कृतियां दी। किन्तु चिरपुराण सस्कृति का राग वे न गा सके। 'चौहान' के गीतो मे जाति-गौरव भी था और बलिदानी उत्साह भी। 'झांसी की रानी', 'राखी की लाज', आदि कुछ कवितायें राष्ट्र गीतो के समान लोक-प्रिय

हो उठी। 'चतुर्वेदी' की भाषा मे व्यंग्य के पुट ने विद्रोहानुकूल सशक्तता प्रदान की। उनके सशक्त गद्य और पद्य मे एक ही स्वर प्रधान रहा। भाषा की अपूर्व सामर्थ्य ने उनकी कविता को अपूर्व बल दिया।

'नवीन'

साहित्य और राजनीतिक का यह क्रियात्मक सयोग लेकर, 'चतुर्वेदी' और 'द्विवेदी' के अतिरिक्त दो और भी सप्राण व्यक्ति इस क्षेत्र मे आये। 'नवीन' की चर्चा पहले हो चुकी है। उनका साहित्य उनके जीवन के अन्तिम दिनो मे ही सामने आना आरम्भ हुवा, और अब तक भी वह अधूरा ही सामने आ पाया है। फिर भी उसकी ज्वाला ने एक बार युवकों के मन मे सार्वत्रिक विद्रोह की ज्वाला धधका दी थी, इसमे सदेह नही। 'भाषा' और 'विद्रोह' की उग्रता ने एक-दूसरे का साथ दिया। प्रेम के भी उन्होने विद्रोही गीत गाये।

रामधारीसिह 'दिनकर'

और 'दिनकर' इन सबसे अलग, यौवन और ज्वाला का मिला-जुला रूप ! 'हुंकार' की असमर्थ मचलाहट और 'रसवन्ती' की मधुरता उसकी वाणी की वर्चस्विता को ढँक न सकी। शब्द, राजनीति, और जीवन का यह खिलाडी काव्य को, विलास की वस्तु न मानकर, जीवन की सक्रियता का आधार मानकर बढा। वैसे भी इस युग का काव्य ही 'यथार्थ' की अनुभूति पर आधारित है। इससे भी बढकर 'दिनकर' का महत्त्व इसमें है कि इसके काव्य मे युगच्छाया पूर्ण रूप मे प्रतिबिम्बित हुई है। समाजवाद' का सदेश देकर भी वह, सोवियत रूस का प्रशसक मात्र—'समाजवादी' नही है। उसने 'समाजवाद' को आस्था के साथ तोला व अपनाया है।

'कुरुक्षेत्र' और 'समाजवाद'

'कुरुक्षेत्र' को समाजवादी ढग का प्रगतिवादी काव्य कह देने से पूर्व यह स्मरण रखना चाहिये कि उसमे राष्ट्रीय-दृष्टिकोण व सांस्कृतिक क्राति के प्रति जो इगित है, वह किसी 'वाद' की देन नही है। उसमे गांधीवादी सांस्कृतिक-दृष्टिकोण एव आत्मविश्वास का स्वर प्रधान रहा है। राष्ट्र की शक्ति उसके सन्तुलन व समन्वय मे है। 'कुरुक्षेत्र'—केवल सिद्धान्त-विवेचक ग्रन्थ बनकर नही रह गया है। उसमे राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत एक भविष्य-

दृष्टि है। जिसमें कवि का, देश की भावी योजना के सम्बन्ध मे, चिन्तन निहित है। मानो उसे स्वातन्त्र्य से पूर्व ही भावी के प्रति यह 'अन्तर्दृष्टि' उपलब्ध हो गई थी।

अन्य काव्य—उसके अन्य काव्यों मे भी **राष्ट्रीय-स्वर** विविध रूपो मे प्रधान रहा है। स्वतन्त्रता की उपलब्धि के बाद इस तरुण-चेता कलाकार को राष्ट्र-वृद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त के साथ-साथ 'राष्ट्र-कवि' के रूप मे सम्मानित होने का अवसर मिला है। समय की बढ़ती के साथ-साथ इसके स्वर व चिन्तन मे भी गरिमा आती गई है। बाद के काव्यो मे कवि का सास्कृतिक-पुनर्विवेचन प्रधान होता गया है। वह 'प्रसाद' की भाँति, इतिहास और **वैदिक आख्यानों** की ओर आकृष्ट हुवा है, किन्तु वर्तमान समस्याओं के प्रति सजग रहते हुवे ही। गद्य मे सस्कृति की व्याख्या करने के बाद, 'रश्मिरथी', 'उर्वशी', आदि मे इसका यही दृष्टिकोण सामने आया है। लगता है 'आग का जलता शोला' शान्त होकर अभी भी राख नही हुवा। वह 'फौलाद का दृढतम पुंज' बन कर सामने आया है। उसकी दृढता, विचार-प्रौढता, एव नित्य-नवीन के प्रति अनुसधानमयी सजग वृत्ति, उसके उत्साह को कदाचित् कभी भी शिथिल न पडने देगी। उसकी भाषा का निरलंकार सौन्दर्य उसके काव्य का एक बडा आकर्षण है।

'दिनेश' व अन्य कवि

'दिनेश' के स्वर मे विद्रोह, सघर्ष, पीडा, एव आत्मविश्वास का जो रूप उठना आरम्भ हुवा था; पर पाकिस्तान की दुर्दान्त घटनाओ के बाद, जैसे उगता सूर्य अपने उत्ताप से वचित हो गया है। अन्यथा वैसी मस्ती हिन्दी को बहुत कुछ दे सकती थी। 'हास्य' मे उसका प्रवेश हिन्दी की उसके प्रति उपेक्षा का ही उपहास है। इसके अतिरिक्त सन् १९४२ की अगस्त-क्रान्ति, आजाद-हिन्द फौज, एव द्वितीय विश्वयुद्ध ने भी इस युग की कविता को प्रभावित किया है।

'मधुर' और 'विद्रोह'

सन् १९४३ ईस्वी मे बगाल मे भयंकरतम अकाल पडा। ब्रिटिश साम्राज्यशाही की असफलता और हृदयहीन शोषण की ऐसी मिसाल भारतीय इतिहास मे अन्यत्र नही मिलती। इस नरभक्षी अकाल ने मानव को पशु से

भी अधिक दयनीय वना दिया था। किन्तु कुछ कवियो के हृदय मे इस अन्धकार मे जो जोत जगी, उसने 'वग-दर्शन' नाम से एक संग्रह का रूप ग्रहण किया। इस ज्योति से विचलित हृदयो मे अग्रणी थे, इस संकलन ग्रन्थ के सम्पादक बच्चन और महादेवी ! दोनो ही एकान्त-भावना के धनी किन्तु विचलित होकर दोनो ही समाजोन्मुख हुवे। निश्चय ही विश्व-पीड़ा मे लगाव पाकर भी महादेवी के अश्रुवों मे इतना उत्ताप अन्यथा कभी न आया होगा। और, तव से, 'वच्चन' का तो दृष्टिकोण ही पलट गया है। 'हालावाद' के स्वरो के शान्त होने एव निराशा के 'एकान्त सगीत' को गाने के वाद, वह एक नये स्वर की खोज मे गुनगुनाने लगा था। किन्तु इस सर्वथा अपरिचित दृष्टि ने उसके भावना-स्रोत मे जैसे क्रान्ति की वाढ ला दी हो। तवसे उनके गीतो मे भी 'जन-भावना' ने प्रवेश पाना आरम्भ कर दिया है।

काव्य-शेष

शृगार व अन्य भावनाओ को लेकर हृदय के विनोद के लिये इस युग के कवियो ने कुछ न लिखा हो, ऐसी वात नही है। किन्तु इस स्वर मे युग-विपरीत और युग-विरोधी वासना का जो चित्रण उपस्थित है, वह वानी भी है। युग-स्वरो से तालमेल न वैठने के कारण स्वय 'प्रगतिवादियों' को भी ऐसे काव्य का विरोध करना पडा, यद्यपि स्वात्मना ये कवि भी उठे थे, 'युग-विद्रोह' प्रदर्शित करने के लिये ही। काव्य की दृष्टि से इस प्रकार का कुछ काव्य उत्कृष्ट भी वना है।

हास्य स्वर

इस युग के आर्थिक एवं अन्य जीवन सघर्षो ने जिस व्यग्य-भावना को जन्म दिया, उससे 'हास्य-रस' के उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि हुई। 'वेढव' वनारसी, 'वेधडक' वनारसी, हरिशकर शर्मा, एव गोपालप्रसाद 'व्यास'—ये चारो व्यक्ति इसी युग की देन है। हास्य की इनकी कविताओं मे समाज, व्यक्ति, एव तत्सम्वद्ध पीडाओ का भी चित्रण हुवा है। विशेपकर आर्थिक दुरवस्था ने पिछले दो दशको से भी अधिक से इन कवियो का ध्यान खीचा है। इनका दृष्टिकोण भी प्रगतिशील है। इसी क्षेत्र मे, वाद मे, 'चोच', 'काका' हाथरसी, भवानी 'मिश्र' आदि ने प्रवेश पाकर सफलता पाई है।

कृष्णायन : पुराना स्वर

इन नये स्वरो के साथ ही सन् १९४२ की जेल यात्रा मे द्वारकाप्रसाद

'मिश्र' द्वारा रचे गये 'कृष्णायन' का अपना ही महत्त्व है। यह अवधी का काव्य है। 'रामचरित मानस' की शैली मे कृष्ण जीवन को आश्रित करके कवि ने १००० पृष्ठों मे यह महान् काव्य रचा है। सभी दृष्टियो से प्रशसा के योग्य है।

महायुद्ध के बाद

सन १९४७ ई० मे भारत स्वतन्त्र हुवा। इससे पूर्व ही द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था। विश्व का शक्ति-सन्तुलन बदल चुका था। पिछले असफल 'राष्ट्र-संघ' का स्थान नये 'सयुक्त-राष्ट्र-सघ' ने ले लिया। एशिया और अफ्रीका जाग उठा। सभी परतन्त्र-राष्ट्र एक-एक करके स्वतन्त्रता के द्वार पर उपस्थित होने लगे। साम्राज्यवादी शक्तियो के पुराने हथकण्डे प्रायः अधिकाश स्थानो पर असफल रहे। ब्रिटेन, रूस, व अमरीका अपने नये-नये प्रभाव-क्षेत्रो को फैलाने लगे। कुछ ने इसे 'साम्राज्यवाद' का नया रूप कहा, और कुछ ने इसमे 'साम्राज्यवाद' और 'समाजवाद' की टक्कर देखी। अमरीका दक्षिण-पन्थी या प्रतिरोधी विचारधारा का संरक्षक समझा जाने लगा। उधर, रूस ने 'अन्तर्राष्ट्रीय-समाजवाद' की स्थापना के बाह्य प्रयत्न तो छोड दिये, किन्तु आन्तरिक तौर पर उसकी वह नीति जारी रही। विश्व का सबसे बडा देश—**चीन**—अमरीकी प्रभाव-क्षेत्र से निकल कर 'समाजवादी' देशो मे मिल गया। उसकी समाजवादी सशस्त्र क्रांति सफल हुई। दूसरी ओर, पूर्वी यूरोप के कुछ देश भी इसी वर्ग मे जा मिले, क्योकि उन्हे रूस ने स्वतन्त्र कराया था। ये दोनो गुट एक दूसरे के लिये विरोधी बनते गये। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ काल के अन्दर ही तीसरे नये युद्ध का भय एक शाश्वत-सी वस्तु बन गया। 'समाजवाद' और 'प्रजातन्त्रवाद' यदि प्रजा की सुख समृद्धि की भावना लिये हुवे है, तो ये इस प्रकार उसके ध्वस के लिये क्यो आतुर है ?—यह था वह प्रश्न जो अधिकाश विचारको के मन मे कौध गया। विज्ञान की बढती प्रगति और अन्तरिक्ष-यानो द्वारा अन्तरिक्ष पर उसकी विजय ने मानव के धरती के स्वप्नो को अत्यन्त तुच्छ सिद्ध कर दिया। अन्तरिक्ष मे भू-उपग्रहो की उडान से चकित रह जाने वाला मानव, आज धरती के चारो ओर चक्कर काटकर, अन्तरिक्ष की खोज भी कर आया है। और, अब वह ग्रहो तक पहुँचने के स्वप्न देख रहा है। फिर धरती पर 'क्यूबा', 'कागो', 'गोवा', या 'काश्मीर' जैसी घटनाये रोज-रोज हो, यह मानव

की शक्ति और चेतना का—सम्पूर्ण मानवता की आधारभित्ति का—उपहास नहीं तो और क्या है ?

भारत मे

इधर भारत के विचारक को तो मानवता का यह प्रश्न सन् १९४२ ई० की अगस्त क्रान्ति से ही सोचना पड रहा है। 'अगस्त क्रान्ति', 'आजाद-हिन्द-आन्दोलन', 'बगाल का अकाल', 'स्वतन्त्रता और विभाजन', 'विभाजनोत्तर साम्प्रदायिक-रक्तपात' साम्प्रदायिक उत्तेजना से 'राष्ट्र-पिता की हत्या', 'काश्मीर पर आक्रमण', 'नागा-आन्दोलन', 'भाषावार पुनर्विभाजन', 'भाषाई-आन्दोलन', और 'चीनी-अतिक्रमण'—इत्यादि एक के बाद एक आने वाली घटनाओ ने उसकी आस्था, इस बाह्य सघर्ष की उपयोगिता मे घटा दी है। शक्ति की नीति उचित हो सकती है; किन्तु वह उत्तरोतर 'संघर्ष' को ही बनाये रखेगी। उससे कभी भी स्थिर शान्ति स्थापित न हो सकेगी। इसके विपरीत भी भारत इन कुछ वर्षों मे जितनी प्रगति कर पाया है, उससे मानव की वैयक्तिक कार्यक्षमता, उसके वैयक्तिक आत्मविश्वास, व अदम्य निश्चय की उपयोगिता मे विश्वास बढा है। अन्य नव-स्वतन्त्र देशो मे हिंसा और क्रांति के जो नारे लगाये जाते है, भारत के विचारशील कवि ने उन्हे 'साम्राज्य-वादी-कोटि' के अन्तर्गत ही माना है। विश्व के मानवता-सम्बन्धी नये आदर्शों व उसकी स्वतन्त्रता के पक्षपात-रहित आदर्शों मे उसकी भी आस्था बढी है। उसने 'राष्ट्रीय-दृष्टिकोण' से ऊपर उठ कर 'अन्तर्राष्ट्रीय' स्तर पर सोचना आरम्भ किया है। उसे भारत की घटनाओं के समान ही कोरिया, लाओस, कांगो और क्यूबा की घटनायें भी दुःख देती हैं। गांधी के समय से हमारे राष्ट्रीय-आन्दोलनो का अंग बन चुकी हैं, ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें। रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा, और साहित्य के बढते आदान-प्रदान ने भारतीय साहित्य-कार को भविष्य के स्वप्न देखने को विवश किया है। इस अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के साथ-साथ वह देश के पुनर्निर्माण की समस्याओं से विमुख नही हुवा है। उसका ध्यान देश के समाज, शिक्षा, राजनीति, आदि सभी ओर गया है।

व्यक्ति-चेतना और प्रयोगवाद

व्यक्तिवादी-स्वातन्त्र्य के उद्घोष का एक रूप प्रयोगवाद के नाम से

विख्यात कविता मे मिलता है। 'अज्ञेय' जैसे प्रबुद्ध, पण्डित और युग-चेतना-सम्पन्न व्यक्ति के नेतृत्व मे प्रकाशित होने वाले 'तार-सप्तक', 'दूसरा सप्तक', व 'तीसरा सप्तक' ने नया इगित किया है। प्रयोगवाद की मूल भावना है 'क्राति की चाह'। प्रगतिवादी आलोचक 'समाजवाद' को समाज का अन्तिम ध्येय समझता है। वह नही समझ सकता कि उससे आगे भी कुछ है। 'प्रयोगवाद' मानता है कि जीवन परिवर्तनशील है। और, इस तेजी से बदलते जीवन मे कोई भी वस्तु अपना स्थिर मूल्य नही रख सकती। दूसरी विशेषता उसकी दृष्टि मे मानवता का बदलता महत्त्व है। विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजयी होने वाला मानव स्वयं अपनी सीमाओ मे कितना तुच्छ है? अधिकांश मानवता अब भी कष्टो मे कराह रही है, उसके लिये सुख अब भी स्वप्न ही है। नक्षत्र लोको की उडान के स्वप्न विज्ञान भले ही पूरे कर ले, मानवता अब भी उनको 'स्वप्न' ही देखेगी। धरती की निराशा को पूरा करने का उसके पास दूसरा साधन है भी क्या? इसीलिये 'प्रयोगवादी' कवि पशु-पक्षी व निरुपयोगी समझी जाने वाली जड वस्तुओ तक से मानव की तुलना करता है। और, तुच्छतम वस्तुओ की तुलना मे उनका नया मूल्याकन करना चाहता है। मानव की इस दशा को वह विभिन्न रूप मे प्रजातन्त्र और 'समाजवाद' दोनों मे ही उपेक्षित पाता है। 'क्राति' वह भी चाहता है, परन्तु उसे 'समाज' से बढकर 'व्यक्ति-मात्र' की वस्तु बना देना चाहता है। गिरिजाकुमार 'माथुर', नरेशकुमार, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर 'भारती', गजानन मुक्तिबोध, नलिनविलोचन शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, केसरीकुमार, आदि अनेको कवियो के परीक्षण, 'अज्ञेय' की प्रबुद्ध कविता के साथ-साथ, इस दिशा मे हुवे हैं, और हो रहे हैं। भाषा व शैली का 'परिवर्तन' इस कविता की एक आवश्यक शर्त-सा बन गया है। रामावतार 'त्यागी', रमानाथ अवस्थी, रामानन्द दोषी, आदि के कुछ प्रयोग भी अत्यधिक सफल कहे जा सकते है।

राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता

'राष्ट्रीयता' और 'सस्कृति' का स्वर भी इस नवीन-युग मे कुछ तीव्र ही हुवा है। 'अन्तर्राष्ट्रीयता' की जो भावना इस युग मे बढ़नी आरम्भ हुई है, वह किसी 'वाद' का परिणाम न होकर गांधी, नेहरू, विनोबा जैसे सन्त-व्यक्तित्वो व 'ब्रिटिश-कॉमनवैल्थ', तथा 'सयुक्तराष्ट्र सघ', जैसी सस्थाओ द्वारा

सम्बुद्ध एव प्रबोधित दृष्टिकोण का परिणाम है। युद्ध और तनाव के बीच भी एशिया और यूरोप मे नेहरू द्वारा प्रतिपादित 'पंचशील' की जो पुकार स्वीकृत हुई है, उसने मानव की सस्कृति और उसकी आत्म-शक्ति के प्रति साहित्यकार का विश्वास बढाया ही है। 'पन्त' के 'दिव्य-जीवन-दर्शन' ने इसी प्रकार के आशावादी स्वर को अपनाया है। उसके अतिरिक्त अन्य अनेको नवीन कवियों मे विविध अभिव्यक्ति को लिये **'नीरज', वीरेन्द्र 'मिश्र', धर्मवीर 'भारती', भवानी 'मिश्र', रामावतार 'त्यागी'** जैसे कवियो ने कदम बढाये है। अभिव्यक्ति की नई शैलियाँ भी इन लोगो ने अपनाई है। **दिनकर** का स्वर चिन्तन की गरिमा से सयुक्त होकर जिन नये प्रयोगो को कर रहा है, उनमे भविष्य की कुछ आशा छिपी है, और छिपा है युग का भावी नेतृत्व।

प्रगतिवाद : नया रूप

'प्रगतिवाद' के पोषक अब भी अपना नारा लगा रहे है। किन्तु भारत जिस 'राष्ट्रीय समाजवाद' का प्रयोग कर रहा है, वह 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' से विभिन्न स्तर का होकर भी, उद्देश्य मे उससे अधिक **'मानवतावादी'** है। उसमे व्यक्तिजीवन को यन्त्र-वत् समष्टि-सनिहित न मानकर उसके स्वातन्त्र्य को प्रगति-मूल स्वीकार किया गया है। अत. 'प्रगतिवाद' का नारा 'वाद' के रूप मे कुछ पुराना और असगत-स्वर सा लगता है। फिर भी प्रगतिशीलता इस काव्य का आवश्यक लक्षण है। और, अब तो रूस द्वारा जिस उदात्त समाजवादी-नीति की घोषणा की गई है, जिसके बल पर ख्रुश्चोफ् विश्व को एक नया समाश्वासन दे रहे है, उस स्वर को सुनने-समझने के बाद 'नारेबाजी' व हिंसात्मक-क्रांति की चीख-पुकार की आवश्यकता भी नही रह जाती। 'समाजवाद' का अर्थ हो गया है **'मानवता का हितवाद'**। ऐसे समय प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी को अपने 'राष्ट्र' के साथ ही 'विश्व' की पीडा के प्रति सजग होना भी आवश्यक है, किन्तु हिंसा के लिये उतावला होना आवश्यक नही।

शृगार : वास्तविकता

'शृगार' की अश्लीलता व उत्तेजना अब भी उर्दू कविता का अभिन्न अग है। कही-कही नवोदित हिन्दी लेखक ('नीरज' आदि) भी अपनी तरुणाई के बहाव मे बह गया है। किन्तु उसकी वास्तविकता वहाँ है, जहाँ उसने नारी की भृकुटि मे क्रान्ति-सकेत, एव उसके हास-विलास मे युग-प्रतिनिधित्व को

पाया है। नारी के मातृत्व, भगिनीत्व एवं प्रेमिका के रूप को सुभद्राकुमारी चौहान, तारापाण्डे, सुमित्राकुमारी सिन्हा, आदि ने पहले ही खींचा था। नारी का यह 'विद्रोही-रूप' वर्तमान युग-चेतना की देन है। भारत के राजदूत व मन्त्री पदो पर स्त्रियो की नियुक्ति, व लका मे स्त्री प्रधानमन्त्री की नियुक्ति ने विश्व के 'प्रगतिशील' राष्ट्रो, के लिये भी चैलेन्ज फेका है। यूरोप की नारी इस विषय मे बहुत पीछे रह गई है। अत' नारी को लेकर 'बासी शृगार' का सृजन अब किसी नौसिखिये का ही प्रयास माना जा सकता है। नवयुग का सकेत है कि शृगार को शक्ति और उत्साह का स्रोत मानकर ही भावी जीवन की सुखमय कल्पना की जा सकेगी!

जगता समाज : सच्ची लोक-धुन

रेडियो और सिनेमा ने जहाँ प्रसार-गीतो के रूप मे शृगार के सस्ते गीतों को जन्म दिया है, वहाँ लोक-धुनो को प्रचलित करके उनमे साहित्य सृजन की भी अभूतपूर्व प्रेरणा दी है। 'बच्चन' के इस दिशा मे प्रयोग अवलोकनीय हैं। उनके अनुकरण पर इस दिशा मे और भी प्रयास हुवे है। दूसरा प्रयास गजलों और रूबाइयों का है, यद्यपि विषय-तत्त्व उनका उर्दू कविता से पृथक् स्तर पर है। निश्चय ही लोक-धुनो के साहित्य मे वह सप्राणता अब तक नही आ पाई है, जिनसे हम युग-युग से उपेक्षित ग्रामीण-समाज का 'बोलता और जीता-जागता हृदय' सुन सके। इन्सान जाग रहा है। समाज जाग रहा है। उसका उत्साह व आनन्द जाग रहा है। वह दुःखों व संघर्षों के बीच भी प्रकृति के रगों में उलझकर हँसना चाहता है। किन्तु, इस हँसी को सुनने के लिये, पंखे की ठण्डी हवा के नीचे बैठने वाले कवि की अपेक्षा, दुपहरी की तपती धूप में खेतों की मुँडेर पर खडे कवि की लेखनी हाफते बैलों और थके-हारे किसान को, पेडों की छाया में सुस्ताते देखकर, अधिक सजगता के साथ आँक सकेगी। हमारे कवि में जिस दिन इतना धैर्य जागेगा तभी वह किसान या मजदूर के प्रत्येक उत्सव का अभिन्न अग बन जायेगा। तभी वह उसके स्वर में स्वर मिलाकर उसकी ही भाषा में गा सकेगा।

भविष्य का खतरा

इन सब उपलब्धियो के साथ-साथ हिन्दी-कवि ने एक भयावह-पथ भी अपना लिया है। वह अनुभूति की जीर्ण-शीर्ण दशा मे, विज्ञान से बहुत-दूर और अज्ञात-प्राय स्तर पर रहकर भी, दैनन्दिन जीवन के कठिन संघर्षों मे उलझा हुवा होकर भी, पाश्चात्य-साहित्यकार के नवीनतम प्रयोगो, उसकी शैली और

उसके विषय की नकल करने चला है। समय दूर नहीं जब भारतीय कलाकार की भी दृष्टि उसी दृष्टि से एकरस होगी। परन्तु जब तक ऐसा नहीं है, और उसकी अनुभूति व उसके ज्ञान में एक अन्तर है, तब तक उसके लिये अपनी सीमाओं में रहना ही अधिक उपयुक्त होगा। अन्यथा शैली और अनुभूति की अभिव्यक्ति का जो व्यवधान अब खड़ा हो चुका है, वह बढ़ता ही जायेगा। हमारे कवि के लिये इससे बढ़कर उपहास की बात कुछ और न होगी। भारत के कवि को जिस संस्कृति की धरोहर मिली है, विश्व की वर्तमान स्थिति में, वह उसका ही यदि खुलकर प्रयोग करे, उसके ही अध्ययन में यदि नई दृष्टि से प्रवृत्त हो, तो वह भी, विश्व-साहित्य को उसकी एक अभूतपूर्व देन ही होगी। विश्व का पाठक उस प्रकार के ही साहित्य की आशा में है। मानवता की रक्षा उसमें ही है। हिन्दी साहित्य का भविष्य भी उसी में है।

हिन्दी नाटक

नाटक की प्रमुखता

नाटक को किसी भी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट अग स्वीकार किया गया है। साहित्य मे 'रस' की महत्ता को स्वीकार करने के बाद यह महत्त्व उचित ही है, क्योंकि 'रस' की सर्वाधिक उपलब्धि नाटक से ही सम्भव है। परन्तु रस के स्थायी महत्त्व को पूरी तरह न समझकर, नाटक को एक साधारण मनो-रजन की वस्तु मात्र समझने वालो की भी कमी नही रही। भारतीय या पाश्चात्य—दोनो ही—आलोचक दृष्टियो ने 'नाटक' को जीवन से अत्य-धिक आबद्ध माना है। जीवन की इतनी निकटता के कारण ही उसे विश्व के किसी भी साहित्य मे प्रमुखता प्राप्त रही है। अरस्तू की 'पोएतिक्स' हो, या भरत का 'नाट्यशास्त्र', काव्यशास्त्र का विवेचन सबके यहाँ 'नाटक' की प्रमु-खता स्वीकार करके ही हुवा है।

महत्त्व

सामान्य जीवन-व्यापारो के अनुकरण से आरम्भ होकर नाटक धीरे-धीरे कलात्मक पूर्णता ग्रहण करता गया। उसकी कलात्मक पूर्णता के दो पक्ष थे—काव्यात्मक और अभिनयात्मक। दोनो ही परस्पराश्रित थे। केवल 'अभिनय' मनोरजन का हेतु हो सकता है। किन्तु जीवन के अभिनय के लिये किसी जीवन के पारखी कवि की 'कवि-दृष्टि' आवश्यक हो जाती है। कवि द्वारा रचे अभिनेय नाटक मे कवित्त्व न आये, यह असम्भव है। इसलिये नाटको को सामाजिक और शास्त्रीय मान्यता मिलते ही उनमे कविदृष्टि की प्रधानता स्वतः स्वीकृत हो जाती है। विशेषकर सस्कृत नाटक का जन्म सुसस्कृत और सभ्य वैदिक समाज मे हुवा था। वैदिक मत्रो मे उमडते भाव-स्रोत को उडेलने वाला भावुक कवि नाटक को 'दो कौडी का' मनोरंजन न बना सकता था। इसीलिये नाटक को शुद्ध कवित्त्व की अनुभूति के साथ, आरम्भ से ही, सन्नद्ध कर दिया गया। भास से लेकर ईसा की

चौदहवी शती तक उत्तर व दक्षिण मे हमे रगशालाओ की उपस्थिति का निश्चित आभास मिलता है। नाटककार का इन शालाओ से सम्बन्ध इनकी प्रबन्ध परिषदो के माध्यम से होता था। वह इनके लिये ही नाटक लिखता था। इस दृष्टि से उनके नाटको मे अभिनय, रंगमच, व जीवन—तीनो—को उचित स्थान मिलना आवश्यक था।

हिन्दी के प्राचीन नाटक

हिन्दी के विकास तक उत्तर भारत मे यह स्थिति समाप्त हो चुकी थी। गाँवो मे चलने वाली सामाजिक उत्सवो की रास व लीला प्रणाली को छोड़ कर परिषदो द्वारा रक्षित रगमच और रगशालाओ का स्थान धीरे-धीरे दरबारो मे होने वाले नृत्य आदि लेते गये। उन शालाओ की अस्तित्व-समाप्ति का परिणाम था कि इस प्रदेश मे बने इस युग के संस्कृत नाटको मे कर्त्ताओ को न रंगमच का ज्ञान है, न उनके नाटको मे जीवन की कुछ गहराई है। परम्परागत लीक पर चलकर उन्होने नाटको के नाम पर केवल खाना-पूरी करने का प्रयास किया है। उनकी देखा-देखी हिन्दी-कवियो ने भी कुछ नाटक १८वी शती तक लिखने के प्रयत्न किये। किन्तु उनके पीछे न कोई विशिष्ट उद्देश्य था, न प्रेरणा। 'हनुमन्नाटक' जैसे अनूदित नाटको की स्थिति इसी प्रकार की थी। रीतिकालीन कवि देव का 'देवमायाप्रपच' नाटक वस्तुत संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' का ही रूपान्तर था। उसमे रंचमंच आदि का ध्यान नही रखा गया था। रंगमंच के रूप मे किसी स्थायी मंच की व्यवस्था उस समय थी भी नही।

पहला अभिनेय नाटक

हिन्दी नाटको के विकास की आरम्भिक तिथि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे अब भी मत भेद है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता के रचे 'नहुष' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। आचार्य शुक्ल ने महाराज विश्वनाथसिंह देव के १८वी शती के 'आनन्द-रघुनन्दन' को मान्यता दी है। कुछ आलोचक लखनऊ के दरबारी कलाकार 'अमानत' के 'इन्दर-सभा' को हिन्दी का पहला नाटक मानते है। यूँ, 'देव' कवि के 'देवमाया प्रपंच', हृदयराम के 'हनुमन्नाटक', आदि का नाम भी लिया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे एक बात स्मरण रखनी चाहिये। जब हम किसी भाषा के साहित्य के किसी विशिष्ट अंग का विकास देखना चाहते है, तो हमे उसकी क्रमिकता एव निरन्त-

रत्ता की ओर ध्यान रखना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिसे हमने प्रथम कृति माना, क्या वहाँ से किसी परम्परा का भी विकास हुवा है या नही ? कम से कम उस कृति का प्रभाव अवश्य स्पष्ट होना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर न तो 'अमानत' को हम प्रथम नाटककार मान सकते है, न भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास को, और न किसी अन्य को ही ! इन सब से किसी भी परम्परा या विशिष्टता का आरम्भ नही होता।

'अमानत' की विशेषता

'अमानत' का महत्त्व इन सब मे कुछ अधिक है। अमानत को रंगमंचीय दृष्टि से अधिक सुविधाये प्राप्त थी। नवाब वाजिद अली शाह जैसे रंगीन व रईस आश्रयदाता को पा कर उन्होने अपना नाटक लिखा ही रंगमंच पर खेलने के लिये था। पर रंगमंच सम्बन्धी कोई आदर्श योजना उनकी दृष्टि मे न थी। हाँ, उनके नाटक की शैली उस समय व्यापक रूप मे अवश्य सम्मानित हुई। इसीलिये उत्तरवर्त्ती काल मे पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो ने जिन नाटकों को सरल रूप मे अनुकरणीय समझा, उनकी शैली इस 'इन्दर-सभा' के अनुकरण पर ही थी। भाषा की तुकान्त वृत्ति, छन्दो-बाहुल्य, एवं सीधा-सादा रंगमंच इन नाटको की विशेषताये थी। परन्तु इन नाटको को लिखने वालो की गिनती हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारो मे न हो सकी। उसका कारण आरम्भ मे ही हमने स्पष्ट किया है : सस्ता मनोरंजन नाटक का उद्देश्य नही है, जीवन का सही व पूर्णतम अनुकरण होना उसमे आवश्यक है। उसके लिये जिस गहरी अनुभूति की आवश्यकता होती है, वह साहित्यकार मे ही सम्भव है। और, साहित्यकार उसे बाज़ारू सस्तेपन की वस्तु नही बना सकता।

भारतेन्दु का महत्त्व

इस प्रकार के प्रथम हिन्दी साहित्यकार थे भारतेन्दु। उन्होने न तो इस लिये नाटको का प्रणयन किया था कि साहित्य की एक अछूती दिशा मे कार्य करने वालो मे उनका नाम आ जाये, न ही उन्होने सस्ते मनोरंजन को प्रस्तुत करने के लिए इस क्षेत्र मे प्रवेश किया। संस्कृत-नाटककारो की प्रौढ परम्परा के बाद, उन्होने प्रथम बार नाटक को किसी विशिष्ट रंगमंच एवं विशिष्ट दर्शको के लिये लिखा ! निश्चय ही उनके दर्शक 'दरबारी' और उनकी परिषद् 'राज्य-प्रेरित' न थी, फिर भी उनके दर्शको को जिस 'जीवन-

सन्देश' की चाह थी, उसे देने मे वे समर्थ हुवे। सस्कृत नाटककारो से यहीं उनकी भिन्नता आती हैं, और अनेक सस्कृत नाटककारो की अपेक्षा उनका स्थान उच्च ठहरता है। सबसे पहली बात यह कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसे खेलने वाली स्वय उनकी 'परिषद्'—नट-मण्डली—थी। 'भारतेन्दु-नट-मण्डली' के प्रतिष्ठाता वे स्वय थे। अत. अपनी ही 'मण्डली' के लिए नाटक लिखते हुवे उन्हे रगमच का तथा उसकी रसात्मकता का जितना ध्यान रह सकता था, उतना ध्यान एक तटस्थ नाटककार के लिये असम्भव था। इससे भी वढकर वे स्वय एक 'नट'—अभिनेता—थे। इसीलिये उन्हे नाटक की हर कठिनाई का क्रियात्मक अनुभव था। सस्कृत के ज्ञात आदि-नाटककार 'भास' के बाद, इस प्रकार के क्रियात्मक अनुभव को लेकर, यह प्रथम नाटककार युगो बाद आया। हिन्दी का सौभाग्य था कि बगला मे रवीन्द्र के अवतरण से पूर्व ही उसे ऐसे युग-सिद्ध कलाकार का वरदान मिला था।

जन-जीवन

भारतेन्दु की दूसरी सर्वातिरिक्त विशेषता यह थी कि 'भास' की ही भाँति, किन्तु उससे भी वढकर, उन्होंने प्रथम बार नाटक का विषय जनसामान्य के जीवन की अनुभूतियो को बनाया। रामायण, महाभारत, पुराण, और वेदो के कथानको के आधार पर सस्कृत मे अनेकानेक नाटक बने ही थे। किन्तु जीवन के सामान्यतम पात्रो से ही सामान्यतम जीवन की अभिव्यक्ति देना भास की ही विशेषता थी ! हिन्दी मे यही विशेपता सर्वप्रथम सर्वप्रमुख रूप मे 'भारतेन्दु' को मिली। और, इसका एक वडा भारी कारण था : स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवुद्ध सामाजिक क्राति एव देश-दर्शन-यात्रा से प्रभावित भारतेन्दु की धार्मिक, राज-नैतिक, और सामाजिक अनुभूति इतनी सजग हो उठी थी, कि किसी भी रूप मे वे उसे दबा न सके। साहित्यकार के लिये ये सभी अनुभूतियाँ 'युग-चेतना' का रूप ग्रहण कर लेती है; और वह उन्हे 'साहित्य' के माध्यम से व्यक्त करता है। भारतेन्दु का नाटक-साहित्य इसी युग-चेतना का प्रतीक है। उसमे अपने समय के वातावरण और समस्याओ को व्यग्यात्मक किन्तु नितान्त यथार्थ अभिव्यक्ति मिली है। उन समस्याओं के लिये किसी ऐतिहासिक या पौराणिक वातावरण का आवरण उन्हे ग्रहण करना न अभीष्ट था, न आवश्यक। 'हास्य' और 'जन-भाषा' के प्रयोग ने उनकी अभिव्यक्ति को और

भी सबनता प्रदान की। उनकी शैली मे व्यग्यात्मक पैनापन अत्यधिक था। तो भी साहित्यिक रसास्वाद की मात्रा कुछ ऐसी थी, कि स्वयं विदेशी शासक भी उनके पूरे व्यग्य को गहराई के साथ न समझ सके।

विशाल ज्ञान व अनुवाद

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि भारतेन्दु ने शैली के विषय मे किसी भी परम्परा और मर्यादा का पालन न किया। सत्य यह है कि इतनी छोटी आयु मे भी वे बंगला, अंग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, फारसी, आदि भाषाओ के इतने निकट परिचय मे रहे, जितना परिचय कि उनके बाद के प्रबुद्ध कलाकारों मे से भी बहुतो को प्राप्त न हुवा। उन्होने बगला के 'विद्यासुन्दर', सस्कृत के 'मुद्राराक्षस', और अग्रेजी के 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' (वंशनगर का व्यापारी) का अनुवाद तो प्रस्तुत किया ही, इनके अतिरिक्त उनका सर्वप्रसिद्ध 'सत्य-हरिश्चन्द्र' भी सस्कृत के ही एक नाटक पर आधारित है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' ने उनकी मौलिक प्रतिभा का भी प्रथम परिचय दिया। 'मुद्राराक्षस' और अन्य अनुवादो की भूमिकाओ मे भी उन्होने अपनी अनुसन्धानमयी ऐतिहासिक प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया। उनके अनुवाद आज के बहुत से अनूदित नाटको की भाँति 'निरे-अनुवाद' नहीं कहे जा सकते। उनके अनुवादो मे मौलिकता का आनन्द सन्निहित है। मुद्रा-राक्षस में सँपेरे के मुख से "अलललल नाग लाये · साँप लाये"—कहलाकर, तथा इसी प्रकार के अन्य स्थलो में, वे उसमे आधुनिकता, स्वाभाविकता, और मौलिकता का समावेश करते है। उनके कवित्व ने गीतो के अनुवाद मे भी जिस मौलिकता का परिचय दिया है, उससे वे अनुवाद-मात्र न रहकर भारतेन्दु की कवि-प्रतिभा के परिचायक हो गये है। यही बात 'वशनगर के व्यापारी' आदि में भी है। वहाँ तो उन्होने नामो का भी भारतीयकरण कर दिया है, ताकि पाठक उस वातावरण को एकदम अपरिचित की भाँति ग्रहण न करे। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' के वक्तव्यो मे अपना व्यक्तित्व उँडेलने मे, तथा अपने विचारो की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मे, वे अधिक स्वच्छन्द रहे है। उस नाटक को लिखते हुवे भारत की वर्त्तमान-दशा उनकी आँखो मे झूमती रही है।

जन-जीवन के नाटक—कहा जा चुका है कि भारतेन्दु की मौलिकता एवं उनकी श्रेष्ठता के आधार उनके नाटक हैं, जिनकी सामग्री उन्होने जन-जीवन से ग्रहण की है, तथा जिनमे उनकी अनुभूति की तीव्रता सर्वथा बन्धन-रहित

होकर वही है। 'अंधेर-नगरी', 'भारत-दुर्दशा', 'विषस्य विषमौषधम्', 'नीलदेवी', आदि सभी नाटक, उत्तरोत्तर, इसी भावना के परिचायक है। कही व्यग्य अधिक गहन हुवा है, तो कही यथार्थ अधिक स्पष्ट रहा है। किन्तु ऐसे दोनो ही स्थानो पर उनकी अनुभूति और उनके व्यक्तित्व की प्रधानता रही है। आज के रगमचानुकूल नाटको मे जिस संक्षेप, अनुभूति-गहनता, एव कला की सजगता की अपेक्षा की जाती है, भारतेन्दु के इन नाटको मे वह सभी कुछ एकत्र मिल जाता है। अन्तर विषय और अनुभूति की गहनता का है। आज के तत्सम समस्याप्रधान नाटको मे यदि बौद्धिकता एव दार्शनिक बारीकी की प्रधानता रहती है, तो ऐसा केवल रंगमच से लेखक का उतना सीधा सम्बन्ध न रहने के कारण ही है। यदि वर्तमान समय के नाटको मे पृथ्वीराज 'कपूर' के नाटक कुछ प्रसिद्ध हुवे, तो केवल इसी अनुभूति-प्रवणता एव रगमचीय परिचय के कारण। किन्तु उन्हे वह सहज साहित्यिक प्रतिभा प्राप्त न होने से, उन मे और 'भारतेन्दु' के नाटको मे उपस्थित महान् अन्तर प्रथम दृष्टि मे ही स्पष्ट हो जाता है। ऐसी प्रतिभा का सयोग संस्कृत मे 'भास', बगला मे 'रवीन्द्र', एव हिन्दी मे 'भारतेन्दु' को ही प्राप्त हुवा। इसके साथ ही, विश्व के महान्तम नाटककारो की भाँति, भारतेन्दु को भी कवि और नाटककार की दुहरी प्रतिभा प्राप्त थी। कालिदास, शेक्सपीयर, भास, रवीन्द्र और प्रसाद की पक्ति मे भारतेन्दु का स्थान किसी से पीछे नही है! अन्तर है आदर्श, भाषा, कवित्व, या रंगमचानुकूलता का। और भारतेन्दु इन सभी कसौटियो पर खरे उतरते है।

भारतेन्दु की नाट्यकला

कला या शैलीपक्ष के विषय मे भारतेन्दु को सर्वथा नये पथ पर ही चलना पडा। उनके सम्मुख कोई 'युगादर्श' न था। किन्तु, उन्होने जो कुछ भी लिखा, वह अवश्य भावी नाटककारो के लिये 'युगादर्श' बन गया। सस्कृत और अग्रेजी नाटको के अनुवाद के बाद भी वे उनके से बन्धनो मे बँधकर नही रह गये। उन्होने सर्वथा नयी शैली अपनाई। प्रस्तावना आदि का सस्कृत-क्रम हटाकर भी अको का रूप उन्होने संस्कृत परम्परा का ही रखा। इसी प्रकार के यत्किचन बाहरी सुधारो के अतिरिक्त कथोपकथनो की रोचकता, गीतो की अभिनवता, आदि के उनके सस्कारो का महत्त्व तभी जाना जा सकता है, जब उस युग के तथाकथित आदर्श-रूप पारसी कम्पनियो के नाटको की शैली को ध्यान मे रखा जाय। भारतेन्दु के नाटको का खडी-बोली का गद्य अत्यन्त

निखरा हुवा है। कही-कही 'व्रज' का हल्का सा प्रभाव दीखता है। पद्य की भाषा उन्होने रखी ही 'व्रज' है। उस व्रज मे भी आधुनिकता की पुट अत्यधिक है। शब्द-रचना मे यह बात अधिक स्पष्टता से अनुभव की जा सकती है। इस दृष्टि से उनकी भाषा राजा लक्ष्मणसिह द्वारा किये 'शकुन्तला' के अनुवाद की भाषा से टक्कर लेती है।

सैद्धान्तिक विवेचन

इन सबके अतिरिक्त भारतेन्दु का महत्त्व उनके उस सैद्धान्तिक विवेचन मे है, जो उन्होने सस्कृत-नाटको की शैली पर अपने प्रसिद्ध विवेचनात्मक निबन्ध मे किया है। इसमे सस्कृत-नाटक-प्रणाली के रचनात्मक गुण-दोषो का सविस्तर विवेचन किया गया है। इससे उनका शास्त्रीय ज्ञान भी सूचित होता है, साथ ही उनकी विद्रोह-प्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है।

अन्य नाटककार

एक दर्जन से ऊपर लिखे गये, भारतेन्दु के, नाटको के अतिरिक्त अन्य भी कुछ लेखको के नाटको को इस युग के नाटक-क्षेत्र मे स्थान मिला। श्रीनिवास दास का **संयोगिता स्वयम्वर** आदर्शवाद पर आधारित है। अन्य नाटको मे बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', प्रतापनारायण 'मिश्र' के 'गोसकट' एव 'हम्मीरहठ', राधाकृष्ण के 'दु खिनी बाला' एव 'महाराणा प्रताप', एव राधा-चरण गोस्वामी का 'बूढे मु ँह मु ँहासे', आदि मुख्य है। प्रहसनो और व्यग्यात्मक नाटको की रचना कुछ अन्य लेखको द्वारा हुई। इनमे से निश्चय ही कोई भी भारतेन्दु की समता न कर सका। फिर भी इन नाटको ने एक बार साहित्यिक रूप में 'नाटक' के स्वतन्त्र अस्तित्व को अवश्य सामने ला दिया।

द्विवेदी जी के समय के नाटक

नाटको की दृष्टि से अगला युग भी महत्त्वहीन है। आचार्य द्विवेदी का ध्यान अन्यान्य क्षेत्रो की ओर जितना रहा, उतना इस क्षेत्र मे न रह सका। सबसे बडी बात तो थी प्रेरणा की। भारतेन्दु की सी घर-फूँक साहित्य-सेवा की मनोवृत्ति तो कुछ साहित्यकारो मे अवश्य दिखाई देती है, किन्तु रगमच के लिये अपने को लुटाकर भी उसकी स्थापना की व्यग्रता उनमे से किसी मे नही दिखाई देती। रगमच के अभाव मे राधेश्याम 'कथावाचक', हरिकृष्ण 'जौहर', तथा नारायण प्रसाद 'बेताब' जैसे लेखको के उन नाटको की प्रधानता रही, जिनका

मूल्य केवल मनोरंजनात्मक था, और जिन्हे पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो का प्रश्रय प्राप्त हुवा। एक प्रकार से यह नाटको की अवनति का युग रहा। फिर भी एक बात इस युग की अवश्य विशिष्ट हुई। द्विजेन्द्र लाल 'राय' के बगला नाटको तथा संस्कृत आदि अन्य वि-भाषीय उत्कृष्ट नाटको का हिन्दी रूपान्तर अवश्य प्रस्तुत हुवा।

इस युग के मौलिक नाटको मे जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगीहरि का 'प्रबुद्ध यामुन', मिश्रबन्धुओ का 'शिवाजी', बदरीनाथ भट्ट का 'विवाह विज्ञापन', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'लल्ला बाबू' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमे इतिहास व समाज-चित्रण का आधार लिया गया है। पौराणिक कथानकों के आधार पर 'हरिऔध' का 'रुक्मिणी-परिणय' व 'प्रद्युम्न-विजय (व्यायोग)', ज्वालाप्रसाद का 'सीता बनवास', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'प्रभास मिलन' व 'मीराबाई', एव शिवनन्दनसहाय का 'सुदामा', आदि प्रसिद्ध है। कुछ काल्पनिक कथाओ पर भी नाटक लिखे गये।

इन नाटको की शैली अधकचरी एवं अभिनय-तत्त्वो से हीन है। निर्देशन की योग्यता के अभाव मे इन नाटको मे भारतेन्दु सी अभिनय-प्रधानता, या 'प्रसाद' सी विषय-निर्वाचन-सामर्थ्य प्रकट नही हो पाई। भाषा भी कुछ नाटको की उखडी हुई है।

प्रसाद : आरम्भिक नाटक

किन्तु प्रसाद के प्रथम नाटको पर द्विजेन्द्र लाल 'राय' के नाटकों की छाया मानना भ्रम ही होगा। उस प्रकार के प्रतिभाशील लेखक से यह आशा होनी उचित ही थी कि वह नई गतिविधियो से परिचित होता। किन्तु, उसके आरम्भिक नाटक 'विशाख' आदि से उन पर इस प्रकार का प्रभाव सिद्ध नहीं होता। आरम्भिक नाटको मे वे नितान्त मौलिक भी नही रहे है। एक ओर जहाँ उनकी भूमिकाओ ने आरम्भ से ही प्रधान उनकी ऐतिहासिक प्रतिभा का परिचय दिया है, वहाँ दूसरी ओर उनकी भाषा और छन्दोबहुलता ने पारसी नाटक-शैली का उन पर प्रभाव स्पष्ट किया है। 'भारतेन्दु' के सुधारों को उन्होने आरम्भ से स्वीकार ही नही किया, बल्कि उन्हे बढाया भी। किन्तु पारसी कम्पनियो के नाटको की तुकान्त भाषा व शेर-बाजी (छन्दोबहुलता) के चक्कर से वे आरम्भ मे न बच सके। कई स्थानो पर उनकी भाषा इन नाटकों में बुरी तरह अ-साहित्यिक और बाजारू भी हो गई है। इसी कारण उनके

'विशाख', आदि नाटको का वातावरण अनैतिहासिक अधिक, एवं कालानुसारी कम, रह गया है। यहाँ शेर-बाजी का अर्थ स्पष्टतः 'गीतो' से भिन्न दोहो आदि को समझ लेना चाहिये, जिन्हे किसी गद्यात्मक वर्णन प्रसग के स्थान पर प्रयोग किया गया है। गीतों मे सौष्ठव और कवित्व तो उनके यहाँ आरम्भ से ही रहा है।

विशिष्ट चेतना

किन्तु प्रसाद का वैयक्तिक वैशिष्ट्य भी इन्ही आरम्भिक नाटको से सूचित हो जाता है। इनकी संक्षिप्त भूमिकाओ से जिस ऐतिहासिक चेतना का सकेत मिलता है, वह निरी ऐतिहासिक नही है, सास्कृतिक दृष्टिकोण भी उसमे सन्निहित है। वे आरम्भ से ही भारतेन्दु की भाति समकालिक सामाजिक समस्याओ के प्रति सजग रहे है। 'विशाख' मे आदिवासियो की जाति की कुमारी के साथ ब्राह्मण के प्रेम का औचित्य दिखाकर उन्होने जाति-पाँति का भेद मिटाने की दिशा मे सर्वाधिक प्रशस्य प्रयत्न किया है। अब भी और आगे आने वाले वर्षो मे भी विश्व भर के प्राचीन से प्राचीन और नवीनतम राष्ट्रों मे भी रगभेद और जातिभेद की यह समस्या प्रमुख रहेगी। इसका समाधान मानवीय आधार पर ही हो सकेगा। प्रसाद सभी सामाजिक समस्याओ को इसी मानवतावादी आधार पर लेते हैं। वस्तुत', उनकी दृष्टि मे, ये समस्याए समस्या बनकर रह ही न जायेगी, यदि मानव मात्र की आधारभूत समता को स्वीकार कर लिया जाय। एक तरफ हम मानव की स्वाभाविक वासनाओ से प्रेरित होकर उत्कण्ठित होते हैं, दूसरी ओर सामाजिक मर्यादा के आवरण मे अपनी अशक्तियो को ढकने का प्रयत्न करते है। वस्तुत' यह बात हमारी चारित्रिक अस्थिरता की प्रतीक है। और, जाति-पाँति के ढकोसले इसी बात को ढकने के लिये खडे किये गये है। विशाख ब्राह्मण, नरदेव क्षत्रिय, बौद्ध भिक्षु, और सभासद महापिंगल—सभी एक सी वासना से पीडित है। वे अपनी उस भूख को भरने के लिए सामाजिक मर्यादाओ को भी तिलांजलि दे देना चाहते है। 'प्रसाद' यही प्रश्न करते है, 'यदि वासना इतनी अदम्य है, और उसके लिये सामाजिक मर्यादा तक भग की जा सकती है, तो क्यो न उस बात को मानवीय आधार पर, उत्कृष्ट रूप मे, स्वीकार कर लिया जाय ?' प्रेम और वासना मे अन्तर है **वासना** क्षणिक शारीरिक उत्तेजना-सुख है, **प्रेम** हृदय और जीवन की गहरी अनुभूति से उत्थित होता है। प्रेम के दायरे

मे मातृत्व, भगिनीत्व एव, वात्सल्य का भी समावेश होता है- जबकि वासना का दायरा पत्नीत्व का अधिकार भी देने को तैयार नही होता। और इस का सर्वोत्कृष्ट रूप ही प्रसाद 'मानवता' को समझते है। बाद मे गांधी जी ने हृदय-परिवर्तन जो की बात सत्याग्रह से जोड़ दी, प्रसाद ने 'विशाख' मे उसका सही प्रयोग किया है। उनका 'प्रेमानन्द' उसी का उद्घोषक है। नरदेव के हृदय-परिवर्तन का मूलकारण है, चन्द्रलेखा द्वारा उसी अत्याचारी की सन्तान की रक्षा! बाद मे काँग्रेस ने जो कुछ भी ब्रिटिशो के साथ किया, वह इस से भिन्न नही था। इसके साथ ही प्रसाद का यथार्थ पर आधारित मर्यादा-वादी रूप यही सामने आता है।

'विशाख' के बाद

इस भावना के प्रकाश मे पढने पर उनके उत्तरवर्त्ती नाटको मे हमे राष्ट्रीयता, प्रेम, सामाजिक समानता, आत्म-नियन्त्रण, एव राष्ट्र की स्वतन्त्रता की भावनाये, उत्तरोत्तर, स्पष्टतर रूप मे मिलेगी। इस सब के आधार रूप मे उन्होने इतिहास के वे स्थल लिये, जिनके प्रकाश मे वर्त्तमान समस्याओ पर सुविधा पूर्वक विचार हो सके। बुद्ध से लेकर हर्ष तक का समय हमारे इतिहास का सर्वोत्कृष्ट समय माना जाता है। प्रसाद ने इसी काल मे से उन संघर्षमय स्थलो को चुन निकाला, जिनमे हम वर्त्तमान की सी कुछ झलक पाते हैं। **सिकन्दर** का आक्रमण और भारत का खण्ड-खण्ड होना, **अजात शत्रु** का पिता के प्रति विद्रोह, **पुरुगुप्त** की स्कन्दगुप्त से आपसी होड और विदेशियो से भारत की रक्षा का प्रश्न, **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** द्वारा विदेशियो से भारत की मानरक्षा, और नारी को **तलाक** एवं **पुर्नविवाह** का अधिकार, आदि वे कुछ बाते हैं, जो उनके नाटको का आधार बनी। 'राष्ट्रीय-स्वातन्त्र्य की व्यग्रता मे वे भारतेन्दु से भी आगे बढ गये थे, यद्यपि उतने स्पष्ट वे न हो सके। इस स्पष्ट न हो सकने का एक मात्र कारण था, ऐतिहासिकता का आवरण। उनकी इस ऐतिहासिक दृष्टि की सबसे बडी विशेषता है—प्रामाणिकता का आग्रह। विदेशियो द्वारा जितने भी प्रयत्न अब तक इतिहास लेखन के हुवे थे, उनमे केवल ग्रीक इतिहास का ही प्रमाण लिया गया था, और भारतीय दृष्टि को झुठलाने या भुलाने का प्रयास किया गया था! 'प्रसाद' ने उस समय तक प्रकाश मे आये सभी ग्रन्थो एवं शिलालेखों के आधार पर इतिहास को शुद्ध एवं प्रामाणिक रूप मे सामने लाना चाहा। निश्चय ही

इसका अर्थ यह नही कि भारतीयता के गौरव को सिद्ध करने के लिये उन्होंने सत्यों को तोड़ने-मरोड़ने का प्रयास किया। प्रत्युत उनकी इस शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से लक्ष्मीनारायण 'मिश्र' जैसे कुछेक सस्कृति प्रेमी नाटककारो को ठेस लगी, और उन लोगो ने भारतीय उत्कर्ष को सिद्ध करने के लिये, बाद में, प्रयत्न किया। परन्तु शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि का यह भी अर्थ नही कि उन्होने कल्पना का आधार नही लिया। ऐतिहासिक सत्यो को अक्षुण्ण रखते हुये भी उन्होने कल्पना का आधार, अपने जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को पुष्ट करने के लिये, ग्रहण किया।

इतिहास की प्रामाणिकता

'प्रसाद' की ऐतिहासिक चेतना की प्रामाणिकता को समझने के लिये इतना कह देना पर्याप्त होना चाहिये कि 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'समुद्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु', एवं 'ध्रुवस्वामिनी' मे उन्होने इतिहास की उन गुत्थियो को अपनी ऐतिहासिक चेतना एवं कवि प्रतिभा के चमत्कार द्वारा सुलझाने का यत्न किया है, जिन्हें सुलझाने मे भारतीय ऐतिहासिक एव पुरातत्ववेत्ता आज भी समर्थ नही हो सके है। स्पष्ट है कि 'प्रसाद' का ज्ञान पुस्तको तक सीमित न होकर 'पुरातत्व' की समस्याओ से भी उलझा था। इस दृष्टि से उनका स्थान सर्वोपरि है। यही चेतना उन्हे द्विजेन्द्रलाल 'राय' से भिन्न स्तर पर सिद्ध करती है।

'प्रेम का दिव्य-रूप'

प्रेम के सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि विश्व-कवि कालिदास की भाँति थी। उनके सभी नाटको मे मातृत्व, भगिनीत्व, पत्नीत्व, एवं वासनाहीन प्रेम के विभिन्न उदाहरण क्रमश: उत्कर्ष ग्रहण करते गये है। **वासवी** का मातृत्व, **छलना** और **विजया** की परकीया ईर्ष्या, **शक्तिमती** की सहिष्णुता, **पद्मावती** का भगिनीत्व, **देवसेना** व **कल्याणी** का उत्सर्गमय वासनाहीन प्रेम, एव **चन्द्रलेखा**, **ध्रुवस्वामिनी** व **कार्नेलिया** का साधिकार किन्तु सलज्ज पत्नीत्व : ये है वे विभिन्न चित्र, जिन्हे प्रसाद ने विविध नाटको मे प्रस्तुत किया है। उनके हर नाटक में प्रेम के इस रूप को क्रमश. वासनात्मक मोह से उठकर आत्मा की वस्तु बना दिया गया हैं। प्रसाद **'त्यागपूर्वक भोग'** के भारतीय सस्कृति के आदर्श मे पूर्ण आस्था रखते हैं। **'त्याग'** जीवन मे नियन्त्रण का आदर्श है :

चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, एवं बिम्बसार इसके सजीव प्रतीक है। 'आर्य' और 'आदिवासियों' के विषय मे मानवतावाद के आधार पर, सांस्कृतिक-सम्मिश्रण की जो बात प्रसाद ने 'विशाख' मे कही है, उसे ही वे अन्तिम नाटक 'चन्द्रगुप्त' मे 'भारतीय' व 'ग्रीक' सस्कृति के सगम द्वारा कहते है। और, दोनो स्थानो पर ही उन्होने ऐसा 'प्रेम' के उत्कृष्ट रूप को माध्यम बना कर किया है।

चरित्रो का परिवर्त्तन

'प्रेम' और 'त्याग' का यह सम्मिश्रण जीवन को किस प्रकार पलट सकता है ? इसे वे भली भांति समझते थे। नरदेव, राक्षस, छलना, व विजया, आदि के चरित्रो का परिवर्तन इसी भावना का द्योतक है। वस्तुतः प्रसाद मानव-चरित्र को आधारभूत रूप मे सत् मान कर चलते है, उस पर असत् का आरोप किन्ही अभद्र परिस्थितियो या विवशता के वश हो जाता है। उन परिस्थितियो के हट जाने पर मनुष्य फिर से पुराने चरित्र को प्राप्त कर सकता है। इन परिस्थितियो को हटाने का एक मात्र तरीका है, एक चरित्र के सम्मुख किसी अन्य महान् चरित्र का आदर्श उपस्थित करना, व उसे उससे प्रभावित सिद्ध करना। उपदेश के स्थान पर व्यावहारिक यथार्थता का यह विश्वास ही उन्हे अन्य आदर्शवादी नाटककारो से भिन्न सिद्ध करता है।

कलापक्ष : एक त्रुटि

पर इतना सब होने पर भी कला पक्ष मे प्रसाद उस सीमा पर न पहुच सके, जहाँ भारतेन्दु पहुँच चुके थे। भारतेन्दु का रंगमच का क्रियात्मक ज्ञान, उनकी साहित्यिक प्रौढता से मिलकर, जो शैलीगत एव अभिनयात्मक यथार्थ और नवीनता ला सका था, वह 'प्रसाद' मे नही पाई जाती। इसका अर्थ यह नही कि प्रसाद की साहित्यिक-भाषा या गीत-बहुलता को 'दोष' गिना जाय। भाषा विषयानुसारिणी होकर ही उचित होती है। उस दृष्टि से उनकी भाषा सही उतरती है। गीत भी 'चन्द्रगुप्त' को छोडकर अन्य नाटको मे अधिक नही है। इस विषय मे उन पर कुछ न कुछ प्रभाव सस्कृत का भी रहा है। कही-कही उनके गीत स्वतन्त्र रूप मे गेय बन जाते है, जहाँ उन्हे हटाया भी जा सकता है। पर फिर भी उनके नाटको मे अको, काल-विभाजन, एव दृश्यो की अधिकता, आदि कुछ ऐसी त्रुटियाँ है, जिन्हें रंगमच

के निकट परिचय मे ही दूर किया जा सकता था। 'प्रसाद' का यह उत्तर कि वे अपने समय के रगमच के अनुकूल न लिखकर, 'रगमंच' को अनुकूल बनाने की प्रतीक्षा मे थे, अ-यथार्थ-परक था। 'रगमंच' में समस्त वैज्ञानिक सुविधाये रहने पर भी, उनके नाटको के अभिनय में, कुछ अस्वाभाविकताये आ ही जायेंगी। रंगमच उनके समय मे था नही। भारतेन्दु की मण्डली जैसा उत्साह भी वे पैदा न कर सके। घरफूंक मस्ती की वह भावना ही बाद मे किसी उत्साही के अन्दर न आई। 'प्रसाद' के नाटको मे रगमचीय और अभिनेय तत्वो की कमी का यही कारण है। इसके अतिरिक्त उनके नाटको मे से एक दो की काल-दीर्घता पर आपत्ति करना अनुचित है। क्योंकि, वहाँ उनका उद्देश्य इतना व्यापक हो जाता है, कि उनके नाटको को सीमित करने का प्रयास करते ही, उसका सारा महत्त्व जाता रहता है। शेप चरित्र चित्रण, कथोपकथन, आदि मे प्रसाद अपनी शैली के स्वय धनी है। मनोवैज्ञानिकता एवं अवसरानुकूलता की दृष्टि से वे भारतेन्दु से पीछे नही है। उन के कथोपकथनो मे व्यग्य और यथार्थ-कथन की अपेक्षा, कवित्व की गुरुता अधिक है। संगीत का ध्यान उन्हे भी बराबर रहा है। 'भारतेन्दु' के बाद निश्चय ही वे एक महान् नाटककार थे। पर यदि भारतेन्दु 'भास' की श्रेणी के थे, तो 'प्रसाद कालिदास जैसे प्रसिद्ध सस्कृत नाटकारो की श्रेणी के थे। उनके नाटको की महत्ता अभिनेय दृष्टि से इतनी न भी हो, तो भी पाठ्य-दृष्टि उनका महत्व कही अधिक है। अभिनय की दृष्टि से भी उनके अधिकाश नाटको का महत्त्व है ही।

'प्रसाद के बाद'

प्रसाद के बाद हिन्दी नाटककारो की श्रेणी मे कुछ नाम ही प्रसिद्धि पा सके है। नाटक तो प्रेमचन्द ने भी लिखे और अन्य भी शताधिक लोगो ने। परन्तु 'प्रसाद' के समकालिक व उत्तरकालिक नाटको मे कम को ही प्रसिद्ध मिली। माखनलाल 'चतुर्वेदी' का 'कृष्णार्जुन युद्ध' रग-मञ्च पर अभिनीत होने के ही विशिष्ट उद्देश्य से लिखा गया था। स्वाभाविक था कि उसमे अभिनय का अधिक ध्यान रहता। पर इस प्रतिभा का नियमित परिचय चतुर्वेदी जी न दे सके।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'—ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रसिद्ध नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' है। परन्तु उनका क्षेत्र राजपूत-इतिहास का गौरवमय पृष्ठ ही रहा

है । 'प्रसाद' की सी ऐतिहासिक अनुसन्धान-वृत्ति उनमे नही है । प्राचीन और संस्कृति-गौरव की भावना उनमे अवश्य है । शान्तिहारी जीवन की छाया उनके नाटको पर भी मडराती है । राष्ट्रीय और सांस्कृतिक महत्व उनके गीतो तक मे भी व्यक्त हुवा है । उनके कथोपकथनो मे पाण्डित्य की अपेक्षा यथार्थ अधिक है । उनके गीत भी प्रकरणानुकूल है, और उनका स्वतन्त्र महत्त्व उतना अधिक नही है । कवि-हृदय होने पर भी उनके नाटको मे, अभिनय की वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे उपस्थित रही है । 'प्रसाद' का 'उद्देश्य-विस्तार' उनके कथानको के विस्तार का कारण था । इस दिशा मे 'प्रेमी' जी अधिक सम्भल गये । उनके उद्देश्य सक्षिप्त रहे है । इसलिए कथानक भी सक्षिप्त रहे है । प्राय नाटको की अक सख्या 'तीन' ही रही है । किन्तु, दृश्यो की सख्या पर वे नियन्त्रण न कर सके । इस कारण कुछ अस्वाभाविकता आ गई है । इनमे कई जगह 'स्थान-भेद' भी पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है । इस दृष्टि मे 'प्रसाद'के और उनके नाटको मे भेद नही रह जाता । 'सकलन-त्रय' की यह कमी सस्कृत नाटको मे नही पाई जाती थी । उसका कारण थी उनकी अक-योजना । एक अक मे कार्य की एकता आवश्यक होती थी, स्थान और काल की एकता स्वत. उसी मे अन्तर्गृहीत हो जाती थी । इसके अतिरिक्त, स्वगत-कथनों की कमी, कथोपकथनो मे कभी-कभी ही आयाम-विस्तार तथा अभिधात्मक चुभते वचन, आदि 'प्रेमी' जी की कुछ अपनी विशेषताये है । इनकी समस्यायें प्राय', राष्ट्रीय आधार पर, 'प्रसाद' की सी व्यापक एव सर्वग्राही दृष्टि लिये हुवे नही होती । उनमे सामाजिकता, प्रादेशिकता, एव विशिष्टता की भावना अधिक रहती है । इसका अर्थ यह नही कि उनके नाटको मे 'राष्ट्रीयता' का भी अभाव है । प्रत्युत राष्ट्रीयता की तो अपेक्षाकृत प्रधानता ही रही है । रंग-मञ्च पर इनके नाटको को प्रमुखता मिली है । यद्यपि पट-परिवर्तन मे दृश्यो की अधिकता के कारण कठिनाई आती है । इनके नाटको की सख्या २५ से ऊपर है । लोकप्रिय नाटको मे 'विषपान', 'बन्धन', 'रक्षाबन्धन', आदि के नाम प्रमुख है । इन्होने एकाकी के भी प्रयोग किये है, किन्तु उनमे सफलता नही मिल पाई है । सफलता इन्हे नाटको के क्षेत्र मे ही मिली है । 'स्वप्नभग', 'प्रतिशोध', 'उद्धार', 'कीर्त्ति-स्तम्भ', 'शिवा-साधना', 'शपथ', आदि उनके अन्य नाटक है ।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'

राजस्थान की यशो-गाथा से प्रभावित दूसरे नाटककार है 'मिलिन्द' !

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', स्वयं क्रान्तिकारी होने से, ऐसे ही नायक को लेकर सफल हुवे। राणा प्रताप अपने युग का सर्वाधिक विद्रोही वीर था। उसे लेकर लिखे गये 'प्रताप-प्रतिज्ञा' मे राष्ट्रीयता, एकता, त्याग और बलिदान की जो भावनाये व्यक्त हुई है, अपने शब्द-शब्द से वे नाटककार का भावनात्मक गौरव व्यक्त कर रही है। इस अकेले नाटक ने लेखक को नाटककार के रूप मे अमर कर दिया। 'राणा प्रताप' और 'चारणी' का चरित्र निर्माण कर, भावुक-चरित्रो को जन्म देने वालो मे, लेखक ने अपना स्थान अमर कर लिया है। उसके गीत समयानुकूल और प्रकरणानुकूल भी है, तथा उनका स्वतन्त्र महत्त्व भी है। उद्बोधन और प्रयाण-गीतो के रूप मे उनके गीत आदर्श है। भाषा, भावना और कला की दृष्टि से उस नाटक को 'निर्दोष' कहा जा सकता है। कथोपकथन की सक्षिप्तता और सजीव भावुकता देखते ही बनती है। उनके इस एक नाटक का जितना अभिनय हुवा है, इतना, भारतेन्दु के नाटको के अतिरिक्त, किसी अन्य हिन्दी नाटक का नही हुवा। इनके अन्य नाटक है, 'समर्पण' और 'गौतमानन्द'।

डा० कैलाशनाथ 'भटनागर'—स्वर्गीय कैलाशनाथ 'भटनागर' के 'श्रीवत्स' को भी कभी पर्याप्त ख्याति मिली थी। लेखक के 'मिहिरकुल' आदि नाटको मे उसे वह सफलता नही मिली। उनके किये कुछ अनुवाद भी प्रसिद्ध है।

लक्ष्मीनारायण 'मिश्र'

'प्रसाद' की सी सास्कृतिक व ऐतिहासिक भावना को लिये हुवे, किन्तु उनसे सर्वथा दूर, और शायद विरुद्ध दिशा मे, जिन दो कलाकारो ने प्रगति की, उनके नाम है—लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास। लक्ष्मीनारायण 'मिश्र' के आरम्भिक नाटको मे सामाजिक समस्याओ को प्रधानता मिली। **'संन्यासी', 'राजयोग'** और **'सिन्दूर की होली'** जैसे नाटको मे सामाजिक समस्याये प्रधान रही है। मिश्र जी की विशेषता आरम्भ से ही उनके सास्कृतिक दृष्टिकोण मे रही है। वे भारतीय सस्कृति के प्रमुख उद्घोपक और पुजारी कहे जा सकते है। इस विषय मे ऐतिहासिक स्थिर मान्यताओ को पलट कर भी उन्हे लक्ष्यसिद्धि अभीष्ट है। उनके बाद के नाटकों मे ऐतिहासिक वृत्ति प्रधान रही है। किन्तु इन नाटको मे आई इतिहास-दृष्टि को अनुसन्धान-परक और निरपेक्ष नही कहा जा सकता। उन की प्रधान भावना भारतीय सस्कृति का गौरव व उत्कर्ष दिखाने की ही रही

है। 'वत्सराज' इस विषय मे उनका पहला नाटक था। उदयन के प्रशस्त आर्य-चरित्र को 'प्रसाद' द्वारा 'अजात शत्रु' मे निम्नकोटि का व भारतीय सस्कृति-विहीन दिखाये जाने से उन्हें रोष हुवा। बौद्ध जीवन-दर्शन से प्रभावित प्रसाद की दृष्टि के वे विरोधी थे ही। उन्होंने उदयन के इतिहास प्रसिद्ध चरित्र को भारतीय सस्कृति का उत्कृष्टतम उदाहरण उद्घोषित किया; और परिणामत 'वत्सराज' नाटक सामने आया। 'दशाश्वमेध' मे उन्होंने भी प्रसाद के समान सास्कृतिक समन्वय पर बल दिया, किन्तु भारतीय सास्कृतिक गौरव-प्रदर्शन के साथ ही। प्रसाद ने भी भारतीय सस्कृति को किसी रूप मे कम चित्रित न किया था। किन्तु, मिश्र जी जिस वैदिक और यज्ञभावनामयी आदर्श सस्कृति का चित्र लेकर बढे, वह उससे भिन्न था। 'वितस्ता की लहरें' मे इतिहास की स्थिर मान्यताओ को प्रथम बार मूलतः पलटा गया। ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव मे कल्पना का यह चमत्कार सास्कृतिक गौरव को भले ही सिद्ध कर पाया हो, किन्तु प्रसाद ने अपने 'चन्द्रगुप्त' मे जिस 'त्यागमय भोग' के भारतीय-सास्कृतिक आदर्श को प्रस्तुत किया था, मिश्र जी उसे न प्रस्तुत कर सके। उसे वे पौरुषहीन सस्कृति नहीं कह सकते। पुरु का अधिक महत्त्व दिखाने मात्र से ही तो चाणक्य और चन्द्रगुप्त के स्थान को भारतीय इतिहास मे कम गौरवमय चित्रित नही किया जा सकता। ऐतिहासिक कल्पना मे यदि पुरु की सीमा से ही सिकन्दर का लौटना स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी ग्रीक इतिहास की गवाही, शिलालेखो, तथा पौराणिक कथाओ की सयुक्त गवाही को भी झुठलाना सम्भव नही है, और कदाचित्, उचित भी नही। सब कुछ मान लेने पर भी चाणक्य के उतने तुच्छ व्यक्तित्व, और एक नारी के द्वारा सिकन्दर पर विजय की बात को लेकर भारतीय सस्कृति का गौरव कैसे स्वीकार किया जा सकता है? चाणक्य की विश्व-विख्यात नीतिमत्ता निश्चय ही एक नारी को बन्धक बनाने से सिद्ध नही हो जाती। 'चक्रव्यूह' आदि मे वे अपनी सस्कृति की ही आन्तरिक समस्याओ की ओर मुड़े है, किन्तु नाटकीय उत्कर्ष की दृष्टि से उनकी सर्व-श्रेष्ठ रचना, सम्भवत वत्सराज को ही कहा जा सकेगा। यूँ, सामाजिक क्षेत्र मे उनकी उत्कृष्ट रचना 'सिन्दूर की होली' ठहरती है।

मिश्र' जी की नई कला

उनके नाटको के विषय-तत्व के इस विवेचन के बाद, यह जान लेना और

भी आवश्यक है कि उनकी कला किसी अश मे यदि प्रसाद और 'प्रेमी' की कला पर सुधार का प्रयास है, तो दूसरी ओर उसमे कुछ कमियाँ भी है। जहाँ तक 'अंक-नियोजना' का प्रश्न है, मिश्रजी ने संस्कृत परम्परा का ही प्राय: अनुगमन किया है। किसी-किसी ही नाटक मे वे अक को दो या तीन दृश्यो मे बाँटते है। अन्यथा सकलन-त्रय का ध्यान उनके नाटको मे सर्वाधिक रह पाया है। संस्कृत नाटको मे भी किसी-किसी अंक मे इस प्रकार के दृश्य-परिवर्तन होते थे। उनकी इस शैली ने आगे चलकर मान्यता ग्रहण करली। 'माथुर' का कोणार्क इसी शैली मे प्रगति का चिह्न है। इससे पर्दों की समस्या सर्वथा हल हो गई, और रगमचीय उत्कर्ष भी कम नही हुवा। इतना ही नही, उन्होने कार्यव्यापार को भी सरलतर बनाने का यत्न किया है। मिश्र जी के नाटको का दूसरा गुण उनके पात्रो की भावुकता है। परन्तु स्पष्ट ही अनेक स्थानो पर इसका प्रयोग अनुचित रूप से हुवा है। 'वत्सराज' के उदयन, वासवदत्ता और पद्मावती के मध्य के वार्तालाप भावुक हो, समझ आता है। किन्तु पद्मावती की सखियाँ भी उतनी भावुक हो—ऐसा मानना न्याय-संगत प्रतीत न होगा। 'दशाश्वमेध' मे भी कौमुदी और वीरसेन के वर्तालापो मे शिष्टता और सौजन्यता ने 'मर्यादा' का एक पर्दा भावुकता पर डाल दिया है। किन्तु उनके भृत्यो का आपसी वार्तालाप कई बार चरम भावुकता की सीमा लाँघ जाता है। 'वितस्ता की लहरें' नाटक मे यह बात हँसी-मजाक के वार्तालापो तक मे भी प्रवेश कर गई है। लगता है 'हास्य' को कही समुद्र के गहरे में डुबोया जा रहा है। वार्तालापो का उखड़ापन, जिस उत्तेजित वातावरण का सृजन करता है, वह नाटको की मूलवृत्ति के अनुकूल नही रह जाता।

मौलिकता

मिश्रजी के नाटको की एक विशेषता यह भी है कि उन्होने प्राय ही गीतो का बहिष्कार किया है। व्यक्ति एकान्त मे गीत गुनगुना उठे यह एक बात है। किन्तु स्थान-स्थान पर नाटक मे उसे गाने मे प्रवृत्त बताने का अर्थ होता है, वास्तविकता से दूर अस्वाभाविक वातावरण का सृजन ! सस्कृत ही नही विश्व की सभी प्राचीन भाषाओ के नाटको मे कदाचित् यह वृत्ति पाई जाती है। आधुनिक भारतीय फिल्मे भी इस रोग से बुरी तरह प्रभावित है। किन्तु जब हम नाटक को जीवन की वास्तविक अनुकृति मान कर चलते है, और उसके माध्यम से जीवन की व्यंजना देना चाहते है, तो गीतो के महत्त्व और उनकी

उपयोगिता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। मिश्रजी इस दिशा मे अग्रणी रहे है। उनके अंको की संख्या भी तीन ही रही है। इस प्रकार पाश्चात्य प्रभावो को लेकर भी वे प्राण और मन से भारतीय रहे हैं।

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास को हम एक नई दिशा का प्रवर्त्तक कह सकते है। उस दिशा की उपयोगिता व उसके औचित्य के विषय मे दो मत हो सकते हैं। 'प्रसाद' की शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि और 'मिश्र' की सांस्कृतिक दृष्टि के बीच का पथ चुनकर भी, भावना और कला मे, वे उन दोनो की अपेक्षा अपना पृथक् स्थान बनाने मे प्रयत्न-शील हैं। राजनैतिक जीवन मे व्यस्त रहने पर भी, उनके लेखन की गति मन्द नही हुई है। एकांकी व नाटको के क्षेत्र मे उन्होने सम्भवतः सर्वाधिक लिखा है। 'नाटको' की संख्या मे वे 'प्रेमी' जी की होड़ करते हैं। परन्तु प्रसाद, प्रेमी और मिश्र से उनकी पृथक्ता इस बात मे है, कि उनके यहाँ कला और रंगमंचीय निर्देशनो का भी उतना ही ध्यान रखा गया है, जितना कि विषय तत्व का। उनका यह 'निर्देशन' कई बार इतना दीर्घ हो जाता है, कि अखरने तक लगता है। उनके विषय विविध रहे है। मुख्यतः उनका राजनैतिक विश्वास उनका साहित्यिक विश्वास भी बन गया दीखता है। समर्पण, त्याग और सौहार्द के वातावरण को खोज निकालने में वे सर्वत्र व्यस्त रहे हैं। हम इसे 'गाँधीवाद' कहे, या 'भारतीय-संस्कृति' : इन भावनाओं का उत्कर्ष ही उनके कृतित्व मे सर्वत्र रहा है। इसका अर्थ यह नही कि उनका विश्वास 'शक्ति के साहित्य' मे नही है। वे जिस 'आत्मिक-शक्ति' मे विश्वास रखते हैं, उसे वे विश्वकल्याण और मानवतावाद की आवश्यक शर्त मानते है। निश्चय ही 'प्रसाद' का 'मानवतावाद' उनकी दृष्टि में यथार्थ नही रह पाता। वे उस प्रकार की आदर्श योजना से दूर ही रहे है। 'गाँधीवाद' उनका आदर्श है पर वह इतिहास की सत्यता का बाधक नही बना है।

रंगमंच और सेठ जी

उनकी सबसे बड़ी पृथक्ता रंगमंचीय दृष्टि के सम्बन्ध मे है। आरम्भ से ही उनका ध्यान इस ओर रहा है। उनके नाटको का आकार एवं विस्तार अभिनय के सामर्थ्य और काल को देखकर ही निश्चित होता है। सबसे बड़ी बात यह कि 'सकलन-त्रय' की एकता व निर्देशनो की सूक्ष्मता पर उन्होने

पश्चिम के कुछ लेखकों की ही भाँति श्रम किया है। पश्चिम के अनुकरण से उनकी कृतियो का महत्त्व घटा नहीं है। निश्चय ही इतने अधिक निर्देश रग-मंच-निर्देशक की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देते है। दृश्य-योजना में उन्होने भी कृपणता से ही कार्य लिया है। फिर भी कही-कही कोई दृश्य ऐसा आ ही जाता है, जिसे रगमच पर दिखाना असम्भव होता है। अन्यत्र निर्देशनो का विस्तार ठीक ही रहा है। इस प्रकार के विस्तृत निर्देशनो की प्रणाली कही-कही उपहासास्पद भी हो उठती है. जहाँ लेखक, निर्देशक व अभिनेता की कुशल-बुद्धि पर भरोसा न रखकर, छोटे से छोटा निर्देश भी स्वय देने का यत्न करता है। फिर, यह दोष तो इस प्रणाली का ही है, 'सेठ' जी का विशिष्ट नहीं ! उनकी सम्पूर्ण कृतियो के संग्रह अभी हाल मे प्रकाश मे आये हैं। 'हर्ष', 'प्रकाश' आदि को बहुत ख्याति मिली है। उनकी भाषा प्रकरणानुकूल सरल रही है, किसी विशिष्ट शैली मे उनका आग्रह नही रहा है। कथोपकथन छोटे व भावपूर्ण, एवं चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, आदि उनकी कुछ अन्य विशेषताये है।

चन्द्रगुप्त 'विद्यालंकार'.

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक', और 'रेवा', व 'हिन्दुस्तान जाकर कहना' इस दिशा मे अभिनय, वस्तु की सादगी, व सक्षेप को लिये हुवे उतरे। किन्तु गीतो की लम्बाई अखरती है। कुछ स्थानो पर कथोपकथन भी दीर्घता ग्रहण कर गये हैं। भाषा, प्रवाह, एव चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनकी नाटकीय प्रतिभा की प्रशसा की जानी चाहिये। नाटक की सीमा का भी ध्यान रखा गया है। किन्तु दृश्य-नियोजना अवश्य सुधार की अपेक्षा रखती है।

उदयशकर भट्ट

पौराणिक नाटको के क्षेत्र मे इन्हे अधिक सफलता मिली है। यद्यपि एकाकी मे आप प्रगतिवादी रहे है, पर नाटको मे 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र', आदि पौराणिक नाटको को ही मुख्यता मिली हैं।

'निराला' जी ने भी 'समाज' और 'शकुन्तला' – दो—नाटक लिखे है, किन्तु दोनो अप्रकाशित रहे।

गीतिनाट्य—इस प्रसग मे सुमित्रानन्दन 'पन्त' का नाम लिया जा सकता है। अब तक उनके गीतिनाट्यो का अभिनय नही हुवा है।

अन्य नाटककार

इनके अतिरिक्त अन्य नाटककारो मे गोविन्दवल्लभ 'पन्त', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जगदीशचन्द्र 'माथुर', देवराज 'दिनेश', एवं पृथ्वीराज 'कपूर', आदि के नाम मुख्य है। इनमे वाजपेयी के 'छलना', गोविन्दवल्लभ 'पन्त' के 'वरमाला', माथुर के 'कोणार्क', एव दिनेश के 'रावण' को अधिक ख्याति मिली है। 'रावण' का महत्व उसकी अभिनयात्मक सरलता के साथ-साथ उसके विषय की नवीनता मे है। भाषा व अभिनय की दृष्टि से यह नाटक अच्छा है। समय व साधनो की दृष्टि से भी यह जन-ग्राह्य है। ऐसी विद्रोही व प्रगतिशील भावनाये कम नाटको मे ही सामने आई है।

'वाजपेयी' का 'छलना'

वाजपेयी का 'छलना' स्वय एक प्रतीकात्मक नाटक है। संस्कृत के विख्यात 'प्रबोध चन्द्रोदय' की भाँति यह शुद्ध प्रतीको पर आधारित न होकर भी विलासचन्द्र आदि के रूप मे प्रतीकात्मक पात्रों के आधार पर ही आगे बढा है। सामाजिक समस्याओ को लेकर साहित्यिक क्षेत्र मे बढने का यह प्रयास, 'मिश्र' की श्रेणी मे होकर भी, उनसे भिन्न है। भाषा, भावना, सक्षेप एवं अभिनेयता की दृष्टि से यह नाटक अच्छा बना है। कथोपकथन छोटे किन्तु हृदयग्राही है।

गोविन्द वल्लभ 'पन्त'

इन्होने 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अगूर की बेटी', 'विषकन्या', 'सुजाता', आदि अनेक नाटक लिखे है। समस्याये सामाजिक, वातावरण भावुकतामय, कथोपकथन सरल, भाषा प्रवाहमय, एव चरित्र-चित्रण यथार्थ परक रहे है।

कोणार्क एक नई दिशा

जगदीश चन्द्र 'माथुर' का 'कोणार्क' एक नई दिशा का सूचक हुवा। इसकी कथा-वस्तु पुरानी एव लोक-श्रुति पर आधारित है। 'कोणार्क' एक प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर है। उसके निर्माण व ध्वंस पर यह कहानी आधारित है। किन्तु, प्रगतिवादी भावनाओ की दृष्टि से यह भी बहुत आगे बढ़ी हुई रचना है। भाषा अत्यन्त उपयुक्त, कथानक अत्यन्त सक्षिप्त, अंक-क्रम नियमित एव सगठित, सकलन-त्रय का स्वाभाविक परिपालन, मनोवैज्ञानिकता एव स्वाभाविकता का चरित्र-चित्रण मे ध्यान, इत्यादि कुछ विशेषतायें ऐसी हे जो इस नाटक को हिन्दी

के भावी नाटको का आदर्श बना देती है। कवित्व और कला का ऐसा सयोग किसी सामान्य लेखक की कलम से सम्भव नही। विषय पक्ष मे, एक अन्तर्धारा कला और जीवन के प्रश्न को लेकर चली है। उधर राष्ट्रीय-सामाजिक समस्या के रूप मे, अन्तर्जातीय विवाह व सामाजिक-बन्धनो की दुरन्तता भी स्पष्ट हुई है।

कलापक्ष एक नया आदर्श

कला पक्ष मे, लेखक की सब से बडी देन है, उसका नव-प्रयोग। उसने तीन अकों के इस नाटक के दोनो छोरो पर **'ध्वनि-प्रयोग'** रखकर एक नई दिशा प्रदर्शित की है। स्वतन्त्र रूप मे इन दोनो प्रयोगो को 'उपक्रम' और 'उपसहार' कहकर, उसने रंगमचीय आवश्यकताओ के चूडान्त-ज्ञान का परिचय दिया है। रेडियो-नाटको एव फिल्मो मे 'ध्वनि' का प्रभाव ख्यात ही है। माथुर ने उसीका प्रयोग नाटक की भूमिका के निर्माण मे किया है। उनका यह प्रयोग भारतीय **'रस-सिद्धान्त'** से सर्वथा मेल खाता है। 'साधारणीकरण' की अवस्था के लिये जिस निर्वैयक्तिकता की आवश्यकता होती है, उसे लेखक ने 'प्रस्तावना' या 'ज्ञापना' आदि के स्थान पर इस **'उपक्रम'** के ध्वनि-प्रयोग द्वारा पूरा किया है। साधारणत आधुनिक नाटको मे नाटक का विषय बिना किसी भूमिका के आरम्भ हो जाता है। इससे दर्शक को साधारणीकरण मे—विषय के सात्मीकरण मे—कठिनाई अनुभव होती है। फिर, तीन अको के छोटे से अवकाश को 'रसोद्बोध' (भावोदय) और **'भावशान्ति'** की स्थिति मे लाकर हम नाटक की रसमयता की स्थिति को कम कर देते हैं। **'उपक्रम'** का प्रयोग, पृष्ठभूमि के क्रमश. उच्चतर होते स्वरो के रूप मे, वस्तु की भूमिका देने के हेतु ही किया गया है। इन स्वरो व उनके द्वारा प्रेपित वक्तव्यो से दर्शक मे विषय के प्रति जिज्ञासा एवं रस-भावना उद्बुद्ध हो जाती है। उसके बाद उसी तरगित मानसिक अवस्था मे ही कथा आरम्भ हो जाती है। तृतीय अंक की समाप्ति भी लेखक भाव-बोध तथा उत्सुकता की चरम सीमा पर ही करता है। स्वभावत दर्शक को उस अवस्था से 'भावशान्ति' की स्थिति तक लाने का उत्तरदायित्व भी लेखक ने अपना ही समझा है। इसीलिये **'उपसंहार'** मे वह पृष्ठभूमिगत ध्वनियो के क्रमश. क्षीयमाण स्वरो का प्रयोग करके वस्तु का उसी क्रम से उपसंहार करता है। इस प्रकार यह नाटक कला की दृष्टि से एक **नया प्रयोग** है। इसे कुछ स्थानो पर सफलतापूर्वक खेला भी गया है।

वृन्दावनलाल 'वर्मा'

इन प्रशस्त नाटककारो के अतिरिक्त भी नाटककारो की एक बड़ी श्रेणी बच जाती है। इनमे सर्वाधिक श्रम करने वाले है वृन्दावनलाल वर्मा। उपन्यासकार 'वर्मा' ने नाटको के बहुत पहले ही क्षेत्र मे भी प्रवेश किया था। एक बडी सख्या मे नाटक लिखे हैं। उनके अधिकाश नाटक उपन्यासो पर ही आधारित है। किन्तु इस क्षेत्र मे वे उपन्यास-क्षेत्र की भाति सफलता नही पा सके है। उनके कथानक प्राय· लम्बे, वार्तालाप भावहीन, व निर्देशन अपूर्ण है। कथावस्तु का सगठन एवं वातावरण भी अत्यन्त शिथिल हैं। नाटक मे 'नाटकीयता' की जो अनिवार्य माग होती है, वह इनके नाटको मे नही दिखाई देती। 'ललित विक्रम' नाटक अच्छा बन पाया है।

अन्य प्रयोग

विष्णु प्रभाकर ने प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' को लेकर 'होरी' नामक नाटक की रचना की हैं। प्रयत्न अच्छा रहा है। नाटक की दिशा में अन्य भी प्रयत्न हुवे है, परन्तु उनमे नवीनता नही है। पृथ्वीराज 'कपूर' के तीनो नाटक, अभिनय की दृष्टि से अच्छे होकर भी, साहित्यिक दृष्टि से अपूर्ण हैं।

रामकुमार 'वर्मा'

नाटको के इस प्रकरण मे 'वर्मा' जी का नाम न लेने से यह प्रसंग अधूरा रहेगा। इससे पहले उनका नाम न लेने का एकमात्र कारण यह है कि उन्हे एकांकी लेखन मे ही सफलता मिली है। 'नाटक' के विस्तृत क्षेत्र की अपेक्षा उन्हें एकांकी का सीमित क्षेत्र अधिक रुचा है। सामाजिक समस्याओ एव चरित्र की विविधताओ को अभिनय-प्रधान दृष्टि से वे वही दिखाने मे सफल हुवे है।

इसी प्रकरण मे **सुदर्शन** के 'भाग्य-चक्र' का उल्लेख कर देना भी अभीष्ट होगा। इस अकेले नाटक ने उन्हे पर्याप्त ख्याति दी है। वैसे वे कहानीकार रूप मे ही अधिक विख्यात है। **भगवतीचरण 'वर्मा'** ने एकाकी ही लिखे है, नाटक मुख्य नही। उनके एकांकियो मे व्यंग्य है, पर कटुता नही। कवित्व दृष्टि वहाँ भी रही है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को ख्याति मिली है, उपन्यास व एकाकी के क्षेत्र मे। किन्तु, उन्होने नाटक भी लिखे है। 'जय-पराजय' को

अत्यन्त सफलता मिली है। 'छठा बेटा', 'आदि-मार्ग', 'कैद और उडान', 'स्वर्ग की झलक', आदि उनकी अन्य रचनायें है। उनका स्वाभाविक क्षेत्र अन्तत. एकांकी ही ठहरते है, क्योकि वही उनका व्यंग्य, उनकी प्रतिभा का साथ लेकर, उभर पाया है।

नयी सम्भावनायें

भारत की स्वतन्त्रता के साथ-साथ नये विषय और नये क्षेत्र सामने आये हैं। राष्ट्र-निर्माण मे नाटक बहुत भाग ले सकते है, इस दृष्टि से नाटको मे नये प्रयोगो की आवश्यकता है। नये-नये लेखक नयी-नयी समस्याओ को लेकर इस क्षेत्र मे उतरे है। ललित-कला-अकादमी की स्थापना एव प्रान्तीय स्तर पर नट-मण्डलियो की स्थापना के साथ इस विषय मे नयी उम्मीदें जगी है। लेखको को इस विषय मे प्रोत्साहन दिया जा रहा है। रंगमंचो की स्थापना मे पिछले कुछ वर्षो मे भारत सरकार ने कुछ श्रम किया है। आगामी कुछ वर्षो मे ही देशव्यापी जाल सा इन रंगमचो का बिछ जायेगा। रेडियो ने भी नाटको के लेखको को लेखन मे सहायता पहुँचाई है। किन्तु 'ध्वनि नाटक' या 'रेडियो-नाटक' सामान्य नाटक से भिन्न होता है। सामान्य नाटक पाठ्यरूप मे भी अपनी उपयोगिता रखता है। गीति-नाट्यो के प्रयोग की दृष्टि से प्रसाद के बाद 'पन्त' का स्थान आता है; किन्तु इनमे भी रंगमचीय दृष्टि का अभाव ही रहा है। गीति-नाट्य का नृत्य के साथ सीधा सम्बन्ध है और उसके लिये रवीन्द्र जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा का कलाकार ही चाहिये। सिनेमा के दुष्प्रभाव से, तथा कालेजो मे एकाकियो के प्रचलन से, अब तक भी नाटको को प्रमुखता प्राप्त नही हो सकी है। परन्तु रगमंच की स्थापना के साथ, व भारत के नव-निर्माण की बदली आवश्यकताओ के साथ, ऐसा सम्भव होगा, यही आशा है।

हिन्दी एकांकी

हिन्दी साहित्य ने जिन आधुनिक विधाओ को अपनाया है, उनमें एकाकी का स्थान प्रमुख है। अनुसन्धान-प्रेमी बहुधा वर्तमान एकाकी का उद्गम सस्कृत एकाकियो से जोड बैठते है। इस उत्साह मे वे नाटक को 'रूपक' कह कर एकांकी को 'उपरूपक' कह डालते है। वे यह भूल जाते है, कि 'उपरूपक' का एकाकी से सीधा सम्बन्ध नही। एकांकी की चार-पांच विधाये जो संस्कृत में प्रचलित थी, उनका ग्रहण 'रूपक' के दस भेदो के अन्तर्गत ही होता है। भारतेन्दु के कुछ एकाकियो का परिगणन उन्ही वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है। किन्तु इब्सन और 'शॉ' ने पश्चिम मे जिस एकाकी-कला को बढावा दिया, उसने उसे नाटक से सर्वथा स्वतन्त्र एक नई विधा बना दिया। जिस प्रकार वर्तमान 'नाटक' शब्द से हम सस्कृत के 'नाटक', 'प्रकरण', 'समवकार', 'नाटिका', आदि का ग्रहण कर सकते है, उसी प्रकार वर्तमान 'एकाकी' मे 'अक', 'वीथी', 'व्यायोग', 'भाण,' आदि का अन्तर्ग्रहण हो जाता है। 'प्रहसन' की विधा को आज अलग मान लिया गया है। प्राचीन मानो के आधार पर एकाकी के विभाजन की न आवश्यकता रही है, न ऐसा करना न्यायोचित ही है। एकाकी के नये शिल्प-विधान मे ऐसी मौलिक एकता निहित है, कि उसे पुराने वर्गो मे रखना महत्त्व हीन हो जाता है। हाँ, 'भाण' के रूप मे वर्तमान 'मोनोलॉग' ने स्वतन्त्र सत्ता अवश्य ग्रहण कर ली है।

भारतेन्दु ने सस्कृत के अनुकरण पर कुछ एकाकी लिखे। किन्तु उन एकांकियो का महत्त्व अधिक नही है। उन्हे आधुनिक एकांकी का जनक कहना किसी भी रूप मे उचित नही। आधुनिक एकाकी के प्रथम सूत्र 'प्रसाद' के 'एक घूट' नामक एकाकी मे पाये गये है। कथा-सूत्र की एकता व सक्षिप्तता उसमे विद्यमान है। निर्देशन की जो प्रवृत्ति बाद मे बढी, उसका उसमे अभाव है। किन्तु, निर्देशन की इस अधिकता की उपयोगिता आज स्वय सशयापन्न है। बीच के युग मे शॉ और इब्सन के

प्रभाव के कारण यह वृत्ति वढी थी। किन्तु इसमे निर्देशक की प्रतिभा को कुण्ठित मान कर आगे वढा जाता है। आज फिर से निर्देशन का भार निर्देशक की प्रतिभा पर छोड देने की प्रवृत्ति वढ चली है।

प्रसाद के लगभग समकाल या कुछ पूर्व ही रचे गये सुदर्शन, रामनरेश त्रिपाठी, बदरीनाथ भट्ट, एवं पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' रचित कुछ एकाकियो की सूचना भी उपलब्ध होती है। किन्तु इन्हे 'आधुनिक' नही कहा जा सकता। कथावस्तु का उचित सक्षेप व उद्देश्य की व्यग्रता वहाँ नही है। चरित्र-चित्रण को प्रधानता प्राप्त होने के कारण वहाँ वक्तव्य वस्तु को केन्द्रीभूत एव उचित महत्त्व प्राप्त नही हो सका।

'प्रसाद' के सम्मुख ही वनने वाले कुछ एकाकियो मे यह नवीनता झलकनी आरम्भ हो गई थी। उदयशकर भट्ट, भुवनेश्वर प्रसाद, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, आदि उस युग के कुछ प्रमुख एकाकीकार हैं। इनके आरम्भिक एकाकियों मे किसी नव-चेतना का स्फुटन प्रत्यक्ष न हुवा। एकाकी इन्होंने कई लिखे, किन्तु नई शैली का समावेश कुछ वाद मे ही हुवा।

नई शैली के समावेश का श्रेय **डा० रामकुमार वर्मा** के 'वादल की मृत्यु' को दिया जाता है। कलात्मक सनिवेश की दृष्टि से यह एकाकी अपने पूर्ववर्ती एकांकियों से भिन्न ठहरता है। डा० वर्मा के एकाकियो मे उद्देश्य की तीव्रता, वस्तु की सक्षिप्तता एव एकाग्रता, तथा कार्य की एकता को जो प्रधानता प्राप्त है, वह उन्हे अन्य एकाकियो से भिन्न सिद्ध करती है। कविता, इतिहास, आलोचना, और एकाकी मे से उनका निसर्ग-सिद्ध क्षेत्र 'एकाकी' ही कहा जा सकता है। उनके एकाकियो के अनेको सग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

भुवनेश्वर प्रसाद पर इब्सन का प्रभाव भाव-तत्व की दृष्टि से अधिक पडा है। कला मे वे 'शॉ' के अनुयायी ठहरते है। उनके एकाकी भी समर्थ एकाकी है। साहित्यिकता का आवरण उनमे रामकुमार वर्मा की अपेक्षा कम, तथा लाक्षणिकता अधिक है। सवादो का प्रवाह स्पृहणीय है। उनके निर्देशन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है।

गोविन्द वल्लभ पन्त एव **हरिकृष्ण प्रेमी** को एकाकी क्षेत्र मे ख्याति तो मिली है, किन्तु उन्हे हम अपेक्षाकृत कम आधुनिक कहेगे। उनकी अपेक्षा लक्ष्मीनारायण 'मिश्र' के समस्या-एकाकियो, उदयशकर भट्ट के प्रगतिशील एकांकियो, व सेठ गोविन्ददास के सास्कृतिक एकाकियो का महत्त्व अधिक

है। 'पन्त' मे भावुकता अधिक है। 'प्रेमी' जी ऐतिहासिक रोमांस में डूब जाते है। आधुनिक जीवन की झाँकी उन दोनो मे अप्रत्यक्ष ही आती है। उनके विपरीत **लक्ष्मीनारायण मिश्र** और **उदयशंकर भट्ट** आज के जीवन की समस्याओ से सीधे-सीधे जूझते है। दोनो ने ही नई कला मे काँट-छाँट की है। निर्देशनो के स्थान पर वस्तु-तत्व की सप्राणता पर अधिक बल दिया है। 'मिश्र' मे भावुकता अधिक है। उनकी दृष्टि भारतीय संस्कृति से प्रेरित है। 'भट्ट' प्रगतिवादी है। उनकी भाषा प्रवाहमय है। भट्ट जी नाटक से अधिक इस क्षेत्र मे सफल रहे है।

इन दोनो के अतिरिक्त **सेठ गोविन्ददास** ने भी अच्छे एकांकी लिखे हैं। कलापक्ष मे, उनका निर्देशन के अंग को अत्यधिक विस्तृत कर देना कदाचित् अनौचित्य की सीमा तक पहुच गया है। अन्यथा सांस्कृतिक उद्भावना की दृष्टि से उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। वे गाँधीवाद से प्रभावित है ही, पर उन पर औपनिषदिक चिन्तन का भी प्रभाव प्रत्यक्ष होता है। इस क्षेत्र मे 'शाप और वर' जैसे कुछ नये प्रयोग भी उन्होंने किये है। वे भी नाटको की अपेक्षा इस क्षेत्र मे अधिक सफल रहे है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को प्रगतिवादी एकाकीकार कहा जा सकता है। उनके एकाकी दैनिक जीवन की विषमताओ पर व्यग्यात्मककटु प्रहार करते हैं। कला-सनिवेश की दृष्टि से वे अधिक अच्छे बन पाये हैं। **विष्णु प्रभाकर** के एकाकियो मे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, आदि सभी प्रकार के एकांकियो की प्रमुखता है। उनके कुछ एकाकी अत्यधिक सफल रहे हैं। **चतुरसेन शास्त्री, सद्गुरुशरण अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा**, एव **रामनरेश त्रिपाठी** के एकाकी पुराने विषयो एव कलात्मक-विधानो पर आधारित हैं। नव्यता का स्पर्श उनमे नही है। चरित्र-चित्रण की वहाँ प्रधानता है। इन पुराने कलाकारो मे नवीनता एव कलात्मक-व्यंग्य की दृष्टि से **भगवतीचरण वर्मा** के एकाकियों का स्थान प्रमुख है।

नई चाल के लेखको मे **जगदीश चन्द्र 'माथुर'** एवं **'अज्ञेय'** के नये प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। माथुर पर्याप्त पहले से लिखते आ रहे हैं। अज्ञेय ने भी आरम्भ से ही नये प्रयोग किये है। माथुर की कलाकृतियों मे कलात्मक उठान स्पष्ट है।

अन्य लेखको मे आनन्दप्रकाश, रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मीनारायण लाल, सत्येन्द्र शरत्, कणाद ऋषि भटनागर, जयनाथ 'नलिन', हसकुमार तिवारी, विमला लूथरा, आदि के नाम प्रसिद्ध है।

ध्वनि नाटक एवं ध्वनि एकांकी

रेडियो के साहित्य-जगत् मे प्रवेश ने सर्वाधिक क्रांतिकारी वस्तु दी है—'ध्वनि-नाटक' और 'ध्वनि-एकाकी' के रूप मे। अब तक के नाटक व एकाकी रगमचीय आवश्यकता पूर्ति के लिये ही लिखे जाते थे। अब भी उन्हें साहित्यिक विधा के रूप मे इसी प्रकार लिखा जाता है। किन्तु रेडियो पर उन सबको उसी रूप मे अभिनीत नही किया जा सकता। वस्तुत नाटक और एकाकी की रचना जिन निर्देशन-कोष्ठको पर आधारित होती है, उनका सम्वन्ध रग-मच से होता है। 'सामान्य नाटक और एकाकी का आधा प्रभाव रगमच पर आधारित होता है'— ऐसा कहना आपत्ति-पूर्ण न गिना जाना चाहिए। सत्य यह है कि उन नाटको को पढते समय भी यदि कल्पना मे उस विशिष्ट रंगमंच को न लिया जाये, तो वे नाटक सम्वाद-मात्र रह जायेगे।

रेडियो पर उन्ही नाटको का प्रदर्शन करने के लिये उनमे पर्याप्त अन्तर लाना पडता है। सक्षेप के साथ-साथ वहाँ सर्वाधिक अवधेय अन्तर यह होता है कि, रंगमंच की दृश्य-रूप मे अनुपस्थिति होने के कारण, रंगमचीय दृश्यो का स्थान ध्वनि-प्रभावो को देना पडता है। स्वाभाविक है कि उनमे ऐसे दृश्य ही गृहीत हो सकते है, जिन्हे ध्वनि-प्रभावो द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति दी जा सकती हो।

'नाटक' और 'एकाकी' का जो अन्तर सामान्य साहित्य मे है, वही रेडियो पर भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ इन दोनो को आवश्यकतानुसार सक्षिप्त और विस्तृत कर दिया जाता है। अधिक लम्बे नाटको के सक्षेप के लिए सूत्रधार को बीच मे लाना पडता है, ताकि वह विछिन्न कथा-सूत्रो मे एकता स्थापित कर सके, और अनावश्यक अशो को निकाल सके।

'एकांकी' के संक्षिप्त रूप ही 'झलकियो' के रूप मे प्रस्तुत किये जाते हैं। वहाँ कोई 'कथावस्तु' केन्द्र मे न रहकर, केवल एक विशिष्ट उद्देश्य, किसी भाव या घटना की स्पष्टता मात्र के रूप मे, प्रमुख रहता है। 'फीचर' को नाटकीय ढाँचे मे गिनना गलत है। 'फीचर' वर्णन प्रधान रहता है, बीच-बीच मे

वार्तालाप आदि का कार्य एक या अधिक व्यक्ति कर लेते है। उसमे ध्वनि-प्रभावो की आवश्यकता यदा-कदा ही पडती है। उपन्यास और कहानी के रेडियो-रूपान्तर के लिए ही उसका प्रयोग किया जाता है।

'ध्वनि-नाटक' और 'ध्वनि-एकांकी' के लिये प्रायः साहित्यिक नाटको और एकाकियो का ही रूपान्तर किया जाता रहा है। गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला', जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क', हरिकृष्ण प्रेमी का 'वन्धन', अश्क जी का 'छठा बेटा', उदयशकर भट्ट का 'विक्रमोर्वशीय', देवराज दिनेश का 'रावण', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अहल्या', आदि अनेको नाटक सफलता-पूर्वक रेडियो पर 'ध्वनि-नाटक' के रूप मे रूपान्तरित करके प्रस्तुत किये जा चुके हैं। इनमे से अनेक के मूल स्वरूप मे कुछ न कुछ अन्तर करना पडा है।

परन्तु इससे भी अधिक सफल प्रयोग हुवा है, एकाकियो का। 'ध्वनि-एकांकी' के खेलने मे समय कम लगता है, पात्र कम होते है, तथा ध्वनि-प्रभावो की आवश्यकता भी अपेक्षाकृत कम रहती है। उसमे वक्तव्य-वस्तु पर अधिक वल रहता है। इस क्षेत्र मे रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदयशकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, देवराज 'दिनेश', चिरजीत, हरिकृष्ण प्रेमी, हसकुमार तिवारी, प्रभाकर माचवे, स्वदेश कुमार, रामचन्द्र तिवारी, भृ ग तुपकरी, राजाराम शास्त्री, अनिलकुमार, सत्येन्द्र शरत्, कैलाशचन्द्र, आदि के नाम अग्रगण्य है। कविवर पन्त ने ध्वनि-गीति-नाट्यो के साथ ही कुछ 'ध्वनि-एकाकी' भी समय-समय पर लिखे है। इनके अतिरिक्त अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, भारतभूषण, आदि का नाम भी इस क्षेत्र मे स्पृहणीय है।

पर, इतना सव हो जाने पर भी, साहित्य मे ये विधाये पृथक् से अपना महत्त्व ग्रहण नही कर पाई है। कारण यही है कि श्रव्यप्रधान होने से इनके सुनने मे ही अधिक रस आता है। पठन मे इनसे वैसी रसानुभूति सम्भव नहीं। रसानुभूति के अभाव मे इनकी उपयोगिता सामान्य पाठक के लिये नही रह जाती।

परन्तु, दूसरी ओर, इससे साहित्यिक नाटको और एकाकियो के लिये भी नये आदर्श जगे हैं। हिन्दी के कुछ प्रमुख नाटककारो ने इस प्रत्यक्ष अनुभव का लाभ उठा कर अपनी रचनाओ को अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। इस क्षेत्र मे जगदीशचन्द्र माथुर का नाटक 'कोणार्क', एव एकाकी-संग्रह 'भोर का तारा', आदि अनुकरणीय महत्त्व के वन पाये है।

हिन्दी उपन्यास

कहानी कहने की प्रवृत्ति मनुष्य मे सहजात ही आई है। अपने जीवन के विषम सघर्षो मे उलझकर जब कभी वह जीवन का तटस्थ पर्यवेक्षण करके उसका आनन्द लेना चाहता है, वह सत्य अनुभूतियो को ही किसी काल्पनिक जीवन मे उतार लेता है। और, इस प्रकार जीवन के कल्पनानुकूल तटस्थ पर्य-वेक्षण मे वह समर्थ होता है। यही कहानी का इतिहास है, आधार हैं ! आज के अधिकाधिक संघर्षमय जीवन मे मानव की इस पिपासा का अधिकाधिक बढ़ना स्वाभाविक है। जीवन की विविधतामय उलझनो मे गहरी पैठ और अनुभूति के लिये ही उसने आज की कहानी और उपन्यास को माध्यम रूप मे ढाल लिया है। परिणामत. आत्मा मे एक होकर भी आज की कहानी व उपन्यास को पुरानी कहानी व उपन्यास का अभिन्न अग कहना भ्रामक है।

वर्तमान 'कहानी' का स्वरूप

कथा, आख्यायिका, या कहानी का मूल उत्स हम 'पचतन्त्र', 'तन्त्राख्यायिका,' 'बृहत्कथा', 'अरब-नीति-कथा', 'ईसप-नीति-कथा', या किसी भी अन्य प्रकार की कथा को मान ले, किन्तु तत्व और आकार मे उसने जो नवीनता ग्रहण की है वह, विश्वभर मे, मात्र पिछली शती का चमत्कार है। अब कहानी न तो अन्योक्तियो का सहारा लेकर, पशुकथाओ, परी-कथाओ, या अन्य प्रहसनादि के रूप मे उतरती है, नाही उसमे इतिहास की भाँति केवल एक कल्पित घटना क्रम को वर्णन मात्र कर देना ही अभीष्ट रहा है। पिछली सदी मे जीवन का उससे सीधा सम्बन्ध स्थापित हुवा है। किसी रूपक का सहारा न लेकर, उसने जीवन को सहानुभूति से देखा है, और उसे समझने-समझाने का प्रयास किया है।

उपन्यास और रोमांस

'कहानी' के रूप मे जीवन के इस एकागी पर्यवेक्षण की जगह उसके सर्वा-गीण पर्यवेक्षण के लिये 'उपन्यास' को माध्यम चुन लिया गया है। भारतीय

परम्परा मे ५वी शती ईस्वी से, और पश्चिमी परम्परा में उससे एक सहस्र वर्ष बाद, हमे जिस 'उपन्यास-कथा' के दर्शन होते हैं, वह आज के उपन्यास का मूल-उत्स भले ही कहा जाय, आकारतः व तत्वतः वह आज के उपन्यास से भिन्न है। 'रोमांस' के रूप मे पश्चिम मे जो उसे, एक भिन्न सत्ता मानकर, भिन्न नाम दिया गया है, प्राचीन भारतीय साहित्य में वैसा कहना असम्भव है। भारतीय कथा, नाटक, काव्य आदि की मूल भूमिका मे ही **धर्म, अर्थ, काम**, आदि की दैनन्दिन जीवनोपयोगिता एवं उनके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। अतः भारतीय कथा 'सत्यकथा' का अनुकरण भले ही न रही हो, उसमे निहित जीवनादर्शों को '**रोमांटिक**' कोटि का नही माना जा सकता। आकारतः भले ही उनमे से बहुत सी 'रोमास' ही दिखाई देती हैं। पाश्चात्य कथाओ मे उन्नीसवी शती तक यथार्थ की वह वृत्ति न आ सकी थी। इसी लिये जब उन्नीसवी शती मे जीवनादर्शों के बदलते मानो से उस 'विस्तृतकथा' या 'लघु-कथा' का सम्बन्ध स्थापित किया गया, तो विषय व आकार की नवीनता के कारण इसे 'रोमांस' से भिन्न समझकर, 'नवता' का सूचक 'नॉवल' नाम दे दिया गया। महाराष्ट्री मे 'नवलकथा' नाम उसी का रूपान्तर मात्र है। किन्तु महाराष्ट्री का ही '**कादम्बरी**' शब्द, उपन्यास के लिये रूढ होकर, भारतीय उपन्यास साहित्य पर उस नाम की मध्ययुगीन कथा के विस्तृत प्रभाव को बताने के लिये पर्याप्त है। कुछ भी हो, वर्तमान उपन्यास-साहित्य, वर्तमान कहानी की ही भांति, एकदम सस्कृत परम्परा का अनुगामी नही है। न ही उसे एकांततः पश्चिम का अनुकरण कह देना उपयुक्त है।

उपन्यासो का भारतीय रूप

'रानी केतकी की कहानी' मे इंशा उल्ला खाँ ने, 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' मे देवकीनन्दन खत्री ने, तथा 'कायाकल्प' मे मुंशी प्रेमचन्द ने जिन कथादर्शों का पालन किया है, वे आत्म-तत्व मे भिन्न दिखाई देकर भी, आकारत. भारतीय कथा के अनुकरण पर दिखाई देते हैं। उन्नीसवी शती के, बंगला के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्दमठ' (बकिम) को एकदम पाश्चात्यानुकरण कह देने से पहले उसके कुछ ही समय बाद लिखे जाने वाले संस्कृत उपन्यास '**शिवराज-विजय**' (अम्बिकादत्त व्यास) का भी अध्ययन कर लेना चाहिये। उसमे और 'कादम्बरी' मे अन्तर कथा की सत्यता का है। शैली एवं कथा-प्रवाह की दृष्टि से उसका प्रवाह बंकिम के 'आनन्दमठ', व शरत् के 'दुर्गेशनन्दिनी', से

अभिन्न है। परन्तु उसे पाश्चात्य की नकल न कहकर, शुद्ध-भारतीय परम्परा
की वस्तु कहा जाना चाहिये। यह रचना भारतेन्दु के समय की है।

भारतेन्दु के उपन्यास

निश्चय ही सैयद इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को
आधुनिक ढंग का पहला उपन्यास नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि बगला
के बंकिम व शरत् के उपरोक्त उपन्यासो को आधुनिक उपन्यासो की कोटि मे
रखा जा सकता है, तो अम्बिकादत्त व्यास के संस्कृत उपन्यास 'शिवराजविजय'
की शैली मे ही लिखे जाने वाले भारतेन्दु के प्राथमिक उपन्यासो को भी, उसी
कोटि मे, हिन्दी के प्रथम-उपन्यास कहा जाना चाहिये। भारतेन्दु के समकालीन
गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकी नन्दव खत्री, एव देवकी
नन्दन त्रिपाठी, आदि के 'रोमास-प्रधान' तथा बालकृष्ण 'भट्ट' व लाला
श्रीनिवासदास आदि के आदर्श 'प्रधान' जितने भी उपन्यास सामने आये, उन्हें,
इस कोटि में न गिनकर, 'रोमांस' कहना ही अधिक उपयुक्त है। पाश्चात्य
विद्वान् 'क्रॉस' की परिभाषा के अनुसार जीवन की अतिरजित आयोजना, चाहे
काल्पनिक हो या आदर्शप्रधान, 'रोमांस' मे ही गृहीत हो सकती है। 'उपन्यास'
तो उस कृति को ही कहा जा सकता है, जिसमे जीवन का अधिकाधिक सत्य
वर्णन, सत्यवत् प्रतीयमान घटनाक्रम के माध्यम से ही, प्रस्तुत किया जाय।
घटनाक्रम के चमत्कार की अपेक्षा उसमे जीवन के आन्तरिक सत्यो के परिदर्शन
की योजना होनी चाहिये। इस आधार पर परीक्षा करने पर ये सभी कथानक
'उपन्यासो' मे गृहीत न हो सकेंगे। परन्तु इसी आधार पर भारतेन्दु के उप-
न्यास भी, जीवन सत्यो के निकट व्याख्याता के रूप मे, उस प्रकार से
'उपन्यासो' गृहीत न किये जा सकेगे, जिस प्रकार से परवर्त्ती 'उपन्यास' ग्रहण
किये जाते हैं। फिर भी उनके उपन्यासो मे देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता'
और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के उपन्यासो से स्पष्ट भिन्नता है। उन उपन्यासों में
कथानक सगठन और जीवनदर्शन की अपेक्षा केवल कौतूहल पक्ष पर अधिक बल
दिया गया है। कितना ही लोक-प्रिय होने पर भी उस श्रेणी के कथानको को
उपन्यास नही कहा जा सकता। इसके सम्मुख भारतेन्दु के कथानक कुछ अधिक
सन्नद्ध थे, और उनमे उद्देश्य के प्रति व्यग्रता अधिक थी।

प्रेमचन्द : युग-स्रष्टा

वास्तव मे 'हिन्दी-उपन्यास' की कहानी का आरम्भ प्रेमचन्द के हिन्दी-

क्षेत्र मे आगमन से माना जाता है। इनका अर्थ यह नही कि 'हिन्दी-उपन्यास' को एक दम पश्चिमी उपन्यास परम्परा या बगला उपन्यास-परम्परा की देन कह दिया जाय। हिन्दी के अपने प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' (सन् १९१६ ई०) के प्रकाशन से पूर्व प्रेमचन्द ने उर्दू मे कुछ उपन्यास प्रकाशित किये थे। उनके उन उपन्यासो में एक स्वतन्त्र विकास की झलक स्पष्टतः मिल जाती है। विशेष कर प्रेमचन्द के उपन्यासो के विषय-निर्धारण में, बाह्य-प्रभाव को गिनने की अपेक्षा, उनकी परिस्थितियो व कार्यक्षेत्र पर दृष्टिपात करना अधिक उचित होगा। तब हम यह समझ सकेंगे कि चारित्रिक और सामाजिक-सुधार की जो भावना उनके यहाँ आरम्भ मे ही पाई गई है, वह उनके समाज और उनकी परिस्थितियो की अपनी देन है। उनकी अपनी अनुभूति ने उन्हें लिखने पर विवश कर दिया। उनकी शैली का निखार भी क्रमश. स्वाभाविक रूप मे ही हुवा है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि नवीनता की दृष्टि से उनकी प्रस्तुत वस्तु बगला व अग्रेजी के कदमो पर थी, या उस प्रकार की थी। उसे 'अनुकरण' मात्र कह देने से, उसमे विकासित 'मानवतावाद' को भी हम 'शरत्' या 'रवि' बाबू का अनुकरण-मात्र कह देगे। यह अवश्य है कि उनकी शैली के विकास मे निश्चय ही इन धाराओ का भी योग रहा होगा।

उनका कृतित्व

प्रेमचन्द को हिन्दी का **कहानी-सम्राट्** और **उपन्यास-सम्राट्** कहा जाता है। उनके उपन्यासों की संख्या बारह है, जिनमें से अन्तिम—'मंगल-सूत्र' अधूरा है। उपन्यासों की सख्या-दृष्टि से उनसे भी अधिक उपन्यास अनेकों लेखको ने लिखे है। किन्तु उनका यह महान् पद आज भी अक्षुण्ण है। **शरत् बाबू** की भाति उनके उपन्यास भी उनके जीवन की बोलती निशानी हैं। उन्होने उपन्यास और कहानियों का सृजन किन्ही किस्से-कहानियो को कहने या उत्सुकता शमन के लिये नही किया। बल्कि जीवन की जिस ज्वलन्त-अनुभूति ने उन्हें विवश किया, उसका चित्रण पूर्ण सजीवता और सप्राणता के साथ करना ही उनका ध्येय रहा।

कलापक्ष

आरम्भ मे वे भी कथाकार की भांति कथा के ढांचे ध्यान पर देते रहे और वक्तव्य के साथ-साथ कथा-निर्माण की ओर उनकी विशिष्ट वृत्ति रही।

किन्तु, धीरे-धीरे उनका वक्तव्य ही प्रधान होता गया, और कथा के ढाचे के प्रति उनकी दृष्टि सामान्य होती गई। आरम्भ मे कथा के रचनातत्व मे 'अन्त' पर बड़ा ध्यान देते थे। उसका परिणाम होता था कि अन्तत. उन्हें किसी 'आदर्श' की ओर झुकना पडता था। यह आदर्श निश्चिय ही 'वाह्य' बन जाता था: वह कथा का स्व-विकसित अंश नही रह पाता था। कथा के स्व-विकसित अश में किसी 'अन्त' की चिन्ता नहीं की जाती। जीवन स्वयं एक 'अन्त' है, उद्देश्य है। जीवन की यह नियोजना जितनी ही सर्वांगपूर्ण और विकसित होगी, उतनी ही कथात्मक आवरण की आवश्यकता कम होती जायेगी। प्रेमचन्द के कलापक्ष के की विकास की कहानी यही है।

विपय-विकास

व्यक्ति सुधार—विपय-विकास की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासो को **व्यक्ति, समाज** और **मानवता** के तीन चरणो मे रखा जा सकता है। उनके आरम्भिक उर्दू उपन्यासो मे 'व्यक्ति' को प्रधानता रही है। यह प्रधानता किसी 'मानवतावादी' दृष्टिकोण, या 'प्रगतिवाद-विरोधी' दृष्टिकोण के कारण नही है। प्रमचन्द ने **'आर्य-समाज'** के प्रभाव को लेकर जिस सत्य की अनुभूति ली थी, वह था **'व्यक्ति'** का वर्तमान चारित्रिक पतन से उद्धार; भले ही उस पतन का कारण आर्थिक हो या कुछ और। एक समाज-सुधारक की-सी प्रेरणा लेकर वे इस चारित्रिक पतन का हल ढूँढने के लिये व्यग्र थे। ऐसा करते हुवे भी उनका 'उपन्यासकार' रूप सुप्त नही हुवा। कथा-प्रवाह की सरसता में किसी भी प्रकार व्याघात नही आ पाया है। 'व्यक्ति का सुधार, समाज के सुधार की, पहली सीढी है', इसे वे स्वीकार करते थे। **'प्रतिज्ञा'**, **'प्रेमा'** और **'वरदान'** उनके इसी कोटि के उपन्यास है, जो वाद मे उर्दू से हिन्दी मे रूपान्तरित हुवे।

समाज-चेतना—उनके उपन्यासो का दूसरा वर्ग समाज से सम्बद्ध है। इसके दो विभाग किये जा सकते है। पहले विभाग मे **सेवासदन, गबन,** व **निर्मला** उपन्यास आते है, जिनमे सामाजिक समस्याओ का चारित्रिक-पक्ष प्रबल होकर सामने आया है। निश्चय ही इनसे लगती हुई आर्थिक समस्यायें भी हमारे सामने उभर कर आती है। किन्तु प्रेमचन्द उनका कोई आर्थिक समाधान ढूंढ़ने का यत्न नही करते। ना ही उनकी ओर सबल रूप मे, ध्यान खीचना ही उनका लक्ष्य रहा है। दूसरी ओर, दूसरे वर्ग के उपन्यासो

मे 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' और 'रगभूमि' आते है, जिनमे चारित्रिक समस्याये होते हुवे भी, सामाजिक समस्याओं को ही प्रमुखता मिली है। यहाँ उनकी दृष्टि समाज के आर्थिक पहलू और उसके आन्दोलनो की ओर अधिक उन्मुख हुई है। इन उपन्यासो के लिखे जाने तक स्वयं मुंशी प्रेमचन्द 'सत्याग्रह-आन्दोलन' और 'गांधीवादी-विचार धारा' के प्रभाव मे आ चुके थे। 'असहयोग' के दौर मे ही उन्होने सरकारी नौकरी को छोडा था, और काशी विद्यापीठ गये थे। किन्तु वहाँ भी उन्हे वैयक्तिक स्वतन्त्रता न मिली। स्वतन्त्रता के पुजारी के लिये देश और समाज की स्वतन्त्रता समान रूप मे आवश्यक थी। उन्हे दो वार अपना प्रेस स्थिर करने पर श्रम करना पडा। इस सब सघर्ष मे उनका परिचय जीवन के आर्थिक पहलू से भली-भाँति हुवा। इसी वीच ग्राम-जीवन की झाकी भी उन्हे भरपूर देखने को मिली।

'यथार्थ' का निखार

इसलिये आवश्यक था कि उनके इन उपन्यासों में ग्रामीण और नागरिक जीवन के अभावों और कष्टों का, उनके स्वतन्त्रता के इतिहास का, उनके सघर्षों और कठिनाइयों का, उनके सद्भावों और उनके व्यवहारों का पूरा-पूरा चित्रण हो। यहाँ प्रेमचन्द का 'यथार्थवाद' पूरे रूप मे निखर उठा है। 'आदर्श' की अन्तिम झलक 'रंगभूमि' तक आते-आते मिट गई। यथार्थ के इस स्तर पर भी प्रेमचन्द जीवन के कुत्सित, गर्हित, अथवा अभिशप्त पक्ष के चित्रकार नही वन गये थे; वल्कि उन्होने जीवन के सौन्दर्य के लघुतम अग के प्रति भी अपनी दृष्टि को खुला रखा था। इतने सघर्षो से घिरे जीवन मे भी वात्सल्य, दाम्पत्य, भ्रातृत्व, आदि के सुन्दर चित्र देखने को उनकी कृतियो मिल जाते हैं। इस प्रकार उनका 'यथार्थ' केवल प्रचार के रूप मे अपनाया गया एक 'वाद' या 'नारा' मात्र न था, वल्कि उसमे जीवन के विष और अमृत दोनो को ढूढने का यत्न सनिहित था।

जीवन और साहित्य

अव यदि फिर से एक दृष्टि डाली जाय तो, यह वात स्पष्ट होगी कि प्रेमा, प्रतिज्ञा और वरदान में भी यथार्थ की यही वृत्ति पाई जाती है। सच तो यह है कि सदियो से हिन्दी के साहित्यिक प्रवाह मे, नाटक में जीवन और साहित्य का जो समन्वय भारतेन्दु ने किया था, वही समन्वय कथा-क्षेत्र मे

प्रथमबार खुलकर प्रेमचन्द ने स्थापित किया। इसीलिये कहानी और उपन्यास के क्षेत्र मे उन्हे युग-प्रवर्त्तक का पद प्राप्त हुवा। पहले तीनों और बाद के सामाजिक चरित्र-प्रधान तीनो उपन्यासो के **यथार्थ** का, उनसे बाद के सभी उपन्यासो के यथार्थ से, यही अन्तर है कि इन पहले छह उपन्यासो मे कथा के 'अन्त' को प्रयत्न पूर्वक किसी आदर्श की ओर मोडने का लेखक ने किंचित् प्रयास किया है। **'गबन'** और **'सेवासदन'** मे आश्रमो की स्थापना हो, या **'निर्मला'** मे समाज के डर से नायिका का नदी मे डूबना : उसे चाहे आदर्श कहें या कुछ और, वह है निरा 'पलायन' ही ! **यथार्थ** को अन्त तक निवाहने की सामर्थ्य उनमे न थी, ऐसा तो नही कहा जा सकता। लेकिन इतना अवश्य है कि समाज-सुधार की भावना उन पर इस तरह सवार थी कि वे उपन्यासो को जन-शिक्षण का माध्यम बना बैठे।

पूर्ण यथार्थ

परन्तु बाद मे उन्हें भी साहित्य की स्वतः प्रभाविनी शक्ति का विश्वास हो गया था। साथ ही समाज के ज्वलन्त **यथार्थ** ने उनके 'सुधारवादी-स्वर' की असामर्थ्य और नि सारता प्रगट कर दी थी। इस प्रकार के आदर्श की ओर न मुडकर, शुद्ध अपने पथ पर चलने वाले यथार्थ की पूर्णता 'गोदान' मे ही हो पाई है। **'गोदान'** प्रेमचन्द की उपन्यास-यात्रा की अन्तिम मजिल है। उसके बाद का 'मंगल-सूत्र' अधूरा ही रह गया, वे उसे पूर्ण न कर सके। 'मगल-सूत्र' की दिशा 'गोदान' मे ही निश्चित हो गई दीखती है। 'गोदान' मे **समाज** भी है, अपनी सम्पूर्ण विविधताओ और विवशताओ के साथ! उसमे **व्यक्ति** भी है, अपनी सम्पूर्ण चारित्रिक व सामाजिक कमियो और खूबियो के साथ ! परन्तु कुछ है कि पाठक निश्चय नही कर पाता कि इसमे 'होरी' को वैयक्तिक रूप मे मुख्यता प्राप्त है ? या मुख्यता मिली है उसके किसान या श्रमिक वर्ग प्रतिनिधि के रूप को ? सत्य तो यह है ग्रामीण हो या नागरिक, धनी हो या निर्धन, उच्च-कुलाभिमानी वर्ग हो या दलित, शोषकवर्ग हो या शोषित : समाज का एक भी वर्ग ऐसा नहीं है कि जिसकी ओर प्रेमचन्द ने सतर्क होकर ध्यान, गोदान में, नहीं दिया है। उन सब की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हैं, और अपने-अपने रग-ढग। प्रेमचन्द ने उन सबको ही भली-भांति समझने का यत्न किया है। जीवन के सर्वांगपूर्ण चित्र से इतनी निकटता किसी और हिन्दी

लेखक को प्राप्त हुई है, ऐसा नही कहा जा सकता। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन मानो इसी एक उपन्यास, गोदान, मे ही सिमट आया है। फिर भी वे किसी एक निश्चिन्ति 'अन्त' पर गोदान को नही ले जाते। केवल यथार्थ घटना का उल्लेख कर देना ही उन्हें अभीष्ट रहा है। परन्तु कदाचित् यही उनकी सबसे बडी सफलता है।

'गोदान' क्या प्रगतिवादी है?

'गोदान' को 'प्रगतिवादी-उपन्यास' कहने वालो के लिए यही समस्या उठ खडी होती है, कि हडताल की असफलता एवं व्यक्ति के सघर्ष की असामर्थ्य को दिखाने वाली प्रेमचन्द की लेखनी उन्हे किस मजिल का इशारा करती है? और प्रेमचन्द होरी को मरता हुआ दिखा कर, स्वय किनारे खड़े हो जाते हैं। **उनका लक्ष्य समाज या व्यक्ति की कमजोरी मात्र दिखाना नहीं है, बल्कि वह तो समाज के आमूलचूल असामर्थ्य और पंगुता को ओर इंगित करते** हैं। वे यह जानते है कि रक्त-रजित क्रांति और अहिंसक क्रांतियां भी इसे सही रूप मे न ला सकेगी। क्रान्तियां सामाजिक और शासनिक व्यवस्था को पलट सकती है, उसे ठीक राह पर ला सकती हैं। किन्तु जहां समस्या मानव की भावना—मानवता—की हो, उसे 'क्रांति' क्या ठीक करेगी? क्या शोषित होने मात्र से ही भाई-भाई (हीरा) का विरोध समाप्त हो जायेगा? क्या गरीब होने मात्र से ही ब्राह्मण (दातादीन) किसान को नही चूसेगा? और क्या अमीर होने से ही मालती रायसाहब को नही ठगेगी? आखिर इस सबके पीछे मनुष्य और समाज से भी बडी एक समस्या है—**मानवता को सही रूप मे पहचानने और जानने की।** प्रेमचन्द ने उसे किसी उपदेश और आदर्श-नियोजना से जगाने का यत्न नही किया है। बल्कि वे एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करना ही अपना लक्ष्य मान कर चले है, जिसमे से उभरता मानवता का चित्र स्वय पाठक की नजर में उतर आये। वह समझ पाये कि उसका कर्त्तव्य क्या है? 'मंगलसूत्र' शायद उसी दिशा मे बढने का प्रयास था। पर शायद 'होरी' प्रेमचन्द के जीवन-सघर्षो का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था, कि उसके मिटते प्राणो ने प्रेमचन्द के जीवन को ही घेर लिया। और, इस दुनियां के अविश्वासो के बीच 'मंगलसूत्र' पूरा करने को उन्हे न रहने दिया (सन् १९३७ ई०)।

विश्व साहित्य में प्रेमचन्द

इस प्रकार समग्र जीवन-दर्शन को लेकर चलने वाले प्रेमचन्द वर्ग-सघर्ष से परिचित होकर भी उससे अछूते रहे। इसीलिए वे प्रगतिवादी होकर भी एक ऐसी दृष्टि दे सके, जो आमतौर पर किसी समृद्ध साहित्य के महानतम लेखक को ही यदा-कदा प्राप्त होती है। विश्व-साहित्य मे उनके जोड के लेखक, उतनी विशाल दृष्टि को लिये हुवे कम ही हुवे है।

'जन-भाषा' का साहित्यकार

इन सबसे बढ़कर उनकी विशेपता है, विपयानुकूल भापा का प्रयोग। उनका औपन्यासिक-विकास जिस पृष्ठभूमि पर हुवा था, उनकी भाषा भी उसी स्तर पर रही। जन-जीवन के चितेरे की भाषा 'जन-भाषा' तो थी ही, पर उसका यह अर्थ नही कि उसमे से साहित्यिकता भी लुप्त हो गई थी। उनकी लोकानुगामी भाषा का प्रौढ-कवित्व सस्कृत मे भास के नाटको, दण्डी के 'दशकुमार चरित्र', एव कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के अपभ्रंश-गीत की प्रवाहमयता की याद दिला देता है। प्रकृति-चित्रण या मानव के स्वभाव-चित्रण मे तो किसी भी कवि से वे अधिक भावुक उठते है। मानव के 'बाह्य' का इतना बडा पारखी उसके 'अन्तस्' से सर्वथा अपरिचित नही रह सकता था। 'मनोवैज्ञानिक-चित्रण' मे उन्हे असमर्थ कहने वालो को, स्वयं मनोविज्ञान की परिभाषा से परिचित होने की आवश्यकता है। प्रत्येक वर्ग के मानव के हार्दिक द्वन्द्वो का चित्रण उनसे बढ़कर कौन करेगा ?

बहुमुखी प्रतिभा के धनी : प्रसाद

प्रेमचन्द के साथ ही इस युग मे एक और उपन्यासकार ने प्रवेश किया, जिसके कुल ढाई उपन्यासो ने ही उपन्यास जगत् मे एक नई दिशा मे क्रान्ति लादी। बहुमुखी प्रतिभा के जयशकर प्रसाद का पथ प्रेमचन्द से अभिन्न होकर भी भिन्न था। वे भी परम 'मानवतावादी' थे। किन्तु मानव के वाह्य की अपेक्षा उन्हे मानव के 'अन्तस्' की परीक्षा की लगन अधिक थी। वे स्वभावतः कवि थे, उपन्यासकार के रूप मे भी। केवल कथा कहना या उपदेश देना वे अपना कार्य न समझते थे। 'उपन्यास' यदि जीवन का चित्र है, तो वे उस चित्र को अधिकाधिक पूर्ण वनाना चाहते थे। जिन दिनो प्रेमचन्द के वर्णित चित्रो मे 'आदर्शवाद' का अश व्यापक रूप मे पाया जाता था, 'प्रसाद' ने यथार्थ का सम्पूर्ण चित्र, उस समय भी, अपने उपन्यासो मे प्रस्तुत किया था।

निश्चय ही उनका यथार्थ गर्हित-सत्यो के उद्घाटन तक ही सीमित नही रहा। बल्कि जीवन के सर्वांगीण और स्वाभाविक चित्रण मे ही उन्हे पूर्ण सन्तोष हुवा। स्वभावतः ऐसे जीवन के चित्रण के लिए, सामाजिक पक्ष के अतिरिक्त वैयक्तिक और मानसिक पक्ष पर भी ध्यान देने की आवश्यकता थी।

तितली' और 'कंकाल'—'तितली' और 'कंकाल' मे सामाजिक यथार्थ पूरा-पूरा उभरा है, किन्तु मानवीय पृष्ठभूमि पर ही! समाज मे चरित्र का सम्मान कितना है? इस समस्या के सम्मुख धर्म, जाति, व पद-गौरव के सब भेद समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वह सामाजिक भूमि पर होकर भी प्रत्येक मानव की अपनी समस्या है। यही बात जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी है। 'प्रसाद' का कथन और सकेत इतना ही है कि जिसे हम सामाजिक समस्या समझ बैठे हैं, अन्ततः वह मानवीय समस्या से अभिन्न है।

अधूरा उपन्यास—उनका 'इरावती' उपन्यास ऐतिहासिक पद्धति पर चल रहा था, परन्तु प्रसाद के असामयिक निधन से वह अधूरा ही रह गया। उसे पूरा अवश्य किया गया है, किन्तु प्रसाद की आत्मा को वह स्पर्श कर पाया है या नही, इसे कहना कठिन है। प्रसाद का ध्येय, कहानी कहना न होकर, मानव के जिन आन्तरिक रहस्यो का उद्घाटन करना होता था, उन तक लेखक कदाचित् नही पहुँच पाया है। कदाचित् शैली को व्यक्तित्व की वाहक मानने का यही सबसे बडा कारण है।

'प्रसाद' का वैशिष्ट्य

उनकी सबसे बडी विशेषता है, यथार्थ के सुन्दर और कुत्सित चित्रो का बिना विभेद किये, उसका समग्रता मे चित्रण! और वे इसमे पूर्ण सफल रहे हैं। 'तितली' का अन्तिम मधुर-मिलन जैसे दोनो के समस्त पापो, विभेदो, व संघर्षो पर पर्दा डालता हुवा एक अजीब सौन्दर्य ला देता है। 'कंकाल' मे कुत्सा की वीभत्सा को जिस मधुरता मे प्रस्तुत किया गया है, वह भी 'प्रसाद' की ही प्रतिभा एवं शक्ति का परिचायक है। उनकी यही चेतना कहानियो में भी रही है।

भाषा—प्रसाद की 'भाषा' निश्चय ही काव्यमय रही है, किन्तु उससे वर्णनात्मकता में किसी प्रकार की बाधा नही पड़ी है। उनके उपन्यासों की भाषा, अन्य काव्यांगो की भाषा की अपेक्षा, सरल रही है। उसमे प्रवाह व रोचकता बराबर कायम रही है। उनके कवित्वमय वर्णन भी प्रेमचन्द से

किसी भी भाँति अधिक जटिल नही रहे हैं। वार्तालापों मे संक्षेप होने पर भी भावात्मक प्रबोधन की सामर्थ्य अधिक रही है। वर्णन, विस्तार से सीमित होकर भी, सटीक एवं उपयुक्त है।

प्रसाद और प्रेमचन्द

प्रसाद के समान इस यथार्थवाद को, बाद मे, प्रेमचन्द ने भी अपना ही लिया था। अन्तर था शैली का और मानव की आन्तरिकता का। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक संघर्षो मे उलझने वाले प्रेमचन्द की दृष्टि मे बाह्यार्थ-निरूपण वृत्ति की प्रधानता स्वाभाविक थी, जबकि प्रसाद के चिन्तक और विचारक व्यक्तित्व मे आन्तरिकता की प्रधानता ही अपेक्षित हो सकती थी।

इनके अनुवर्ती—इन दोनो के अनुकरण पर ही अगला उपन्यास साहित्य दो भागो मे बँटा। एक मे क्रमशः यथार्थ का वाह्यचित्रण, सामाजिक समस्यायें, और प्रगतिवाद प्रधान होते गये, जबकि दूसरे पक्ष मे मनोविश्लेषण, व्यक्ति-कुण्ठाओ, एवं कुत्सित यथार्थ की प्रवृत्ति बढती गई। पहले मे सामाजिकता प्रधान थी, दूसरे मे व्यक्ति-स्वभाव के चित्रण की प्रधानता थी। पहली कोटि के उपन्यास लेखकों में विश्वम्भरनाथ 'कौशिक,' सुदर्शन, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल, यशपाल, राधिकारमण सिंह, रांगेय राघव, आदि का नाम आता है। दूसरे वर्ग मे जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, सियारामशरण गुप्त आदि के नाम प्रधान है। इन सबके ही साहित्य को कई उपवर्गो मे बाँटा जा सकता है। हम इन उपवर्गो पर ही विचार करेगे।

सामाजिक-उपन्यास

सामाजिक कोटि के उपन्यासो मे पहला वर्ग वह है, जिसमे सामाजिक सम्बन्धो, पारिवारिक आदर्शों, या चारित्रिक आदर्शों की मुख्यतया रही है। **कौशिक** के 'भिखारिणी' और 'माँ' को यदि हम प्रेमचन्द के उपन्यासो के समकक्ष न भी रख सके, तो भी उसमे व्यक्ति का समाज-सापेक्ष जो चित्रण है, उसमे समाज की एक विवशता और कराह सामने आती है। **सुदर्शन** का समाज पंजाब की प्रादेशिक-भावना को लिये है। फिर भी उनके चित्रण मे समाज के रीति-रिवाज और सामाजिक गतिविधियो का सूक्ष्म अध्ययन हुवा है। उनका प्रसिद्ध उपन्यास है, 'फूलवन्ती और भाग्यवन्ती'।

भगवतीचरण 'वर्मा' का 'चित्रलेखा'

इस क्षेत्र की अन्यतम कृति है, **भगवतीचरण वर्मा** की 'चित्रलेखा'। इस अकेले उपन्यास को ही वर्मा जी के यश का आधार कहा जा सकता है। कुछ विद्वानो के अनुसार इस पर किसी फ्रेञ्च उपन्यास का प्रभाव है। किन्तु, इस पर भी इसका वातावरण इतने मौलिक रूप मे भारतीय रहा है कि इसे अनुकरण मात्र कहकर टाला नही जा सकता। कथा-प्रवाह की रोचकता कभी-कभी पुराने संस्कृत उन्यासो—**कादम्बरी** आदि की याद दिला देती है। उसके वहुत से वर्णन उतनी ही सूक्ष्मता से हुवे हैं। तो भी, उसमे उपन्यास के नवीनतम उपकरणो का पूर्ण सन्धान हुवा है। कथा स्वय उपनिपदो की कथाओ से मिलती-जुलती है। '**पाप और पुण्य**' की विवेचना मे, '**त्याग और भोग**' की वास्तविक व्याख्या भी अन्तर्हित हो गई है। "सत्य सरल है, हम उसे ढकने का प्रयास करते है: यही **पाप** है, **भोग** है। सत्य को उसके निरलकार और निरावरण रूप में स्वीकार करना ही **पुण्य** है, **त्याग** है। योगी और त्यागी दिखाई देकर भी यदि कोई स्वात्मना भोग या संग्रह की वृत्ति को न मिटा सका, तो वह **पापी** और **भोगी** है: क्योंकि वह सत्य को ढकना चाहता है। जो प्रत्यक्षत: भोगी और कामी होकर भी उसे ढकने या छिपाने का प्रयास नहीं करता, ना ही उसके लिये वल-प्रयोग करता है: वही **त्यागी** है, **पुण्यात्मा** है। दुनियां उसे भोगी कहे, किन्तु उसने सत्य को अनावृत रखकर अपनी वासना को उत्तेजित होने का अवसर ही नहीं आने दिया।" यह कटु सत्य लेखक के समाज के लिये अमर्यादित भले ही हो, अपरिचित नही है। कथा के मध्ययुगीन वातावरण ने उसे ग्राह्य वनाने मे सहायता पहुँचाई है। भापा सरल किन्तु प्रकरणानुसारी ही रही है।

सामाजिक कोटि के उपन्यासो के अन्य लेखको मे **राधिकारमणप्रसादसिंह**, पुराने लेखक हैं। उनके उन्यासो मे 'गांधीवाद' का स्पप्ट प्रभाव है। उन्होने हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर विशेप वल दिया है। इसके अतिरिक्त समाज के दलित और पीडित वर्ग—नारी, निर्धन, आदि—ने भी उनका ध्यान खीचा है। उनकी भापा सरल और सरस है। प्रवाहमय वर्णन देखते ही वनते है। 'राम-रहीम' और 'गाँवी-टोपी' एक प्रकार की रचनाये है: एक ही भावना किन्तु भिन्न-भिन्न कथा-स्तर! 'सूरदास', 'पुरुप और नारी', 'टूटा-तारा', आदि सामाजिक दशा के चित्रण मे अधिक उत्कृप्टता पागये है।

गोविन्दवल्लभ पन्त को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली थी उनके 'वरमाला'

नाटक से । उपन्यास-क्षेत्र मे उनकी प्रसिद्धि का आधार बना—'नूरजहाँ' । उनके उपन्यास कई हैं, किन्तु कल्पना और यथार्थ का जो अद्भुत सामजस्य इस उपन्यास मे है, वह अन्यत्र नही है । उनके अन्य उपन्यासों मे—'एकसूत्र', 'तारिका', 'प्रतिमा', 'प्रगति की राह' मुख्य हैं ।

अनूपलाल 'मण्डल', इन दोनो की अपेक्षा, अधिक नये है । किन्तु उनके कुछ उपन्यासो ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है । 'निर्वासित', 'समाज की वेदी पर', 'अभिशाप', 'मीमासा', 'ज्वाला', और 'दोनो के देवता' को मुख्यता मिली है । **विष्णु प्रभाकर** के 'ढलती रात', 'निशिकान्त', एव 'स्वप्नमयी' भी प्रकाश मे आये हैं । उन्हे इस क्षेत्र मे एकांकी के समान सफलता नही मिल पाई है । इनके अतिरिक्त सरयूपण्डा गौड, रामचन्द्र तिवारी, मोहनलाल 'महतो', आदि के अनेक उपन्यास इसी कोटि मे आते है । इस क्षेत्र के प्रसिद्ध उपन्यासकार है—**वैद्य गुरुदत्त** ! उनका वर्णन अन्यत्र, इसी विकास मे, दिया गया है । **कचनलता सब्बरवाल** के भी अनेक उपन्यास प्रकाशित हुवे है । उनमे 'मूकप्रश्न', 'मूकतपस्वी', एवं 'अतृप्ति' को मुख्यता मिली है ।

शृंगारी उपन्यास

'वर्मा' के 'चित्रलेखा' को कुछ आलोचक शृगारी उपन्यासो के अन्तर्गत रखते है । कुछ भी हो, इस उपन्यास की सफलता ने **किशोरीलाल गोस्वामी** आदि के शृगारी उपन्यासो की परम्परा को पुनः प्रवुद्ध कर दिया । निश्चय ही जीवन के सत्यो की खोज ऐसे उपन्यासो का विषय नही थी । उनमे सस्ती कामुकता का चित्रण था, यथार्थ के नाम पर । कहानियाँ मध्ययुग और मुस्लिम युग की थी । उस समय के दरवारी विलास के चित्रण के वीच मानव की आत्मा दव-घुट कर रह गई । आदर्शवाद की कही-कही पर आने वाली झाँकी, उस नग्नता को कुछ कम न कर सकी । इस प्रकार के साहित्य ने पाठक तो बहुत अधिक उत्पन्न किये, किन्तु साहित्य की प्रगति मे विशिष्ट योगदान न दिया । मनोवैज्ञानिक तथ्यो और उनकी वारीकियो के वर्णन की अपेक्षा उत्तेजक वातावरण या उस प्रकार के वर्णनो पर ही बल दिया गया है । पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री इस क्षेत्र मे अकेले नही है । 'शास्त्री' की रचनाओ की संख्या बहुत अधिक है । इनके अनुकरण पर ही 'भँवरा' आदि ने अनेकानेक उपन्यास बाद मे लिखे । इनमे ऊपर से देखने पर ऐतिहासिकता प्रधान दिखाई देती है, किन्तु गहरे मे जाने पर एक विशिष्ट वातावरण और विशिष्ट उद्देश्य

ही प्रधान मिलता है। विश्व के किसी भी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य मे भी इस प्रकार के सस्ते उपन्यास-साहित्य की भरमार है। पर आलोचकों ने इनमे से वहुत कम को ही 'साहित्य' मे आलोच्य समझा है। निश्चय ही ऐसे उपन्यासों मे घटना-बाहुल्य, वर्णन-प्रधानता एव भाषा-प्रवाह अवलोकनीय है; किन्तु परवर्ती अनेक लेखक इस क्षेत्र में ऐसे भी आये हैं, जिनका भाषा ज्ञान पर्याप्त से कम है, और जिनकी अनुभूति उससे भी कम। फिर भी 'शास्त्री' और 'उग्र' के नामो को इन सबसे अधिक विशेषता प्राप्त है। उन्हे एक वर्ग में रखना उचित नही। शास्त्री जी के उपन्यासो मे 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'आलमगीर', 'सोमनाथ', 'अपराजिता', 'धर्मपुत्र', आदि को पर्याप्त ख्याति मिली है। 'धर्मपुत्र' मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या के प्रति मानवीय दृष्टिकोण एवं विभाजन के वाद की देश-दगा का वर्णन दिया गया है। इस पर चल-चित्र भी वना है। 'उग्र' के उपन्यासो मे अधिक ख्याति मिली है, 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की वेटी', 'अन्नदाता', एव 'दिल्ली के दलाल' को।

सैद्धान्तिक प्रगतिवादी उपन्यास

प्रगतिवादी उपन्यासकारो के दो वर्ग हैं। एक ओर यशपाल और राहुल जैसे कलाकार हैं, जो सैद्धान्तिक प्रगतिवाद का अनुकरण अधिक करते हैं। दूसरी ओर सिद्धान्तो को सीधे से प्रस्तुत न करके सामाजिक यथार्थ के चित्र देने वाले उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, आदि का नाम लिया जा सकता है। यशपाल के उपन्यासो में वर्त्तमान के यथार्थ की पुकार अधिक है, जबकि 'राहुल' अतीत या कल्पना के चित्रो से ही अपनी लक्ष्यपूर्ति में प्रवृत्त होते हैं। राहुल का 'बाईसवीं सदी' उपन्यास उनके शुद्ध आशावाद पर आधारित है, जबकि 'सिंह सेनापति' आदि उपन्यासों में इतिहास की वृत्ति अधिक झलकती है। परन्तु दोनों मे ही समाजवादी सिद्धान्तों की छाया विद्यमान है। 'विस्मृति के गर्भ मे' नामक उनके उपन्यास मे उनकी कल्पना की उर्वरता एव सजीवता सामने आई है। 'कप्तान लाल' उनका अभी हाल का उपन्यास है, जिसमे एक विगडे जमीदार-पुत्र की जीवनी दी गई है। वास्तव मे उपन्यास की अपेक्षा यह जीवनी ही वन गई है। इसमे देशके सम्मुख उपस्थित विभिन्न समस्याओ को लिया गया है। उनकी अन्य कृतियों मे 'जय यौधेय', 'अनाथ', 'दा खुदा' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी वहुविध प्रतिभा में उनके उपन्यास कौशल का महत्त्व किसी भी प्रकार कम नही है। भाषा प्रवाह एवं सजीव-

चित्रण की उनकी सामर्थ्य अत्यन्त स्पृहणीय है। यशपाल की कलम मे सैद्धान्तिकता के साथ जीवनानुभूति की यथार्थता उपस्थित है। 'देशद्रोही', 'दादा कामरेड', 'दिव्या' आदि उपन्यासों के प्रसिद्ध लेखक यशपाल की कलम की सामर्थ्य केवल सिद्धान्त प्रचार में ही नही है, बल्कि जीवन की गहरी पीडा से उसका साक्षात् परिचय है। उसने निम्न वर्ग के सुख-दुःख को देखा और अनुभव किया है। देश की सही दशा के प्रति उसकी जागरूकता अन्ततः 'झूठा-सच' मे व्यक्त हुई है। निश्चय ही डेढ हजार बड़े पृष्ठो के इस उपन्यास को सन् १९४६-७ से सन् १९५७-८ तक का विस्तृत इतिहास भी कहा जा सकता है, किन्तु यह इतिहास पश्चिम की शरणार्थी समस्या व देश की प्रशासनिक स्थिति का ही प्रतिरूप है। इसमे राजनैतिक रूप मे विरोधी दलो या व्यक्तियो पर कीचड नही उछाला गया है। अमीरो के प्रति भी निर्दयता पूर्वक व्यवहार नही किया गया है। समाजवादी समझी जाने वाली किसी भी सैद्धान्तिक चर्चा को नही उठाया गया है। फिर भी हमारे समाज मे सिर उठाने वाली समयाओ का खुलकर अवलोकन किया गया है, व उनसे जूझने की कोशिश इसमे की गई है। राष्ट्रीय-सस्कृति के ऐसे सकटमय अवसरों पर किन नई परिस्थितियो को जन्म मिलता है? उनसे निपटने के लिये किस प्रकार के साहस और धैर्य की आवश्यकता है? राष्ट्रीयता और धर्म का व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है? जीवन के सुख और मर्यादा के लौहावरण का पारस्परिक निर्वाह कहाँ तक सम्भव है?—इत्यादि प्रश्नो पर लेखक ने बखूबी विचार किया है। फिर भी, यह उपन्यास आकार मे जितना विस्तृत व कथा-सगठन मे जितना विशृंखलित रहा है, उससे इसे 'उपन्यास' की अपेक्षा 'जीवनी' या 'इतिहास' कहना अधिक उचित होगा। सामाजिक परिस्थितियो का इससे बढ़िया चित्रण कदाचित् अन्य किसी भी आधुनिकतम उपन्यास मे इतना नही हुवा। इसके समान कदाचित् चतुरसेन 'शास्त्री' के 'धर्म-पुत्र' को कहा जा सकता है। पर वह इतना व्यापक नही। इलाचन्द्र जोशी का 'मुक्तिपथ' इतनी सब समस्याओ को एक साथ नही उठा सका है। उसकी भूमिका मे समाज की अपेक्षा व्यक्ति प्रधान है, और वह सार्वदेशिक भूमिका पर उतर जाता है। यशपाल की अन्य कृतियो मे 'मनुष्य के रूप', 'अमिता', आदि मुख्य है। धर्मवीर 'भारती' के 'गुनाहो का देवता' का उल्लेख किये बिना यह प्रकरण अधूरा रहेगा। इस उपन्यास ने हिन्दी मे पर्याप्त प्रसिद्धि पाई है। इनका दूसरा उपन्यास है 'सूरज का सातवां घोड़ा'।

प्रगतिशील उपन्यास

प्रगतिवादी उपन्यासकारों में इलाचन्द्र 'जोशी' का नाम भी गृहीत हो सकता है। किन्तु मनोविश्लेषण की विशिष्ट दिशा को उन्होंने अपने उपन्यासों का मूलाधार बनाया है। इसके कारण उनका विचार इस प्रसंग में अलग ही करना चाहिये। यूँ भी, एक तरफ उनके उपन्यासों में भरपूर प्रगतिवादी भावना है, दूसरी ओर विशिष्ट व्यक्तित्वों का विन्यास है, जो स्वत: 'समाजवादी' धारणा से मेल नहीं खाता। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण 'वर्मा', रांगेय 'राघव', यज्ञदत्त 'शर्मा', आदि के नाम वैशिष्ट्य के साथ इस दिशा में लिये जा सकते हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को अधिक प्रसिद्धि मिली है 'गिरती दीवारें' में, जिस का संक्षिप्त संस्करण 'चेतन' के रूप में बाद में निकला! लेखक के अन्य सभी उपन्यासों में से सर्वाधिक जानदार भी यही है। इसका एकमात्र कारण है, लेखक की स्वानुभूति! अन्तर यही है कि लेखक अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने में कहीं-कहीं इतना वैयक्तिक हो उठा है, कि वह उसकी आत्म-जीवनी लगने लगती है। कुछ व्यक्तित्वों को सर्वथा नये नाम देकर अपरिचित-सा बनाया जा सकता था; किन्तु हुआ ऐसा नहीं है। सत्य की एक सीमा तक पहुँचकर भी वह, 'अज्ञेय' की भाँति, सत्य को अनावृत रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाया है। 'गर्मराख', 'सितारों का खेल', आदि उनकी अन्य कृतियाँ भी अनेकों हैं। इस क्षेत्र में उनकी सेवायें अविस्मरणीय हैं। 'गिरती दीवारें' को यशपाल के 'झूठा-सच' की भाँति, आंचलिक-उपन्यास कहा जा सकता है। इसमें विशिष्ट संस्कृति एवं विशिष्ट प्रदेश की ही चर्चा है। देशव्यापी आधार इसे प्राप्त नहीं हो पाया है। इसीलिये देशव्यापी पीड़ा का प्रतिनिधि भी इसे नहीं कहा जा सकता। 'बड़ी-बड़ी आँखें' तथा अन्य उपन्यासों में वर्ग-विद्वेष की वह स्थिति नहीं आ सकी, जो इसमें चित्रित हुई है। इसमें भी वर्ग-भेद एवं वर्ग-विद्वेष की ही चर्चा आई है, 'संघर्ष' के रूप और उसकी अनिवार्यता की बात इसमें नहीं आ पाई है। सच तो यह है कि इसमें भी 'चेतन' किसी वर्ग का प्रतिनिधि नहीं बन पाया है। फिर भी 'पीड़ित' वह अवश्य है। प्रादेशिक मुहावरों, एवं कहीं-कहीं प्रादेशिक संवादों ने इसमें जान डाल दी है। भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'तीन वर्ष' भी प्रगतिवादी कहे जाते हैं, यद्यपि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में लेखक का स्पष्ट झुकाव गाँधीवाद की ओर रहा है। वास्तविकता यह है कि 'वर्मा' को, किसी वाद की सीमा में न बाँधकर, 'मानवतावादी' कहा जा सकता है। 'गाँधीवाद' भी, अन्तत. 'मानवतावाद' का ही रूपान्तर है।

'तीन वर्ष' मे विद्यार्थी जीवन का सफल अंकन हुवा है। भाषा के प्रवाह एवं वर्णनात्मकता मे वे सिद्ध-हस्त हैं।

राघव : चैलेन्ज का स्वर—रागेय 'राघव' की नई प्रतिभा ने हमे कुछ कृतियाँ दी हैं, जिन पर हमारे साहित्य को गर्व हो सकता है। यूँ तो बहुत से अहिन्दी-भाषियो ने, हिन्दी भाषियो से भी अधिक, हिन्दी की सेवा की है। किन्तु 'राघव' की सेवा बहुमुखी है। अकेले उपन्यास के क्षेत्र में ही उसकी सेवा अविस्मरणीय है। उसकी उपन्यास-चेतना के कलात्मक पक्ष के विषय में दो मत हो सकते हैं, किन्तु इससे उसका महत्त्व कम नही हो जाता। वह सही अर्थों मे प्रगतिवादी भी है, और ऐतिहासिक प्रवृत्ति का व्यक्ति भी! उसने किसी विशिष्ट विचारधारा के वहन के लिये उपन्यास नही लिखे, किन्तु उसकी अपनी एक निश्चित विचारधारा है। उसके सम्मुख यदि 'आनन्द मठ' और 'टेढे-मेढ़े रास्ते' ग़लत राह पर चले हैं, तो उसने उनके प्रत्युत्तर मे 'विषादमठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' जैसे उपन्यास प्रस्तुत किये है। राजनैतिक उत्तर-प्रत्युत्तर की अपेक्षा इस प्रकार का साहित्यिक वाद-विवाद अधिक उपयुक्त है। परन्तु इस प्रकार के वाद-विवाद मे एक भय यह भी होता है कि साहित्यिक की 'निर्विवाद' मर्यादा अधिकाशतः समाप्त हो जाती है। यह सौभाग्य का विषय है कि भूमिकाओ और नामों के द्वारा वाद-विवाद को खडा करके भी लेखक औपन्यासिक दृष्टि से अपने उपन्यासो मे मर्यादा हीन नही हो पाया है। उसको 'सीधा-सादा रास्ता' मे अधिक सफलता मिली है। 'वर्मा' के 'टेढे-मेढे रास्ते' से वह कम आकर्षक नही रहा है। परन्तु 'विषाद मठ' मे स्थिति ऐसी नही है। 'आनन्द-मठ' और उसके बगाल और कथा-वस्तु मे जितना बडा अन्तर है, उतना ही बडा अन्तर उनकी निर्वाह शैली मे भी आ समाया है। बगाल के अकाल (सन् १९४३) की पीडा का जो जीता जागता चित्र उन्होने उपस्थित किया है, उसमे कथावस्तु कुछ उखड सी गई है। लगता है पीडा इतनी घनीभूत हो उठी है कि वह कथा का बोझ सहन करने मे असमर्थ रही है। 'मुर्दों का टीला' मे उनकी ऐतिहासिक-प्रतिभा सजग रही है। प्रागैतिहासिक काल की सभी ज्ञात सामग्री और ज्ञात तथ्यो का उसने सगृहीत उपयोग किया है। साथ ही है मानव की अनादि-शाश्वत समस्यायें, जिन्हे इतिहास के आवरण दबा नही सके है। 'मिट्टी के घरौंदे' और अन्य उपन्यासो मे भी लेखक की लेखनी ने सजग नवीनता का परिचय

दिया है। उदय शकर 'भट्ट' एवं विष्णुप्रभाकर की उपन्यास-क्षेत्र को देन अल्प ही है। उनका क्षेत्र प्रमुखत 'कहानी' या 'एकाकी' रहा है।

यज्ञदत्त 'शर्मा'—इस युग का एक अन्य व्यक्तित्व है, यज्ञदत्त 'शर्मा' का। उन्होने भी अनेक उपन्यास लिखे हैं। 'निर्माण पथ', 'इन्सान', 'अन्तिम चरण' मुख्य है। साहित्य के आलोचनात्मक पक्ष के साथ-साथ उन्होने इस सृजनात्मक-पक्ष मे भी पर्याप्त श्रम किया है। उनकी कृति 'निर्माण-पक्ष' को प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है। इसमे वे नितान्त 'समाजवादी' सिद्धान्तो के पोषक नही रहे हैं। स्वयं उन्होने हडताल की व्यर्थता बतादी है। पूंजीवादी व्यवस्था कैसे कैसे हथकण्डे प्रयोग कर सकती है, वह इसमे स्पष्ट हुवा है। उनका दृष्टिकोण 'समाजवाद' और 'मानवतावद' के बीच का लगता है। 'पूंजीपति और मजदूर' के स्वार्थ भिन्न-भिन्न नही हैं। दोनो को सीधा एक दूसरे के सम्पर्क मे आना चाहिये। बीच के दलाल' सम्पूर्ण व्यवस्था को विगाड देते हैं। मजदूर के पास 'पूंजी' नही है, पूंजीपति के पास 'श्रम' नही है। 'श्रम' और 'पूंजी' मिलकर ही उत्तम परिणाम सामने ला सकते है।'—उनकी विचारधारा का यही सार है। भाषा का प्रवाह सुन्दर है।

प्रगतिशील उपन्यासकारो के इस प्रकरण मे अन्य अनेक नाम स्मर्त्तव्य हैं। **अमृता प्रीतम** पजाबी कथालेखिका है, पर अब उनकी रचनायें हिंदी मे भी प्रकाश मे आई है। उनकी विशेषता भावनाओ के अकन मे है। 'पिंजरा' और 'डा० देव' प्रसिद्ध उपन्यास हैं। **सर्वदानन्द वर्मा** के उपन्यासो मे 'नरमेघ', 'आधी-पानी', 'प्रश्न' आदि को मुख्यता मिली है। **अमृतलाल 'नागर'** का नाम इस दिशा मे अधिक आदर के साथ लिया जा सकता है। 'बूद और समुद्र' उनका उत्कृष्ट उपन्यास है। 'महाकाल', 'सेठ बाकेमल' आदि अन्य रचनायें हैं। **अमृतराय** के 'बीज' और 'नागफनी का देश' को भी इसी वर्ग मे रखना होगा। **मन्मथनाथ 'गुप्त'** की रचना-सख्या बहुत बडी है, किन्तु उत्कृष्टता कुछ रचनाओ मे ही झलकी है। 'बहता-पानी' अधिक अच्छा है। **पहाड़ी** के 'सराय', 'चलचित्र' और 'निर्देशक' मे मार्मिक कटुता व्यक्त हुई है। **नागार्जुन** का 'बलचनमा' अधिक ख्याति पा गया है। कुछ अन्य भी उपन्यास उन्होने लिखे है, किन्तु इस अकेली रचना ने उन्हे सर्वाधिक ख्याति दी है। **फणीश्वर नाथ 'रेणु'** ने कहानियो की भाति उपन्यास-जगत् मे भी साधिकार प्रवेश किया है। 'मैला अंचाल' अधिक प्रशस्त रहा है। इसी कोटि मे कुछ अन्य नवोदित लेखको का भी परिगणन हो सकता है।

ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासकारों को भी 'सामाजिक वर्ग' के अन्तर्गत ही गिना जायेगा। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल, रागेय राघव, चतुरसेन शास्त्री, एवं वृन्दावन लाल वर्मा के नाम इस दिशा मे मुख्य है। इनमे 'द्विवेदी' एव वृन्दावनलाल 'वर्मा' के अतिरिक्त अन्य लेखकों की चर्चा यथास्थान हो चुकी है। **हज़ारी प्रसाद द्विवेदी** का क्षेत्र उपन्यास लेखन नही है। किन्तु उनके निबन्धों के वर्णनात्मक ढंग ने ही आरम्भ मे इसी प्रकार की उनकी प्रतिभा का परिचय दिया था। तभी उनकी 'बाणभट्ट का आत्मकथा' निकलनी आरम्भ हुई। कथानायक की अपनी ही शैली मे उसकी कथा को प्रस्तुत करना, उनकी ही विशेषता थी। वह 'आत्म-कथा' है या उपन्यास, इसकी विभेदक रेखा खीचना असम्भव सा जान पडता है। फिर भी उससे एक बात स्पष्ट हुई कि इस प्रकार की शैली मे स्वतन्त्र रूप मे भी वहुत कुछ लिखा जा सकता है। आचार्यत्व की गरिमा से दवकर उसकी कलम को इस प्रकार की अन्य कृति देने का समय नही मिला। '**राहुल**' के 'विस्मृति के गर्भ मे' तथा 'सिह सेनापति', आदि उपन्यास उनकी काल्पनिक और ऐतिहासिक प्रतिमा के प्रतीक मात्र हैं। **यशपाल** की ऐतिहासिक वृत्ति 'दिव्या' मे प्रगट हुई, किन्तु विशिष्ट दृष्टि-कोण के साथ! **रागेय राघव** का 'मुर्दो का टीला' व 'मिट्टी के घरौंदे' ऐतिहासिकता की अनुसन्धानात्मक धारणा पर लिखे गये है। निश्चय ही इतिहास उस दिशा मे नित्य नवीन सत्यो को उदघाटित करता जा रहा है। **चतुरसेन शास्त्री** ने मध्य युग और मुस्लिम काल के जिन तथाकथित ऐति-हासिक चित्रो को आधार बनाया, उनमे एक विशिष्ट दृष्टिकोण और पृष्ठ-भूमि की प्रमुखता रही। शृगार और विलास मानवता का आभूषण भी है और कमजोरी भी, इन उपन्यासो मे वह प्रायः कमजोरी बन कर आया है। 'वैशाली की नगरवधू' भी वडे-वड़े दो भागो मे पूर्ण हुवा है। उसमे बौद्ध इतिहास की छाया है। कथा कहने का ढंग भी वैसा ही लगता है। फिर भी कुछ सस्तापन है। लेखक ने अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक अध्ययन का उपयोग वहाँ करने का यत्न किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा

वृन्दावनलाल वर्मा इन सबसे अलग है। उन्होने इतिहास के एक विशिष्ट अंश को और देश के एक विशिष्ट अंचल को अपनी कथाओ की भूमिका मे

लिया है। प्राय. मध्यप्रदेश की भूमि और उसके इतिहास के प्रति उनका मोह रहा है। उनके उपन्यासो मे ऐतिहासिक और सामाजिक दोनो कोटियों के उपन्यास है। सामाजिक कोटि के उपन्यासो की अपेक्षा उनके ऐतिहासिक उपन्यास ही प्रख्यात हुवे हैं। 'टूटे-काँटे', 'अचल मेरा कोई', आदि सामाजिक उपन्यासो मे वे उस प्रकार की सामर्थ्य नही प्रगट कर पाये, जो 'विराटा की पद्मिनी' और 'मृगनयनी' जैसे उपन्यासो के भीतर आई है। उनके इन ऐतिहासिक उपन्यासों को तीन वर्गों मे रखा जा सकता है। पहले वर्ग में 'विराटा की पद्मिनी', 'गढकुण्डार' आदि का समावेश होता है। इनमे ऐतिहासिक वातावरण, सत्यो और पृष्ठिभूमि की अपेक्षा, कथा कहने की वृत्ति अधिक है। इनमे रोमाण्टिक वृत्ति की प्रधानता है। इसके बाद दूसरे वर्ग में 'झांसी की रानी' जैसे शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास रखे जा सकते है। इसमे कल्पना का समावेश केवल ऐतिहासिकता की पुष्टि के लिये ही हुवा है। निरे ऐतिहासिक होकर इसके वर्णन शुष्क नही हो पाये हैं। इसमे सामाजिक समस्याओ का चित्रण प्रसंगात् ही हो पाया है, उसे प्रधानता नही मिली। 'मृगनयनी' उनका अन्तिम कोटि का अप्रतिम उपन्यास है। इस पर उन्हें पर्याप्त प्रशसा मिली है। ऐतिहासिक परिस्थितियो के सुन्दर विश्लेषण और कथा के व्यापक फैलाव के साथ-साथ कल्पना का भी उचित सन्निवेश इसमे रहा है, यह इस लिये कि लेखक ने अपने इस उपन्यास को सामाजिक समस्याओ के हल का माध्यम बनाया है। युग की शाश्वत समस्या, कला और जीवन के समन्वय के प्रश्न को इसमे प्रधानता मिली है। अछूत-समस्या जाति-पाँति, नारी-अधिकार, आदि अनेको समस्याओं को इसमे यथास्थान महत्त्व प्राप्त हुवा है। इतने पर भी इतिहास का वातावरण मद्धिम नही पडा है। कल्पना उने से चमकाया ही है। आश्चर्य तो यह है कि इस ऐतिहासिक उपन्यास की नायिका स्वय ही कल्पना पर आधारित है (जैसे राघव के 'मुर्दों का टीला की)।

उपन्यास-शिल्प में न्यूनता—'वर्मा' के उपन्यासो की दो बाते विवेचनीय हैं। जहाँ तक चित्रणो का प्रश्न है—परिस्थिति हो, घटना या शब्द चित्र—वर्मा की लेखनी अविरल और अविकारी रूप मे चलती है। इस प्रकार के रमा देने वाले वर्णनो की दृष्टि से उनका स्थान अन्य किसी भी हिन्दी उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक ऊँचा है। परन्तु दूसरी बात अधिक विचारणीय है, जिसका सम्बन्ध उपन्यास सम्बंधी सारी धारणा से है। वर्मा जी के उपन्यास सामान्यत:

बड़े आकार के होते हैं। यूँ तो 'झूठा-सच', 'सिंह-सेनापति' और 'वैशाली की नगरवधू' के बाद 'बड़े उपन्यास' का आकार-निश्चय ही असम्भव हो गया है, फिर भी ऐसा किसी-किसी ही उपन्यास के विषय मे होना उचित है। आम तौर पर उपन्यास की मर्यादा २००-२५० पृष्ठ के आसपास हो तो अधिक उचित रहता है। यह न भी हो तो भी कथा वस्तु का सगठन तो आवश्यक है ही। फैले हुवे उपन्यासो मे कथा की शिथिलता आना स्वाभाविक है। प्रेमचन्द के 'गोदान' मे सोद्देश्य, और 'कायाकल्प' मे निरुद्देश्य ही, इस प्रकार की वस्तु-गत शिथिलता आगई है। वर्मा के उपन्यासो के विषय मे 'शिथिलता' शब्द का प्रयोग शायद अनुचित हो, पर कथा कुछ स्थानो पर अनावश्यक और निवारणीय विस्तारो मे चली गई है। ऐसा होने से बचाया जा सकता था। अन्यथा भाषा, कथोपकथन, मनोवैज्ञानिकता, चरित्र-चित्रण, एव प्रवाह की दृष्टि से 'वर्मा' का उपन्यास कौशल अनुकरणीय है। उनके सभी उपन्यास 'आचलिक' नही है। सामाजिक कोटि के उपन्यासो की पृष्ठभूमि अधिक व्यापक है।

मनोविज्ञान और उपन्यास

सामाजिक वर्ग के इन उपन्यासो के बाद दूसरा वर्ग उन उपन्यासो का आता है, जिनमे सामाजिक समस्याओ को भी आने का अवकाश मिला है, किन्तु इस पर भी वैयक्तिक जीवन पर अधिक आधार रहता है। इस प्रकार के उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिकता पर अधिक बल रहा है। इसमे भी दो वर्ग है। एक—जिनमे मनोविश्लेषण साधन की सीमा तक रहता है, और कथा एवं जीवन का प्रवाह अविच्छिन्न रहता है। दूसरा, जिनमे मनोविश्लेपण साध्य की सीमा तक पहुँच जाता है। इसमे व्यक्ति-चरित्र को विश्लेपणात्मक आधार पर गठित किया जाता है।

जैनेन्द्र व सियारामशरण 'गुप्त'—जैनेन्द्र और सियारामशरण गुप्त के उपन्यास पहली कोटि मे आते है। उनमे मानसिक पहलुओ एव जीवन की गतिशीलता का सन्तुलित अकन किया जाता है। जीवन की प्रत्येक गतिविधि का स्रोत 'वासना' के विभिन्न अभाव और मोड है, 'फ्रॉयड' और उसके अनुयायियो के ये मत इसमे बखूबी अनुकृत हुवे है। फिर भी जीवन का स्वतन्त्र प्रवाह एव कथा की कथात्मकता इसमे कम नही हो पाई है। आदर्श की अपेक्षा यथार्थ प्रधान रहा है, किन्तु यथार्थ की सीमा मनुष्य और स्त्री के सम्बन्धों ने

आगे कम बढ पाई है। 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'विवर्त्त' के अतिरिक्त 'जय-वर्द्धन' तक मे जैनेन्द्र इस सीमा से नही उबरे है। पर इससे उनके महत्त्व के अकन मे न्यूनता न आनी चाहिये। उनका अपना महत्त्व मध्यवर्गीय जीवन के सर्वांगीण चित्रण मे है। उस जीवन की दार्शनिक विवेचना और बारीकियो मे वे उतरे है। अन्तर है अनुभूति की व्यापकता का। उनके उपन्यासो मे जन-जीवन के विशद पहलुओ का व्यापक चित्रण नही हुवा है, न ही वहाँ पर सामाजिक समस्यायें प्रमुख हो पाई है। 'जयवर्द्धन' मे राजनीति के प्रति सजगता, व्यावहारिक दार्शनिकता, एव आदर्श और यथार्थ के प्रति जागरूकता की वृत्ति एक साथ ही सामने आई है। फिर भी जीवन की व्यावहारिकता का कही-कही अभाव अखरता ही है। उसे पूरा करती है उनकी वर्णनप्रतिभा और लेखनी, जिसका बल उनकी आत्मा से चलता है। गाँधीवादी मानवतावाद उनकी मूल प्रेरणा है। इसी प्रकार के गाँधीवादी सकोच और आत्म-बल को लिये हुवे ही सियारामशरण गुप्त आये। चारित्रिक मर्यादा का भय उन्हे अधिक रहा है। 'गोद' और 'नारी' जैसे उपन्यासो मे वे सामाजिक बन्धनो के प्रति एकदम विद्रोही बन कर नही उठ पाये है। उनका विद्रोह कुछ अधिक नम्र है। इसी वर्ग के जिस एक और लेखक के कुछ उपन्यास पिछले वर्षो मे निकले है। वे हैं दयाशकर मिश्र। मिश्र की लेखनी उनकी अनुभूति की स्याही से सनी है, उसमे वासना को दर्द और टीस ने घेरा है। अभाव और वासना का यह सयोग जीवन का एक सत्य है, पर ऐकान्तिक सत्य नही। उनसे जीवन के अधिक विशालदर्शन की अपेक्षा हमे करनी चाहिये। स्वातन्त्र्य-समर की उलझनो से सुलझने की सामर्थ्य रखने वाला सिपाही अपने 'समिधा', 'मरीचिका', 'झीनी' आदि अनेको उपन्यासों मे से एक मे भी सामाजिक पीडा को माध्यम न बना सके, आश्चर्य ही है। उसकी कलम की भावुकता का जैनेन्द्र की दार्शनिकता से विरोध-सा ही है।

मनोविश्लेपणात्मक उपन्यास

अज्ञेय—मनोविश्लेपण पर आधारित उपन्यासो का दूसरा वर्ग है—इलाचन्द्र जोशी और वात्स्यायन 'अज्ञेय' के उपन्यासो का। नवोदित लेखको मे इस वर्ग के लेखक है—यादवेन्द्र 'चन्द्र'। इन उपन्यासो मे मनोविश्लेपण का आधार इतना अधिक है कि कही-कही वह कथा-विकास का बाधक बन गया है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' मे यह रुकावट इसलिये भी आई है कि वहाँ

शैली की भिन्नता है। दूसरे भाग की शैली अधिक सजग है। आत्मकथा शैली का एक रूप है जोशी के 'सन्यासी' मे, जिसमे कथा क्रमवद्ध होकर चली है, दूसरा रूप है इस जीवनी मे, जिसमे घटनाक्रम का वर्णन टूट-टूट कर आया है। स्मृति के अनवच्छिन्न प्रवाह के रूप मे न होकर, वह कभी आगे कभी पीछे के क्रम से चला है। इस प्रकार जहाँ लेखक एक-एक विशिष्ट वृत्ति के विश्लेपण मे समर्थ हुआ है, वहाँ पाठक की रसमयता मे, विच्छिन्नता के कारण, व्याघात पहुँचा है। कथा का क्रम जीवन के स्वाभाविक विकास मे से ही पूरा हो सकता है। 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय कथा-प्रवाह को एक सूत्र मे रखने मे अधिक समर्थ हुवे हैं। 'जीवनी' मे जो 'अह' की प्रधानता रही, उसने दूसरे पात्रो को अधिक न उभरने दिया। 'नदी के द्वीप' मे बेला का चारित्रिक विकास 'जीवनी' की शशि के अभावो का ही पूरक हे। उसमे भुवन का व्यक्तित्व शेखर की अपेक्षा कम अहंवादी है। विश्लेपण करने पर शेखर का सा सवल व्यक्तित्व कम ही मिलता है, क्योकि जो स्पष्टवादिता लेखक उसके चारित्रिक विकास में प्रयोग कर सका है, वह अन्य लेखकों मे नही मिलती। 'भोग' को उसने पलायनवादी दृष्टि से क्षणिक वृत्ति और जीवन की कमजोरी मानकर नही भोगा। जोशी के उपन्यासो में भोग की यह स्थिति एक अनाहूत और अनादृत सयम से घिरी-सी रहती है। जीवन का यह सकोच 'अज्ञेय' मे नही पाया जाता। उनका नवीनतम उपन्याम 'अपने-अपने अजनवी' है। यह प्रसिद्ध पाश्चात्य अस्तित्ववादी उपन्यासकार 'सार्त्र' के 'In Camera' की ही कथा पर वढता है। सेलमा और योके वृद्धत्व व यौवन की दो मूर्त्तियाँ है। 'सार्त्र' जहाँ जीवन की मजवूरियो पर मनुप्य का नियन्त्रण स्वीकार करता है, 'अज्ञेय' जीवन के सामने मनुप्य की विवशता स्वीकार करते है। तार्किक-चिन्तन का परिणाम यह भले ही हो, 'पलायन' की कुछ छाया इसमे आगई है।

इलाचन्द्र जोशी—'जोशी' का औपन्यासिक विकास 'लज्जा', 'घृणामयी', और 'पर्दे की रानी' से आरम्भ होता है। उनका मध्ययुग 'सन्यासी', 'मुक्ति-पथ' और 'सुवह के भूले' पर रहा है। अन्तिम कडी मे 'जहाज का पंछी' आता है। वस्तुतः इनमे से 'संन्यासी' को भी यदि पहले वर्ग मे ही गृहीत करलें, तो एक भेद स्पप्ट हो जायेगा। पहले चारो उपन्यासो मे उनका कथा क्रम शिथिल, कामकुण्ठा से रुद्ध जीवन, एव नारी के प्रति उपेक्षित दृष्टिकोण सामने आता है। 'सन्यासी' मे अवश्य ही नारी की 'शक्तिमत्ता' पर भरोसा किया गया हैं। इसके विपरीत बाद के उपन्यासो मे हमे सशक्त व्यक्तित्वो,

वासना से उत्प्रेरित शक्तिमत्ता, एवं अपूर्व कर्मण्यता के दर्शन होते है। लेखक समाज और जीवन के प्रति इन उपन्यासो मे अधिक सजग रहा है। उसका दृष्टि-कोण आरम्भ से ही प्रगतिवादी रहा है। समस्याओ को उठाने का तरीका भी उसका वैसा ही है। परन्तु फिर भी व्यक्ति की शक्ति पर उसने अधिक विश्वास किया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की सी जन-व्याप्त पृष्ठभूमि तो उसके उप-न्यासो की नही है, फिर भी 'मुक्ति पथ' और 'सुबह के भूले' में वह जीवन के अधिक निकट आया है। यथार्थ के निकटतम आकर भी 'जहाज का पछी' मे एक अनाहूत सयम की दीवार और जीवन से पलयानवाद की वृत्ति बीच में आ गई है। देश की व्यापकतर समस्याओ को दिखाकर, उनके हल का सकेत देकर भी लेखक, इसीलिए, उनसे कुछ दूर-दूर सा रहा है। कभी २ वह तटस्थ प्रेक्षक मात्र बनकर रह जाता है। इस दृष्टि से 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले, मे उसके 'उपन्यासकार' की प्रतिभा सामान्य पाठक के अधिक अनुकूल रही है। वैसे उनकी मनोविश्लेषणात्मक वृत्ति इनमें भी प्रबल रही है। सच तो राजीव' और 'गिरिजा'—अनन्त कर्मण्यता के दो प्रतीक—दोनो ही कुछ 'कुण्ठाओ' के कारण प्रगतिशील होते है। 'संन्यासी' का कथानायक स्वय उन कुण्ठाओ के कारण गतिरुद्ध हुवा है। 'जहाज़ के पछी' के नायक की बहुमुखी प्रतिभा का विकास केवल 'कामकुण्ठाओ' की देन न मानकर, 'जीवन के अभावो' से जन्म लेने वाली कुण्ठाओ की देन कहा जायेगा। स्वय लीला का जीवन वहाँ पर 'कामकुण्ठाओं' की देन है। इस पर भी लेखक सामाजिक वातावरण के प्रति अधिक सजग रहा है। 'मुक्तिपथ' में भारत-विभाजन की दुर्घटना और तज्जन्य परिश्रमी जीवन के नये रूप का उद्घाटन हुवा है। साथ ही पारिवारिक स्थितियो एवं व्यक्ति के झूठे आदर्शो को भी वहाँ चर्चा हुई है। 'सुबह के भूले' मे आधुनिक जीवन और पुराने जीवन की एक सम्मिलित झाँकी है। समग्रत लेखक का दृष्टिकोण प्रगतिवादी रहा है। केवल मतभेद 'सन्यासी' के सम्बन्ध हैं। लेखक ने उसे नारी की शक्ति का सबसे बडा उद्घोषक कहा है, और आलोचक की दृष्टि में वहाँ सान्मुख्य की भावना की अपेक्षा पलायन की वृत्ति प्रधान रही है।

सांस्कृतिक धारा—उपन्यासो की मनोविश्लेषणात्मक धारा ने अप्रत्यक्ष रूप मे ही सही, शृगार की निर्मर्याद वृत्ति किसी न किसी रूप मे सामने आई ही है। यथार्थ-चित्रण के नाम पर 'कुत्सित यथार्थ' का चित्रण भी कम नही पड़ा था। ऐसे समय स्वाभाविक था कि पाश्चात्य चिन्तन के अनुकरण के स्थान

पर भारतीय दृष्टि का चिन्तन भी सामने आये। इलाचन्द्र 'जोशी' के उपन्यासों मे इस प्रकार की सास्कृतिक झांकी यत्र-तत्र मिल जाती है। किन्ही अंशो मे, 'गांधीवादी'-विचारधारा का दर्शन हमे सियारामशरण 'गुप्त' एव 'जैनेन्द्र' के उपन्यासो मे भी मिल जाता है। किंतु भारतीय-संस्कृति का सही दृष्टिकोण सामने नही आ पाया। उपरोक्त सभी लेखको ने व्यक्ति-दृष्टि को ही प्रधानता दी।

द्वारका प्रसाद 'मिश्र' के 'घेरे के बाहर' को 'अतियथार्थवादी' कहा गया है। उनकी लेखन शैली भी अनुकरणीय है।

वैद्य गुरुदत्त

गुरुदत्त का दावा है कि उन्होने अपने उपन्यासो मे भारतीय सस्कृति के इस उपेक्षित पक्ष का पूरा-पूरा व सही चित्रण किया है। उनके इस दावे की सत्यता पर विवाद न करके हमे केवल इतना ही कहना है कि उनके उपन्यासो मे भी उनकी व्यक्ति-दृष्टि को ही प्रधानता प्राप्त हुई है। 'उपन्यास' कभी भी 'शास्त्र' का स्थान नही ले सकता। गुरुदत्त की लेखनी मे एक सशक्त प्रवाह है। कथा के मोडो पर उनका पूर्ण नियन्त्रण है। वे 'पू जीवाद' के भी विरोधी नजर आते है। किंतु समाजवादी नारो से भी उन्हे घृणा है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को वे स्वीकार करते है, किन्तु उसी सीमा तक, जहा तक वह समाज को हानि न पहुँचाये। राजनैतिक पर्दे के पीछे व्यक्ति-स्वतन्त्रता के नाम पर, 'व्यभिचार' की बढती सीमा से वे पूरी तरह परिचित है। उन्होने अनेको उपन्यास लिखे हैं। बहुत से उपन्यास अच्छी कोटि के हैं। 'मायाजाल' की कथा पर प्रेमचन्द के 'कायाकल्प'के कथा-शिल्प का प्रभाव स्पष्ट रूप मे दीखता है, यद्यपि, 'तथ्य' की दृष्टि से, उसके तथ्यकथन मे पर्याप्त भिन्नता है। कथा मे जादू-टोने का सा प्रभाव अधिकांशत. व्याप्त दिखाई देता है। 'उन्मुक्त प्रेम' उनका उत्कृष्ट उपन्यास है। इसमे राजनैतिक और सामाजिक दोनो ही समस्याओ को पूरी तरह उठाया गया है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर भी पूरा-पूरा प्रकाश उसमे डाला गया है। किंतु इस पर भी, कथा की रोचकता और प्रवाह मे रुकावट नही आ पाई है। उनके अन्य उपन्यासो मे प्रसिद्ध है, 'विकृत छाया', 'भावुकता का मूल्य', 'स्वराज्यदान' 'उमडती घटाये', 'प्रवंचना', 'पत्रलता', एव 'दासता के नये रूप', इत्यादि।

'प्रयोग' के पथ पर

कविता मे, द्वितीय महायुद्ध के बाद, 'प्रयोगवाद' ने प्रवेश पाया। 'कहानी'

मे पिछले आठ-दस वर्षों से, क्षण-चित्रण को अधिकाधिक महत्व प्राप्त हो रहा है। 'अज्ञेय' के नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' मे भी क्षण-चित्रण की बारीकी को पूरी तरह मापने का यत्न किया गया है। पर पश्चिम के डी० एच० लारेंस एव उसी दृष्टि के अन्य उपन्यासकारो ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो नारा झूठी सामाजिक-मर्यादाओ के विरोध मे लगाया है, उसके अनुकरण का भी प्रयास, हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र मे हो रहा है। किन्तु पश्चिम के उन उपन्यासो मे 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की विचार-धारा के साथ 'क्षण-चित्रण' की जो कलात्मक-पूर्णता विद्यमान है, उसे ग्रहण करना हमारे लेखक के लिए सम्भव नही रहा है। हिन्दी-लेखक इसे भी 'प्रयोगवाद' का नाम देकर, 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के उच्छृखल-तम रूप के चित्रण मे व्यस्त है। किन्तु आधुनिकतम पाश्चात्य उपन्यासो मे चित्रण की जो सूक्ष्मता, व्यापकता एव पूर्णता विद्यमान है, 'अनुभूति' के अभाव मे, इसे हमारा लेखक पूरी तरह अनुकरण नही कर पाया है। वास्तविकता यह है कि हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक मर्यादाओ ने हमारे लेखक के चारो ओर एक अभेद्य आवरण बना दिया है। उसे कोई सचेत और सजग कलाकर ही भेद सकता है। हर लेखक के बस की वह बात नही है। और, अपनी असफलता को 'प्रयोग' के नाम से छिपाया नही जा सकता। प्रयोग के लिए लेखक केवल 'कलम का धनी' ही नही होना चाहिये, प्रत्युत उसकी दृष्टि मे 'ग्रहण' की विशाल सामर्थ्य भी होनी चाहिये।

'प्रयोग' के कुछ चितेरो मे **दयाशंकर मिश्र** ('दद्दा') का नाम भी आता है। उनके एक दर्जन के लगभग उपन्यास प्रकाशित हुवे है। शैली भावात्मक है, भाषा प्रवाहमय, फिर भी 'वैयक्तिकता' की छाप उनके उपन्यासों पर कभी-कभी इतनी पड जाती है कि लेखक चारो ओर के जीवन मे आँख मूदता दिखाई देता है। उनसे सामाजिक-उत्पीडन की व्यथा ने कही-कही अभिव्यक्ति अवश्य पाई है, किन्तु व्यक्ति-मर्यादाओ एव सामाजिक-बन्धनो का पारस्परिक संघर्ष वे खुलकर नही दिखा सके है। कई बार उनके उपन्यास भी कुशवाहा 'कान्त' और 'भँवरा' जैसे लेखको के उपन्यासो की कोटि के दिखाई देते हैं। **क्षण-चित्रों** को पूर्णता देने मे पूर्णतया असफल रहे है।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेको लेखको के अनेको उपन्यास भी अब तक प्रकाश में आ चुके हैं। सच कहा जाय, तो स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी के इसी अग का सर्वाधिक विस्तार हुवा है। कहानी और उपन्यास का यह विस्तार

उनके 'सस्ते मनोरंजन' के कारण हो रहा है। यही कारण है कि साहित्यिक दृष्टि से अच्छे 'उपन्यास' बहुत कम प्रकाशित हुवे है। हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन नित्य व्यापक से व्यापकतर होता जा रहा है। उसकी व्यापकता धरती से आकाश तक और आकाश से नक्षत्रो तक पहुँच गई है। अत. हमारे लेखक की दृष्टि मे भी वह व्यापकता आनी चाहिए। नये-नये मार्ग खुल रहे है। उन पर बढने वाले कदम चाहियें। उपन्यास यदि जीवन की सही प्रतिकृति है, तो उसे जीवन के व्यापकतम प्रतिनिधित्व, सजग-अकन, एवं सूक्ष्मतम ग्रहण द्वारा ही समृद्ध किया जा सकेगा। इसके लिए लेखक को अनुभूति व ज्ञान दोनो की गरिमा सहन करनी होगी।

हिन्दी-कहानी

पूर्व-वृत्त

हिन्दी-कहानी का जन्म और विकास इसी युग की वस्तु है। इससे पूर्व हिन्दी कहानी के जिस अस्तित्व से हम परिचय मे आते है, वह कहानी-लेखन की दिशा मे साहित्यकार का क्रम-बद्ध प्रयत्न न होकर, कथावाचक की सी व्यग्रता से उसके द्वारा किया -हुवा इतिवृत्तात्मक वर्णन-मात्र है। निश्चय ही इस प्रकार के वर्णन का सम्बन्ध जीवन की वास्तविकता से न होकर कल्पना-विलास से ही था। संस्कृत मे इस प्रकार की कथायें उत्कृष्ट कोटि की न गिनी जाती थी; फिर भी बाल-विनोद के लिए उनका प्रयोग होता ही था। हिन्दी की इस प्रकार की बाल-विनोदात्मक कहानियो का कोई युग विशेष नही है। यूँ तो आज भी इस प्रकार की कहानियाँ लिखी ही जाती है। किन्तु 'सिहासन-बत्तीसी', 'बैताल-पचीसी', आदि कुछ प्रयत्न, संस्कृत-अनुवादो या छायानुवादो के रूप में, मध्ययुग के उखडे-उखडे से गद्य मे हुवे।

'लघु-कहानी' से पहले

सक्रान्तिकालीन चारो लेखको ने अपनी-अपनी शैली मे कहानी कहने के ढग को बढावा दिया, किन्तु कथावाचको की सी व्यग्रता को छोड़कर लौकिक मनोविनोद और मनोरंजन भावना से हुवा केवल इंशा अल्लाखाँ का प्रयत्न ही कहा जा सकता है। उनकी कथा, 'राजा उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' सस्कृत की मध्य युग की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' जैसी कथाओ की शैली मे कही गई है। परन्तु उसमे न तो वह प्रौढता है, न सम्पन्नता। इसे संस्कृत का अनुकरण कहना भी भ्रामक होगा। यह पारसी-कथाओ की वर्णन-शैली से अधिक प्रवाहित है। इस पर न तो पाश्चात्य की आधुनिकता का प्रभाव था, न सस्कृत की यथार्थ-सम्पन्नता का। वास्तव मे सस्कृत की कथा की भाति यह वर्तमान 'उपन्यास' के आकार की भी है, किन्तु 'उपन्यास' की अन्य सब आवश्यक शर्तों से हीन भी! भाषा के प्रवाह और वर्णनो की यत्र-

तथ रोचकता के अतिरिक्त इनमें अन्य कुछ भी विशेष रोचक नहीं है। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु की 'हास्य-कथा', 'अद्भुत अपूर्व सपना' अथवा इसी प्रकार की अन्य कृतियाँ भी कुछ महत्त्व की न होकर, इसी श्रेणी की कही जा सकती है। इन्हे आधुनिक हिन्दी-कहानी से किसी भी प्रकार सम्बद्ध करना उचित नही है। अतः 'कहानी' की दृष्टि से 'भारतेन्दु युग' नगण्य महत्त्व का ही है।

'नई कहानी' का आरम्भ

द्विवेदी जी के आगमन तक भी कहानियो के जो छुट-पुट प्रयास हुवे, उनमे किसी स्वतन्त्र व नई शैली का विकास लक्षित न हुवा। रामचन्द्र 'शुक्ल,' किशोरीलाल गोस्वामी', गिरिजाकुमार 'घोष', 'गिरिजादत्त 'वाजपेयी', तथा उनके वर्ग के अन्य लेखकों की कहानियो मे वर्णन की पूर्णता, वातावरण-निर्माण, एवं आदर्शात्मक विनियोजना निहित थी। वे जीवन के अदर्शों की व्याख्या के लिए ही कहानियो को माध्यम बना सके। जीवन का यथार्थ एवं शैली की आधुनिकता का उनसे सम्बन्ध स्थापित न हुवा। यह अवस्था श्रीमती बंगमहिला की 'दुलाई वाली' कहानी के प्रकाशन से पूर्व रही है। सन् १९०८ ई० में इस कहानी का 'सरस्वती' मे प्रकाशन हुवा। हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी एक अ-हिन्दी प्रदेश के निवासी ने लिखी, इससे हिन्दी का गौरव बढ़ा ही है। सन् १९११ ई० मे जयशंकर 'प्रसाद' की प्रथम कहानी 'ग्राम' का प्रकाशन हुवा। हिन्दी प्रदेश की किसी प्रतिभा ने प्रथम बार अपनी स्वतन्त्र शैली मे जीवन का एक चित्र इस कहानी मे प्रस्तुत किया। 'दुलाई वाली' के जीवन मे सामाजिक और वैयक्तिक यथार्थ की जो झलक थी, 'ग्राम' ने उसमे साहित्यिक-सौन्दर्य को मिलाकर श्रीवृद्धि कर दी। फिर भी सत्य का खरा और ज्वलन्त रूप सामने न आ सका। जीवन के दैनिक क्रम से मिलकर कहानी सामान्यतम जीवन की वाहिका न बन सकी। कहानी का यह क्रम उर्दू मे मुंशी प्रेमचन्द की लेखनी भी इस समय तक आरम्भ कर चुकी थी।

गुलेरी : 'उसने कहा था'

सन् १९१५ ई० मे प्रेमचन्द की हिन्दी की प्रथम कहानी 'पंच-परमेश्वर', तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की प्रमुख कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। स्पष्ट ही इन दोनो कहानियो तथा इनके लेखको का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध

नही। अप्रतिम शास्त्र-निष्णात 'गुलेरी' के हाथो कुल तीन कहानियों का सृजन हुवा · 'उसने कहा था,' 'सुखमय जीवन', व 'बुद्धू का काँटा'! किन्तु, एक मात्र 'उसने कहा था' कहानी ने ही उनके यश को अक्षुण्ण कर दिया। आश्चर्य का विषय तो यह है कि प्रथम विश्वयुद्ध छिड़े एक ही वर्ष हुवा था, कि लेखक की प्रबुद्ध चेतना ने युद्ध मोर्चे के जिस चित्र को प्रस्तुत किया, वह बाद के लेखको के लिए भी सम्भव न हुवा। उसके अतिरिक्त सामाजिक और प्रादेशिक जीवन को इतनी सजीव झाँकी से, इसके बाद भी, हिन्दी साहित्य बहुत दिनो तक अछूता ही रहा। सामाजिक सस्कारो और मानव मन की गतिविधि को इस बारीकी से परखने और समझने की दिशा मे भी यह कहानी अद्वितीय ही रही। सबसे अधिक आकर्षक तत्व था इसके वर्णनो की सजीवता। जीवन के किसी भी आदर्श या रोमास के वर्णन की अपेक्षा जीवन और मानसिक गतिविधि का यह अध्ययन हिन्दी की आरम्भिक कहानी मे होना, सचमुच हिन्दी के गौरव का विषय था। कहानी की वर्तमान शैली की दृष्टि से हम उसमे कितने ही दोष निकालने का यत्न करें, किन्तु यह सत्य है कि हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियो का कोई भी सग्रह इस कहानी के बिना 'अधूरा' ही समझा जायेगा।

मुंशी प्रेमचन्द : 'पंच-परमेश्वर'

प्रेमचन्द की 'पंचपरमेश्वर' कहानी उनकी प्रबुद्ध समाज-चेतना की प्रतीक है। आर्यसमाज के प्रभाव ने उनका ध्यान देश की सामाजिक और चारित्रिक समस्याओ की ओर खीचा था। रिश्वत या उत्कोच को हम वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की एक अनादि समस्या कह सकते है। परन्तु मानव का सस्कार-प्रेरित अन्तःमन कभी-कभी स्वत· उसके विरुद्ध हो उठता है। इस कहानी मे इसी तथ्य की सुनियोजना है। निश्चय ही प्रेमचन्द का आरम्भिक 'आदर्शवाद' इस कहानी को एकदम आधुनिक नही बनने देता। फिर भी, मनोवैज्ञानिक गतिविधि, सामाजिक एव व्यक्तिगत यथार्थ, लेखक की सजीव वर्णनात्मकता, सूक्ष्मतम सत्यो के प्रति उसकी सजगता, तथा सुनिबद्ध क्रम-योजना के कारण इस कहानी को 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' की अपेक्षा, अधिक महत्त्व दिया गया। सामान्य पाठक की दृष्टि मे रोचकता दोनों मे थी। प्रबुद्ध-आलोचक की दृष्टि मे यह कहानी हिन्दी की भावी कहानी का दिशा-निर्देश करने वाली सिद्ध हुई।

प्रसाद और प्रेमचन्द

'प्रसाद' ने कुल मिलाकर पच्चीस से ऊपर कहानियाँ लिखी, और प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ ! संख्या भेद से ही नही, व्यापक जीवन की पर्यालोचना की दृष्टि से भी प्रेमचन्द को ही अधिक महत्त्व मिला। 'प्रसाद' की जीवन-दृष्टि मे कवित्वजन्य अन्तरिकता की प्रधानता थी। 'मानव-मनोविज्ञान' के गहरे अध्ययन मे उनकी अभिरुचि थी। उनकी कहानियो मे व्यक्ति-जीवन और सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण था, जिसमे कुत्सा और सौन्दर्य दोनो को ही स्थान था। उनका अपना आदर्श उसमे अलग से कुछ न था। फिर भी 'प्रेम' के दिव्य-रूप के प्रति उनकी आस्था 'आकाशदीप' मे खुलकर व्यक्त हुई है। उनकी भाषा मे जो साहित्यिक पुट आया है, वह 'कला' के प्रति उनकी आस्था के कारण ही ! 'कला' उपादेय और लाभकारी हो सकती है, किन्तु साहित्यकार, जनरुचि के नाम पर, स्वय को कलात्मक आनन्द से पृथक् करके नही लिख सकता। इसी लिये जनशिक्षण की भावना से कुछ न लिखकर उन्होने अपने तटस्थ निरीक्षण को ही महत्व दिया है। दूसरी ओर प्रेमचन्द का कला-सिद्धान्त 'उपयोगितावादी' था। वे जन-शिक्षण को भी कलाकार का दायित्व स्वीकार करते थे। कहानी हो या उपन्यास—उसे वे इस प्रकार की अनुभूति के परिवहन का उत्कृष्ट माध्यम समझते थे। उनकी भाषा, सौभाग्य से, स्वभावतः ही इस बात के उपयुक्त थी। परन्तु इस भाषा को **सस्ती** या **निम्नस्तर** की कह देना अनुचित होगा। **साहित्यिकता** किसी विशिष्ट शब्दावली मे निहित नही होती। प्रकृति-चित्रण, मानव की अन्तश्चेतना, अथवा किसी परिस्थिति के चित्रण मे उनकी भाषा मे जो **साहित्यिकता** अनायास समाविष्ट हो जाती है, उसकी तुलना मे घटनाओ के सादे वर्णन-प्रसंग मे वे चित्रण की पूर्णता पर अधिक ध्यान देते है, भाषा पर नही। भाषा की शब्दावली के एक रहते भी कवित्व का यह अन्तर उनके गद्य की प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार के कवित्वमय स्थलो पर भी उनकी उपमाये तथा भावनाये सामान्य जन-अनुभूति से बहुत दूर की नही हो जाती।

प्रेमचन्द : जन-जीवन के चितेरे

परन्तु उनकी विशेषता तो भाषा से भी बढकर जीवन-वैविध्य पर आधारित विषय-वैविध्य मे है। प्रथम बार उन्होने सामान्य जन-जीवन को, सीधे

रूप मे, अपने वक्तव्य का विषय बनाया। हिन्दी-प्रवेश से पूर्व उर्दू में उनकी लगभग सौ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थी। इन कहानियो का विषय प्रायः व्यक्तिगत चरित्र-सुधार था। समाज और व्यक्ति के चरित्र-पतन ने उन्हें व्यथित किया था। वे धार्मिक जोश की भाँति हर समस्या से जूझ पडे। आरम्भ मे उन्हे उन समस्याओ के हल करने का उत्साह रहा। किन्तु धीरे-धीरे वे भी यथार्थ चित्रण मे ही अपने कार्य की इतिश्री मानने लगे।

भावना, विषय और कला

भावना के क्षेत्र में उनकी कहानी को आदर्श से यथार्थ की ओर की यात्रा कहा जा सकता है। पहले 'यथार्थ से पूर्णतः आदर्श' की ओर होने वाली प्रगति, उनकी '**पचपरमेश्वर**' आदि कहानियो मे पाई जाती है। '**परीक्षा**' जैसी कहानियाँ दूसरे वर्ग मे आती है, जिनमे 'यथार्थ-चित्रण' मुख्य होते हुवे भी, एक आदर्श सदा लेखक के नेत्रों मे रहता है। इसमे अगले चरण के रूप मे, 'बडा भाई' जैसी कहानियो में प्रेमचन्द एकदम **यथार्थ-चित्रण** पर उत्तर आये हैं, और मनोवैज्ञानिक स्थितियो के उद्घाटन मे ही अपना कर्त्तव्य पूर्ण मानने लगे हैं। **विषय के क्षेत्र में** आरम्भ में 'व्यक्ति के सुधार' पर वे बढे। बाद मे उनका विषय 'समाज-सुधार' हो गया। तीसरे वर्ग मे वे 'मानवता के अध्ययन' मे रत हुवे। भावना के **तीनों वर्गों** की कहानियो को क्रमश. इन **तीनो वर्गों** के उदाहरण रूप मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है। **कला-क्षेत्र में भी** उनकी इन तीनो वर्गों की कहानियो को पुन. **तीनो वर्गों** मे रखा जा सकता है। **सर्वप्रथम** वे कहानियाँ आती है, जिनमे वक्तव्य के साथ शिल्प-विधान पर भी अधिक बल दिया गया है। ऐसी कहानियो को आरम्भ में प्रेमचन्द ने 'गल्प' नाम दिया था। इनमे या तो कथा का कोई एक 'रहस्य' या 'ग्रन्थि' छिपा ली जाती है, और उसे अन्त मे प्रगट कर दिया जाता है। या फिर चरित्र का कोई एक आदर्श अन्त मे मानव की सामान्य गतिविधि का नियामक हो जाता है। **दूसरी श्रेणी** मे वे कहानियाँ आती है, जिनके कथानक-ढाँचे पर बल नही दिया जाता, किन्तु जिनमे उपर्युक्त रीति का कुछ न कुछ सगठन स्वभावत है ही। हाँ उनमे विषय-तत्व पर, अपेक्षा-कृत, अधिक बल दिया गया है। लेखक क्या कहना चाहता है ? यह बताने की अपेक्षा घटना-बहुलता व तत्सम्बद्ध संविधान पर अधिक बल दिया गया है। **तीसरे वर्ग** की कहानियाँ वे है, जहाँ वे केवल एक तटस्थ की भाँति चरित्र-चित्रण या यथार्थ-वर्णन मात्र करते है।

जीवन के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को प्रकाश मे ला देना भर ही उनका कार्य होता है। वे न कथा का निर्माण किसी खास ढंग से करना चाहते हैं, न वे उसका अन्त आदि सोचकर चलते है। पहली दो प्रकार की कहानियो मे पाठक के मन पर वे कुछ प्रभाव अपने किसी 'सन्देश' के रूप मे छोडना चाहते है। कहानियों के इस वर्ग द्वारा वे पाठक को स्वय कुछ न कहकर, उसके लिये विचार-सामग्री मात्र प्रस्तुत कर देते हैं।

इन दोनों के बाद

प्रेमचन्द और प्रसाद के इस आदर्श को लेकर लेखको का एक वर्ग हिन्दी कहानियो के क्षेत्र मे उतरा! इनमे विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', चण्डी प्रसाद 'हृदयेश', सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राधिकारमण, बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी, ज्वालादत्त शर्मा, विनोदशकर व्यास, राय कृष्णदास, ऋषभचरण जैन, तथा सियारामशरण गुप्त के नाम मुख्य है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों कहानी लेखक हुवे। इन लखको को कहानीकारो के विभिन्न वर्गों मे रखा जा सकता है।

दो वर्ग

प्रथम और मुख्य वर्ग उन लोगो का है, जो यथार्थ-प्रिय होकर मानव की मनोवैज्ञानिक अन्त स्थितियो के चित्रण मे उत्सुक रहते हैं। इनमे कथा-तत्व के संगठन की अपेक्षा वक्तव्य-विषय एव भाव-विनियोजना को महत्त्व देने की प्रवृत्ति प्रधान रहती है। इन लेखको मे, 'प्रसाद' की ही भाँति, भाषा का सौष्ठव स्वभावत. ही आ गया है। वातावरण का भी वह व्यापक सामाजिक आधार यहाँ नही लिया गया है। इनमे 'हृदयेश' प्रमुख है। दूसरे वर्ग मे प्रेमचन्द के अनुकरण पर उर्दू से हिंदी मे आने वाले प्रमुख सुदर्शन है। इनकी भी कहानियो मे आदर्श की एक पुट सुनियोजित रहती है। एक अन्य प्रमुख लेखक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की विशेषता सामान्य जीवन व्यापारो मे से कहानी को आगे बढाने की रही है। भाषा का प्रवाह आरम्भिक कहानियो मे अवलोकनीय है। उत्तरोत्तर उनकी वृत्ति वक्तव्य-वस्तु या विषय की प्रधानता ग्रहण करती गई है।

'शृंगार' के उपासक

'जैनेन्द्र' सियाराम शरण 'गुप्त', एव भगवती चरण 'वर्मा' का एक अलग

वर्ग है। यद्यपि इनके साथ ही 'उग्र' व 'शास्त्री' की कहानियो मे भी जीवन के कुछ ऐसे तत्वो की सुनियोजना यथार्थ के नाम पर रहती है, जिन्हे हम मर्यादा-भजक कह सकते है। लेखक प्रत्यक्षत ऐसा चित्रण समाज को अपने अन्दर छिपी बुराइयो से परिचित कराने के लिये करता है। प्रथम तीनो लेखक अपनी मनोवैज्ञानिक-चित्रण-सामर्थ्य के कारण इस दिशा मे समर्थ भी रहे हैं, किन्तु अन्तिम दोनो लेखको की कहानियो मे यह चित्रण 'उत्तेजक' रूप धारण कर लेता है। कभी-कभी सत्य का इतना अधिक 'नग्न-चित्रण' उचित भी नही ठहराया जा सकता; विशेषकर समाज की अप्रबुद्ध अवस्था मे। आगे चल कर इन लेखको को कहानी-क्षेत्र मे पर्याप्त महत्त्व एव सफलता मिली। चतुरसेन शास्त्री की कलम तो उनकी मृत्यु के बाद ही रुकी। शेष लेखक अब भी इस दिशा मे बढ रहे हैं। 'आदर्श' की विनियोजना के बिना भी कहानी जीवन-चित्रण को अविकृत-रूप मे प्रस्तुत कर सकती है, प्रथम तीन लेखको की दृष्टि ऐसी ही प्रतीत होती है। भाषा सभी की प्रवाहमय है। नयी अभिव्यिक्ति के कारण उसमे व्यग्यात्मकता और लाक्षणिकता की अधिकाधिक सामर्थ्य आई है।

जैनेन्द्र, 'गुप्त', व वर्मा

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के इन तीनों कहानी लेखको के विषय मे एक बात यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इन्होने प्रायः मध्य-वर्ग के चित्रण को अपना आधार बानाया है। यद्यपि यह तत्त्व 'प्रगतिवादी' जंचता है, फिर भी एक अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिये, वह यह कि इन्होने आरम्भ से ही इस तत्व को किसी प्रगतिवादी भावना से न अपना कर, केवल अपनी अनुभूति के क्षेत्र का एक मात्र आधार होने से अपनाया है। यह वर्ग ही उनकी दृष्टि मे समाज का सही प्रतिनिधि है। इसकी कुण्ठायें एव सफलतायें-असफलताये ही चित्रण योग्य हैं। 'प्रगतिवादी' लेखक के लिए इससे भी अधिक शोषित और पीडित वर्ग है: निर्धन मजदूर और किसान का! उस वर्ग का चित्रण इन कहानियो मे नही हुवा है। फिर भी, आर्थिक समस्या की प्रधानता इनमे रही है। सामाजिक समस्याये और उनके प्रति विद्रोह का आभास वही तक है, जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है। सामाजिक पुनरुद्धार की भावना से उनका चित्रण नही हुवा है। आगे चलकर भगवतीचरण 'वर्मा' ने प्रगतिशील भावनाओ को अधिक स्पष्ट रूप मे अपनाया। तब भी उन्हे प्रगतिवादी नही

कहा जा सकता उनकी दृष्टि मे व्यक्ति को समाज का केन्द्र स्वीकार किया जाना आवश्यक है।

एक अन्य वर्ग

विनोदशंकर 'व्यास', राधिकारमणसिंह, ऋषभचरण जैन, व ज्वालादत्त शर्मा की कहानिया सामान्य स्तर की रही है। उनमे आदर्श और यथार्थ का मिला-जुला पुट रहा है। भाषा सामान्य व प्रसंगोचित रही है। **राय कृष्णदास** की कहानियो की विशेषता उनकी भाव-प्रधानता मे है। 'गीति-मुक्तकों' की रचना की भाँति यहाँ भी वे किसी एक विशिष्ट भावना के चित्रण मे ही रत रहते है। प्रायः नाटकीय वातावरण या गीति-काव्यात्मक प्रवाह उनकी कहानियो का वैशिष्ट्य है। भाषा मे लाक्षणिकता अधिक है।

हास्य लेखक

जी० पी० श्रीवास्तव कहानी व नाटक क्षेत्र मे हास्य के एक मात्र खिलाड़ी माने गये है। उनकी भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है। उनकी सामाजिक अनुभूति बडी प्रखर रही है, और व्यग्यात्मक रूप मे अभिव्यक्त हुई है।

निराला : कहानीकार

'निराला' के युगान्तरकारी व्यक्तित्व ने कहानी क्षेत्र मे भी अपना प्रभाव छोडा। उनकी सी अनुभूति की तीव्रता कम ही लेखको मे मिलती है। भाषा की सजीवता भी अवलोकनीय है। वे किसी भी समस्या को बद्ध-आचार-परम्परा मे स्वीकार करके नही चलते। उनका चिन्तन उनकी अनुभूति पर आधारित है, व अपने ही ढंग का है। 'यथार्थ' का स्फुरण वहाँ भी स्पष्ट हुवा है, परन्तु मर्यादा के भीतर ही ! उनके चार कहानी सग्रह प्रकाशित हुवे हैं।

पन्त और महादेवी

कविवर 'पन्त' की पाँच कहानियो का एक सग्रह छपा है, और महादेवी की दो कृतियाँ—'श्रृखला की कडियाँ' और 'अतीत के चलचित्र'—प्रकाशित हुई है। महादेवी के इन सस्मरणो को कहानी से भी अधिक रोचकता, मार्मिकता, एवं विश्वपीडात्मक अनुभूति प्राप्त हुई है। उनकी शैली अत्यधिक रोचक है। इस दृष्टि से पन्त का गद्य उतना आकर्षक नही है।

नया युग : नई विचारधारा

इस प्रकार प्रसाद-प्रेमचन्द-युग मे कहानीकारो का एक बडा दल ही तैयार

नही हुवा, बल्कि हिन्दी-कहानी को विविध दिशाओ मे प्रगति भी मिली ! स्वभावत: 'प्रगति-युग' का महत्त्व हिन्दी कहानी के लिये कुछ भी नवीनता लाने मे न था। उसकी समस्त पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार थी। इन सभी लेखकों ने प्राय अगले युग मे भी कहानी-निर्माण मे भाग लिया। हाँ, समाजवादी विचारधारा ने जिन व्यक्तित्वो को प्रमुखता दी, वे अत्यन्त शक्तिशाली और प्रभावकारी सिद्ध हुवे। राहुल साकृत्यायन, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, व कृष्णचन्द्र जैसे ठोस प्रगतिवादी लेखक हिन्दी को मिले। इनका एक निश्चित राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण था। इन लोगो ने उसका प्रचार अपनी लेखनी के माध्यम से किया। 'अश्क' की कहानियो पर व्यक्ति-जीवन की पीड़ा का अधिक प्रभाव पडा है, जबकि शेष दोनो की राजनैतिक चेतना अधिक प्रबुद्ध रही है। 'राहुल' व 'यशपाल' की वर्णनात्मक प्रतिभा भी अत्यन्त कौशल-मय है। 'राहुल' कल्पना के भी धनी हैं। यशपाल की विशेषता उसकी अनुभूति की मार्मिकता मे है। राजनैतिक जीवन की अनुभूति ने भी उसका साथ दिया है। उसका दृष्टिकोण 'वर्गवाद' और 'वर्ग-सघर्ष' पर आधारित है। 'मशीनी-क्रान्ति के इस युग मे मानव का मूल्य क्या है ? समाज की आमूलचूल प्रगति के विना इस अवस्था मे सुधार सम्भव नही,—इत्यादि बातो को ही उसकी कहानियो मे प्रमुखता प्राप्त हुई है। भाषा तीनो की ही अत्यन्त प्रवाहमय है।

मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ

इस युग के लेखको मे जो दूसरा वर्ग अत्यन्त प्रमुख है, उसे हम मनो-विश्लेषण पर आधारित पाते है। 'मनोविश्लेषण' की अपनी धारणा ही 'प्रगति-वाद' की मूल-चिन्ता-धारा के विरुद्ध जा पडती है। 'प्रगतिवाद' समाज की सामूहिक प्रगति, और उसकी यान्त्रिक-शक्ति, मे विश्वास रखता है। 'मनो-विश्लेषण' मे हम 'व्यक्ति' की पृथक् सत्ता व उसके महत्त्व को मानकर उसके विश्लेषण पर बढ़ते है। वैसे अन्तत दोनो का उद्देश्य एक भी हो सकता है। किन्तु, व्यक्तित्व की इस प्रमुखता के कारण ये दोनो धारायें दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र मे जा पडती हैं। 'प्रगतिवादी' धारा मे लेखक के व्यक्तित्व मे राजनैतिक नेतृत्व की भावना प्रधान रहती है। जबकि 'मनोविश्लेषणात्मक' कहानियो मे उसका 'विचारक' रूप सामने आता है। इलाचन्द्र जोशी एव 'अज्ञेय' का नाम इस वर्ग के लेखको मे आता है। इन दोनो ने ही लिखना पहले युग से ही आरम्भ किया था। 'जोशी' की भाषा प्रवाहमय व वर्णन प्रतिभा अद्भुत है।

उनके विषय भी प्रगतिवादी विषयों से मिलते-जुलते होते है। परन्तु उनमें व्यक्ति के मन व उसके व्यक्तित्व को पढने का अधिक प्रयत्न रहता है। उनकी कहानियो मे दार्शनिक शुष्कता नही है। इसके विपरीत 'अज्ञेय' के प्रौढ दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव उसकी कहानियों पर पडा है। उसकी भाषा व शैली में नवीनता भी है, पर कुछ रूक्षता भी है। उसके विषय कुछ जटिल भी होते हैं। साधारण लेखक और पाठक कभी-कभी उन विषयो व उनके प्रस्तुत करने के ढग मे विमूढ हो जाता है। किन्तु जिस दो-टूक निर्णय के रूप मे वे किसी जटिल से जटिल विषय को सुलझा देते हैं, उसमे यथार्थ की मात्रा किसी भी 'प्रगतिवादी' की अपेक्षा अधिक होती है। उनका यह यथार्थ स्वभावतः जीवन-दर्शन मे ही उत्थित है, फिर भी इसमे दार्शनिकता का एक हलका आवरण रहता है। शैली में भी कई बार ऐसी मौलिकता निहित रहती है कि कहानी की वर्णनात्मकता और सीधेपन से परिचित पाठक उसमे उलझ ही जाता है। इनके अतिरिक्त जैनेन्द्र, भगवतीचरण 'वर्मा', एवं सियारामशरण 'गुप्त' के नाम पहले लिये जा चुके हैं। उनकी कहानियो मे मनोवैज्ञानिकता अवश्य है, किन्तु मनोविश्लेषण की वह गहराई नही। जैनेन्द्र ने कभी-कभी ही गहराई से लिखा है।

विष्णु प्रभाकर और 'राघव'

नवोदित लेखको के वर्ग मे विष्णु प्रभाकर और रांगेय 'राघव' का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। स्पष्टतः दोनो प्रगतिवादी दिखाई देते हैं, पर 'समाजवाद' के आवरण मे ही उनके 'प्रगतिवाद' को सीमित नही किया जा सकता। भाषा दोनो की प्रवाहमय है। **रांगेय 'राघव'** की विशेषता इसी मे है कि अहिन्दीभाषी होकर भी उन्होने हिन्दी की सेवा बडी लगन से की है। इतना ही नही, उनकी कुछ कहानियाँ अद्भुत प्रभावकारी सिद्ध हुई है। **विष्णु प्रभाकर** ने भी अनेकविध प्रगति की है। उनकी कहानियो मे सत्य को अधिक यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

नारी लेखिकाये

इनके अतिरिक्त उषादेवी मित्रा और होमवती देवी का नामोल्लेख किये बिना यह सूची अधूरी रहेगी। उन दोनो की कहानियो मे नारी-जीवन की व्यथा व उसके सौन्दर्य के साथ-साथ, मानव-मात्र के जीवन के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त हुई है। भाषा का सारल्य, माधुर्य और प्रवाह दोनो मे देखते ही बनता है। नारी लेखिकाओ का एक अन्य-वर्ग भी है, जिसने इस दिशा मे

पर्याप्त प्रगति की है। चन्द्रकिरण 'सौनरिक्सा', रजिया 'जहीर' शिवरानी, कमला चौधरी, कंचनलता सब्बरवाल, रजनी पनिक्कर, आदि के नाम प्रमुख हैं।

अन्य प्रगतिवादी—इस युग के सफल कहानीकारों मे कृश्नचन्द्र, अमृत राय, और शिवरानी प्रेमचन्द का नाम मुख्य है। उर्दू मे ख्याति प्राप्त करने के बाद कृष्णचन्द्र जैसे प्रौढ़ प्रतिभा के लेखक ने हिन्दी क्षेत्र मे भी प्रवेश किया। मराठी, बंगला, गुजराती और दक्षिणी भाषाओं मे भी इनकी कृतियों के कुछ अनुवाद हुये हैं। उनकी भाषा उर्दू शिल्प की ही भांति सरल है। उनके वाक्य-विन्यास व उनकी उपमाओं मे जीवन की सहजता ने अनायास प्रवेश पाया है। साम्यवादी विचार धारा को अपनाकर भी उसने अपने साहित्य को किसी साम्प्रदायिक कट्टरता का शिकार नहीं होने दिया है। विचार विद्रोही हैं, किन्तु कहीं-कहीं अस्पष्टता भी आजाती है। मानव की कमजोरियों और उसकी शक्तियों को पहचानने की सामर्थ्य भी उसमे है। किन्हीं दार्शनिक गुत्थियों मे न वह उलझने का यत्न करता है, न वैसी उलझन उसके स्वभाव के अनुकूल है। अमृत-राय का व्यक्तित्व भी यूं तो साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित है, किन्तु उसकी अनुभूति मे एक सहज आन्तरिकता की भावना विद्यमान है। उसकी शैली भी वर्णनात्मक कहानियों से भिन्नता लिये हुये है। कहानी के बाहरी ढांचे की अपेक्षा उसकी आस्था वक्तव्य की नवीनता एवं अभिव्यक्ति की पूर्णता मे अधिक है। लम्बे-लम्बे वर्णनों मे न उसे उलझना पसन्द है, न वह उसकी प्रकृति के अनुकूल है। संक्षेप उसकी शैली का वैशिष्ट्य है। भाषा स्वभावत कुछ गम्भीर है। अमृतलाल नागर व ख्वाजा अहमद अब्बास के नाम भी यहाँ अविस्मरणीय हैं। उनकी लेखनी से हिन्दी को बहुत कुछ मिला है। शैली का उत्कर्ष दोनों का अपना है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद—पहला महायुद्ध जिस प्रकार हिन्दी के लिये वरदान बनकर आया था, दूसरे महायुद्ध ने उसे दूसरे रूप मे मोड़ दिया। आरम्भिक क्षण से ही वर्णनात्मकता के प्रति जो रुचि भारतीय कहानी की विशेषता रही है, या फिर विश्वभर की कहानी की विशेषता रही है, इस नये जीवन-दर्शन ने उस सबको लुप्त कर दिया। विज्ञान मानव-जीवन को जितना ही सुख-सम्पन्न करता जा रहा है, उसने उसे उतना ही तुच्छ और उपहासास्पद भी बना दिया है। अणु बमो के आविष्कार से पहले ही 'जीवन' के पुनर्विचार के लिए मानव बाध्य हो चुका था। अणुबम ने नागासाकी और हीरोशिमा के जीवन को ही ध्वस्त नहीं किया, प्रत्युत मानव-मात्र की

जीवनाशा को ध्वस्त कर दिया। आर्थिक क्षेत्र में भी पूंजीवादी और समाज-वादी सिद्धांतो के अन्तर्विरोध ने मानव को पुनर्विचार के लिए बाध्य किया। आर्थिक मान्यताओं के साथ-साथ सामाजिक मान्यताओ के मूल्यो मे भी परि-वर्तन होने लगा। एक व्यक्ति एकाधिकारवाद के द्वारा समाज के भविष्य को निर्णीत करे ? या सारा समाज स्वय अपना पथ निश्चित करे ? 'व्यक्ति' की अपनी रुचियां समाज को सैनिक कैम्प का बन्दी बना देंगी। और 'समाज' की इच्छा प्रधान मानने का अर्थ होगा, व्यक्ति की अ-सामर्थ्य मे विश्वास ! निश्चय ही नैतिक मूल्यों मे परिवर्तन होना आवश्यक था। इस 'परिवर्तन' का अर्थ नैतिक-उच्छृंखलता से नही है, यद्यपि साधारण जन की चेतना को विश्राम देने के लिए इस प्रकार की उच्छृंखलता से युक्त सस्ते और उत्तेजक कहानी साहित्य का निर्माण इन दिनो बहुत बढ गया है। जीवन की गहराई की अपेक्षा, ऐसी कहानियो मे, जीवन की विलासिता पर अधिक बल दिया गया है। तो भी साहित्यिक दृष्टि से प्रबुद्ध और उत्तरदायी साहित्यकार जीवन के जिस पुनर्विचार के लिए प्रेरित हुवा है, उसमे निराशा के बीच से आशा का झलकता सन्देश है। उसने यथार्थ को उसके ही अविकल रूप मे देखने का प्रयास किया है। वह चाहता है सत्य को समझना और उससे ही तृप्त होना। विज्ञान ने उसकी कल्पनाओं को साकार कर दिया है। युद्ध के बाद से मानव ने चाँद-सितारों तक की दौड़ें लगाने का यत्न आरम्भ किया; और अब वह इसमे सफल भी हो गया है। वह धरती के चारो ओर चक्कर काट आया है, और अब चाँद या शुक्र नक्षत्र आदि तक पहुँचने की तैयारी मे है। इसलिये अब कल तक की कल्पना को कल्पना न कहकर, सत्य ही मानना होगा। तो मानव स्वय भी सत्य के दर्शन मे उत्सुक क्यो न हो ? इसीलिये उसकी उत्सुकता अब 'रहस्यो' के प्रति न होकर 'यथार्थ' की पूर्णता के प्रति जाग चुकी है।

नई चेतना में अन्तर

यही अन्तर है वर्तमान कहानी का पहली कहानी से ! 'रहस्य' या 'ग्रन्थि' का महत्त्व प्रेमचन्द के युग मे ही समाप्त हो चुका था। तो भी 'प्रगति-युग' का कलाकार मानव की रहस्यमयी भावनाओ के परिशीलन से सर्वथा मुक्त न हो सका था। विभिन्न 'समस्याओ' के प्रति उसकी उत्सुकता इसी 'रहस्य' का ही रूपान्तर मात्र थी। किन्तु, इस नये युग की सबसे बडी समस्या स्वयं 'यथार्थ' है। 'जिसे हम यथार्थ कहते है, या जिसे हम 'सत्य' समझ

बैठे है, क्या वह सच ही हमारी अनुभूति या हमारे 'प्रत्यक्ष' का विषय है?' इसी प्रश्न को लेकर महायुद्ध के बाद का नवोदित हिन्दी-कहानीकार, विश्व के अन्य प्रगतिशील कहानीकारो के साथ कदम मिलाता हुवा, इस 'प्रत्यक्ष' के चित्रण और 'यथार्थ' के पर्यवेक्षण के लिए व्याकुल है। उसके विषय 'मृत्यु' जैसे अमूर्त्त भी हैं और 'यात्रा' जैसे सजीव भी, किन्तु अनुभूति की सत्यता और पूर्णता उसका अनिवार्य अंग है। निश्चय ही इस प्रकार की कहानी पर पाश्चात्य प्रभाव कहा जा सकता है। किन्तु, इस पर भी इसके कुछ मार्मिक कलाकारो मे उस सहज शैली ने स्वाभाविक विकास पाया है, जो उन्हें नये युग का अग्रदूत सिद्ध करती है। अमृतराय और अज्ञेय इसी प्रकार के प्रयोग पहले विभिन्न दिशाओ मे करते रहे है। नवयुग के नवोदित कलाकारो ने इन प्रयोगो को ही आगे बढाया है।

पुराने कलाकार—जहाँ तक इस युग के कहानी-विकास का सम्बन्ध है, यशपाल, अमृतराय, रागेय राघव, जैनेन्द्र, विष्णुप्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालकार अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, आदि सभी पुराने सिद्ध-हस्त लेखक आज तक भी कहानी साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं, किन्तु इनकी कहानियाँ किसी सर्वथा नवीन दिशा मे नही मुडी हैं। अपने-अपने सुनिश्चित पथ पर सभी बढ रहे है। अनुभूति और आयु ने उनकी शैली और अभिव्यक्ति को समृद्ध किया है। सक्षेप की रुचि और वक्तव्य पर बल की प्रवृत्ति प्रायः हर एक मे बढी है। भाषा मे भी शुद्धता या कट्टरता की अपेक्षा उसके प्रवाह-शील होने पर अधिक बल दिया जा रहा है। फिर भी वह 'क्षण-चित्र' की सतर्कता इनमे नही है, जो बाद की कहानियो का मुख्य लक्षण बन गई है।

नई कला—नये पथ पर बढती 'नई-कहानी' को इधर कुछ नये कलाकार भी प्राप्त हुवे है। उन्होने सचमुच कहानी को 'नया' बना दिया है। 'नई कहानी' के महत्त्व पर स्पष्टतः आलोचको के दो दल हैं। प्रगतिवादी और ऐतिहासिक दृष्टि के आलोचक उसे अभिव्यक्ति मे असमर्थ एव नि.शक्त पाते है। उनकी दृष्टि मे इस प्रकार की कहानी भाषा, भाव, वस्तु, आदि सभी से हीन होती जा रही है। दूसरी ओर, नई दृष्टि के आलोचको का एक दल कहानी के इस नये स्वरूप व नई शिल्प-रचना का पक्ष लेता है, और उसे उचित ठहराता है। सत्य यह है कि विगत महायुद्ध के पहले ही पश्चिम का कलाकार जीवन के मूल्य के प्रति सजग हो चुका था। उसे सहायता दी उसके 'भौतिक वादी' दृष्टिकोण ने। नश्वर जीवन की डरावनी छायाओ मे अनुभूति

के कुछ क्षण ही होते हैं, जिन्हें हम, हास-रुदन आदि के प्रबोधक रूप मे, 'जीवन्त-क्षण' कह सकते हैं। पाश्चात्य-दृष्टि का कलाकार इन कुछ क्षणो को ही 'जीवन' मान बैठता है। युद्धों की भयावहता से विषण्ण जीवन मे इन कुछ क्षणों का पूर्णतम व विस्तृततम चित्रण ही नये कलाकार का लक्ष्य बन गया। पश्चिम की यह दृष्टि, इस युद्ध के बाद, भारतीय कलाकार को भी मिली। प्राण-चेतना की दृष्टि से भारतीय कलाकार की आस्था इस प्रकार के दृष्टि-कोण मे नही हो सकती। उसकी दृष्टि मे जीवन की पूर्णता व समग्रता मे ही आनन्द है। किन्तु कलात्मक दृष्टि से उसे इस 'क्षण-दृष्टि' को पूर्णता से पाने की बात अवश्य जँच गई है। भारतीय आलोचक-दृष्टि ने आरम्भ से रसबोध के रूप मे, आल्हादक क्षण की कल्पना की है। काव्य की रसमयता इसी 'क्षण' की देन मानी गई है। इस दृष्टि से हास, रुदन, या अन्य अनुभूतियो की इन क्षणोपलब्धियो का चित्रण रसात्मक व भावात्मक पूर्णता जगाने वाला था। इस दृष्टि में जीवन के अपेक्षाकृत विस्तार मे जाने वाली, पहली कहानी वर्णनात्मक थी। वर्णनात्मकता का अर्थ हम 'कवित्व का अभाव' भी कर सकते है। किन्तु इस 'नई कहानी' मे 'क्षण-चेतना' को पकडने व उसे पूर्णता से चित्रत करने का जो प्रयास है, उसने उसे 'कवित्व' के समीप पहुँचा दिया है। यह बात अलग है, कि कौन, वहा भी, अन्तदृष्टि पाने मे समर्थ हो सका है, कौन नही? और, भारतीय कलाकार हर दृष्टि से इस 'शैली' को अपनाने मे सफल रहा है। यदि कुछ कलाकारो की कुछ असफल कृतियो से हम इस सम्पूर्ण नई कहानी को दूषित कह दें, तो यह अन्याय है। 'क्षणोपलब्धि' के इस चित्रण मे स्वभावतः 'कथावस्तु' का विस्तार समाप्त हो गया है। अनुभूति की पूर्णता व तीव्रता ही वक्तव्य बन गई है।

नये कथाकार

इन कथाकारों मे मोहन राकेश, मार्कण्डेय, भैरवप्रसाद गुप्त, निर्मल वर्मा, 'मधुकर', राजेन्द्र, रजिया सज्जाद जहीर, आदि का नाम मुख्य है। 'अज्ञेय' की दार्शनिकता, 'जोशी' की विवेचना-प्रियता, 'जैनेन्द्र' की लुका-छिपी से ये सभी लेखक मुक्त हैं। किसी-किसी मे भाषा की कमी भले ही अखरे, किन्तु आम तौर पर सभी ने अनुभूति के अनुकूल उपकरण जुटाने की सामर्थ्य पाई है। अन्तर है अनुभूति की गहराई का, और उसे 'निजी' बनाकर अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य का।

मन्मथनाथ 'गुप्त', फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि अन्य कलाकारों ने भी लघु-कथा के क्षेत्र मे नये प्रयोग किये है। परन्तु ऐसे कलाकारों को नई शैली का कथाकार नही कहा जा सकता। कृष्णचन्द्र पुरानी शैली के कलाकार होकर भी नई शैली के कथाकारो मे अग्रणी है। 'क्षणोपलब्धि' के चित्रण की दृष्टि से उनकी कुछ कहानियो को विशिष्ट भी कहा जा सकता है। उनकी भाषा मे उर्दू का असर अवश्य है, पर गहरा नही।

अन्य रूप—इसका अर्थ यह नही कि 'कहानी' के दूसरे रूप मिट गये है। 'नई कहानी' का ही एक रूप है—चरित्रात्मक। जीवन-टाइप की कहानिया पहले भी लिखी जाती रही हैं। चरित्र-चित्रण की व्यग्रता भी पहली कहानियो की प्रेरणा रही है। किन्तु अब तक ऐसा तभी हुआ है, जबकि कथा का ढाँचा न टूटने पाये। अर्थात् कथा के वहते प्रभाव मे ही 'जीवनी' या 'चरित्र-चित्रण' अग रूप मे आया करता था। किन्तु, जिस प्रकार 'क्षणोपलब्धि' वाली कहानीमे, 'क्षण-सुख' की पूर्णता होनी आवश्यक शर्त है, उसी प्रकार नई चरित्र-प्रधान कहानी मे, कथावस्तु की अपेक्षा, चरित्र का कोई एक विशिष्ट (व्यंग्यात्मक) पहलू ही प्रधान रहना चाहिये। अपने परिपार्श्व मे से वह पूर्णतः उभर कर सामने आना चाहिये। 'कहानी' का अश उसमे इतना ही है कि सीधे से चरित्र का वर्णन न करके, किन्ही घटनाओ या प्रसंगो के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप मे, एक 'चरित्र' सजीव कर दिया जाता है। इस प्रकार की कहानियों मे भी भारतीय कलाकार पीछे नही है। अमृतलाल 'नागर', अमृता 'प्रीतम', कृष्णचन्द्र, आदि कुछ उत्कृष्ट कलाकारो के नाम इसी मे समाविष्ट होते है। ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चुगताई की कहानियाँ, भी इन्ही करारे व्यंग्यो से युक्त है।

महत्त्व—निश्चय ही इस प्रकार के प्रयासो हिन्दी कहानी विश्व के साहित्य मे उचित स्थान की अधिकारिणी वन पाई है। किन्तु ऐसे लेखको का वहुत थोडी संख्या मे होना हमारे लिए एक समस्या वन जाती है। अभिव्यक्ति और शैली की नकल मे चतुर वहुतेरे अन्य नवोदित लेखको ने भी इस दिशा में प्रयास किया है, किन्तु वे सफल नही हो सके है। उनका एकमात्र कारण यह है कि, **जीवन की आधुनिकतम अनुभूति के अभाव में उसकी आधुनिकतम अभिव्यक्ति असम्भव है।**

नई पत्रिकायें—इस नई अभिव्यक्ति को देने के लिए कुछ नई कहानी-पत्रिकायें निकली हैं। 'नई कहानियाँ', 'सारिका', 'कहानी', 'कादम्बिनी',

आदि ऐसी ही पत्रिकायें हैं। इनमें से कहानी के आधुनिकतम रूप को निखारने का प्रयास किया जा रहा है।

मनोरंजन : कुत्सित यथार्थ— दूसरी ओर, कहानी को केवल जन-मनोरंजन एवं समय-यापन की वस्तु समझ कर चलने वाली पत्रिकाओं और उनके लेखकों की बढ़ती होती जा रही है। 'माया', 'मनोहर कहानियां', 'मनोरमा' के परिवार के अतिरिक्त इस क्षेत्र में 'शमा', 'लहर' आदि अन्य अनेकों पत्रिकायें आई हैं। इनका मुख्य विषय है—वासना और कुत्सित यथार्थ। मानव की 'वासना' अब साहित्यकार की क्रीड़ा का विषय न रहकर मानव के जीवन की समस्या बन चुकी है। वह सत्य भी है और ज्ञेय भी· किन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसे उपहास की वस्तु बना दिया जाय। फिर भी ऐसी कहानियों व ऐसी पत्रिकाओं का कुछ न कुछ महत्त्व बढ़ता ही जाता है। वर्णनात्मक कहानियों को बढ़ावा देने में इन पत्रिकाओं का बड़ा भारी हाथ है। कम-से-कम हिन्दी के प्रति अभि-रुचि उत्पन्न करने में तो ये सहायक हुई ही है।

इस प्रकार अपने विविध स्तरों को पार करके हिन्दी-कहानी आज अभिव्यक्ति की समस्या को हल करके अनुभूति के स्वरूप और उसकी यथार्थ-परक पूर्णता से उलझ रही है। उसे कुछ सिद्धहस्त कलाकार मिले हैं, जो युगानुरूप उसे समर्थन प्रदान करेंगे ही।

हिन्दी निबन्ध

निबन्धो की विधा को नितान्त आधुनिक नही कहा जा सकता। विषय-विशेष पर अथवा प्रसग-विशेष पर निबन्ध लिखने की परिपाटी संस्कृत में भी प्रचलित थी। वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, कादम्बरी आदि से अनेको ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिन्हे वर्तमान निबन्ध की परिभाषा मे ही लिया जायेगा। रीति-परक ग्रथों मे अध्याय के अध्याय इसी वर्ग मे गृहीत किये जा सकते है। फिर भी हिन्दी के वर्तमान निबन्ध के विकास मे उस परम्परा का योगदान न के बराबर है।

निबन्धो को विकास देने का श्रेय वर्तमान युग की पत्रकारिता को दिया जा सकता है। हिन्दी पत्रकारिता का जन्म सन् १८२६ मे हुवा। तब से सम्पादको और अन्य लेखकों की अनेको रचनाये सामने आनी शुरु हुई। इन आरम्भिक लेखो ने लेखको और पाठको के बीच भावी निबंधों के लिये मैदान प्रस्तुत किया। पश्चिमी निबन्धो का हिन्दी-निबन्धों पर प्रभाव पड़ने से पहले प्रायः ऐसे लेखों के लेखक ही हिन्दी के निबन्ध-लेखक बने। उनके तत्कालीन निबन्ध पत्रपत्रिकाओ मे छपे लेख ही हैं। उन लेखको मे अधिकांश सम्पादक थे। ऐसे लेखो को भी हिन्दी के वर्तमान निबन्ध का सीधा जनक नही कहा जा सकता। यद्यपि उनके महत्त्व को कम भी नही किया जा सकता।

पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित लेखों और निबन्धो मे बहुधा एक दृष्टि से अन्तर होता है। वह यह कि पत्र-पत्रिका के लेख को सुबोधगम्य बनाने के लिये आकार, शैली, एवं भाषागत अनेक प्रकार के सुधार ग्रहण करने होते हैं। 'निबन्ध' मे लेखक साहित्यिक-जगत् को अधिकाधिक विचार-संकुल, भाव-प्रधान, या वर्ण्य-विशिष्ट सामग्री प्रदान करना चाहता है। उसकी भाषा व शैली अधिक आत्म-निष्ठ हो जाती है,क्योकि उसका ध्यान पाठक की ओर न रह कर आत्म-प्रकाशन की ओर हो जाता है। लेख को साहित्य का अनिवार्य अंग इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उसे लेखक 'आत्माभिव्यक्ति' के लिये न लिखकर, जन-उद्बोधन के विशिष्ट उद्देश्य से

प्रेरित होकर लिखता है। और, निबन्ध साहित्य की अनिवार्य विधा इसी लिये है कि वह वाह्यर्थ-निरूपक हो या अन्त निरूपक, उसकी प्रेरक-वृत्ति होती है, 'आत्म-प्रकाशन' या 'आत्माभिव्यक्ति'। उसे भी लेखक किसी विशेष 'मूड' मे ही लिखता है। उसमे वह 'आत्मीयता' उँडेलता है।

इसी दृष्टि से भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, एव महावीर प्रसाद द्विवेदी जी तक के वे लेख, जो जन-शिक्षण के विशिष्ट उद्देश्य से लिये, 'निबन्ध' की कोटि मे अन्तर्गृहीत नही होगे, क्योकि उनमे आत्माभिव्यक्ति न होकर, 'शिक्षण' का उद्देश्य अन्तर्हित है।

फिर भी, हिन्दी के निबन्ध का उदय भारतेन्दु के समय से माना जाता है। उससे पहले के स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', आदि के 'पेम्फलेट' या प्रकाशित लेखो को 'निबन्ध' नही माना जा सकता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मूलत. कवि थे। यही बात थी उनके समय के अन्य निबन्ध-लेखको के विषय मे भी। कवि स्वतः आत्माभिव्यक्ति से प्रेरित होकर ही कुछ लिखता है। उन लोगो के निबन्धो मे भी ऐसी ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसीलिये उनके निबन्ध छोटे, मुक्तक प्रकृति के, एवं एकांगी हैं। उन्होने 'लेख' के रूप मे यदि कभी निबन्ध लिखे भी तो वे इतने विशृंखलित हो गये है, कि उनमे 'वर्ण्य' और 'आत्म' तत्वो का सामञ्जस्य नहीं हो पाया है। 'बात', 'वृद्ध', 'आँसू', 'बातचीत', आदि विपयो पर उन्होने जो निबन्ध लिखे, वे कवि-दृष्टि-परक एवं एकांगी है। आधुनिक निबन्धकार को 'आत्म-प्रकाशन' के साथ-साथ 'वर्ण्य' के जिस सर्वांगीण परिचय की आवश्यकता अनिवार्य है, वह उनमे नही पाई जाती। भाषा पर भी वे पूरा-पूरा ध्यान नही रख पाये है। उनके इन निबन्धो के विषय मे एक तथ्य यह स्मर्तव्य है कि भारतेन्दु, बदरीनाथ भट्ट, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', माधव प्रसाद 'मिश्र', आदि अधिकाश लेखक सस्कृत ज्ञान से समृद्ध थे। इसके विपरीत, अग्रेजी निबन्धो का कोई सम्पुष्ट आधार या आदर्श उनके सम्मुख न था। अतः सस्कृत की शैली का, विशेषकर उनके वर्णनात्मक निबन्धो मे, प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। कुछ निबन्ध तो सस्कृत के अनुवाद से प्रतीत होने लगते है।

किन्तु इसका अर्थ यह नही कि इस समय उत्कृष्ट निबन्ध, या आधुनिक कोटि के निबन्ध, लिखे नही गये। सत्य यह है कि भारतेन्दु के 'नाटक' जैसे

सुसमृद्ध निबन्ध भी इन्ही मे हैं। इस निबन्ध का संगठन, विषय-वस्तु, आत्म-तत्व, शैली, भाषा, आदि सभी कुछ इतना उचित बन पाया है, कि उसे भारतेन्दु-कालीन मानने का साहस नही पडता। भारतेन्दु की यह शैली 'मुद्राराक्षस' नाटक के उनके अनुवाद की भूमिका मे भी विशेष रूप मे देखी जा सकती है। इसी प्रकार के अन्य अनेक निबन्ध भी उद्धृत किये जा सकते हैं।

परन्तु इन दोनो कोटि के—कवित्व-पूर्ण व पाण्डित्यपूर्ण—निबन्धों के अतिरिक्त भी निबन्धो की एक श्रेणी बच जाती है, जो महज 'लेख' नाम से गिनी जा सकती हैं। उसमे आधुनिक निबन्ध की विशेषता उपस्थित नही है।

नवदृष्टि-युग के प्रथम चरण मे महावीर प्रसाद 'द्विवेदी' के प्रवेश के बाद भी लेखात्मक निबन्धो की शैली चलती रही। द्विवेदी जी के अपने निबन्धों की संख्या तीन सौ के लगभग है। साहित्यिक निबन्ध कम से कम सवा सौ हैं। किन्तु, इस सम्पूर्ण साहित्य मे ऐसे निबन्ध बहुत कम है, जो आधुनिक कहे जा सकते हैं। फिर भी, द्विवेदी जी को आधुनिक हिन्दी-निबन्ध का 'जनक' कहा जाता है। उनके इस वैशिष्ट्य के औचित्य-अनौचित्य की बहस मे बिना पडे, हमें इतना तो स्वीकार करना ही चाहिये कि पाश्चात्य निबन्ध लेखक बेकन के चुने हुवे निबन्धो को हिन्दी मे अनूदित करते हुवे, उन्होने हिन्दी के निबन्धों-साहित्य पर एक महान् उपकार किया। उसके बिना भी शायद हिन्दी-निबन्ध बढता ही, पर उसने इस प्रगति को तीव्रतर कर दिया।

इससे भी अधिक हिन्दी-निबन्ध को जिस वर्ग से, इस युग मे, प्रगति मिली उसे प्रायः भुला दिया जाता है। द्विवेदी जी ने एक बडे वर्ग को निबन्ध की 'विधि' सिखाई, उसका क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया। किन्तु, श्यामसुन्दरदास, रामनारायण 'मिश्र', गोविन्दनारायण 'मिश्र', सत्यदेव परिव्राजक, आदि अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा मे रंगे कुछ हिन्दी-सेवी साहित्यकारो का वह दल हिन्दी-निबन्ध को वर्तमान रूप देने का सीधा उत्तरदायी है, जिसे पाश्चात्य की नव-विकसित निबन्ध शैली का पूरा परिचय प्राप्त था; किन्तु जिसे किसी जन-शिक्षण की प्रेरणा से न लिखकर, स्वयं ही बहुत कुछ कहना था। ऐसे वर्ग के पास 'वर्ण्य' का भी अखूट-स्रोत था, और उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति मे 'आत्मा' का अंग भी प्रधान था। वे किसी 'प्रचारक' या 'आचार्य' के उद्देश्य से न बढकर भी, साहित्य को सीधी देन दे रहे थे। उनके निबन्ध भी अन्य लेखो की तरह, पत्र-पत्रिकाओ मे सादर स्थान पाते थे। किन्तु, उनके लिखे 'लेखो' को 'निबन्ध' के अतिरिक्त कुछ कहा भी नही जा सकता।

इन दोनो के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग था इसी युग के निबन्धकारो का, जिसमे आत्माभिव्यक्ति की चाह अपेक्षाकृत प्रबल थी। किन्तु इस वर्ग मे दो प्रकार के लेखकों का समावेश होता है, आलोचको का और कवि-हृदयो का। माधवप्रसाद 'मिश्र', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, आदि का वर्ग कवि-हृदय है। इस वर्ग की कृतियों मे आत्मानुभूति एवं आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है। उनकी भाषा मे भावुकता का उच्छलन अधिक स्पष्ट प्रभाव डाल पाया है। दूसरा वर्ग आलोचको का है: पद्मसिंह शर्मा, भगवानदीन 'दीन', जगन्नाथप्रसाद 'चतुर्वेदी', मिश्रबन्धु, आदि, जिनमे आत्माभिव्यक्ति की चाह तो है, 'पर कवित्व की सी स्वतन्त्रता नही। वे प्रायः ही आलोचक बन गये है, किन्तु द्विवेदी जी सा कठोर रूप बिना धारण किये। एक विशेषता जो उन्हें कवि-वर्ग से अभिन्न सिद्ध करती है, यह है कि दोनो के निबन्धों मे भाषा एवं अभिव्यक्ति अधिकतर लाक्षणिक हो उठी है। श्यामसुन्दरदास के वर्ग के लेखको की-सी सुलझी और व्याख्यात्मक शैली, अथवा द्विवेदी जी या उनकी परम्परा के अन्य लेखको की शिक्षणात्मक प्रवृत्ति इन दोनो वर्गों के निबंधो मे नही पाई जाती। इनमे भारतेन्दु युग की कवित्वपरक व्यंग्यात्मकता भी है, द्विवेदी जी द्वारा घोषित भाषा एव विषय सुधार की वृत्ति भी, एवं श्यामसुन्दरदास के वर्ग की उपस्थापना-चातुरी एव विषय की पकड भी।

इस चरण के निबन्धो मे ही प्रथमतः उन निबन्धो का भी सूत्रपात हुवा, जिन्होने आगे चलकर हिन्दी-समालोचना को जन्म दिया।

रामचन्द्र 'शुक्ल' का व्यक्तित्व इसी चरण मे प्रकाश मे आया। भाषात्मक सुधार की दृष्टि से आरम्भ मे उन्हे भी द्विवेदी जी के आचार्यत्व मे बढना पडा। किन्तु आरम्भ से ही उनके निबन्ध जिस पृथक् व्यक्तित्व एव निश्चित दृष्टिकोण को लेकर सामने आये, उससे निबन्धो को एक नई दिशा मिली। सबसे बडी विशेषता उनके निबन्धो की यह थी कि उनका वर्ण्य-विषय पर पूरा अधिकार होता था। किसी भी निबन्ध मे वे विषय को उसके सम्पूर्ण परिपार्श्व मे देखने के आदी थे। परिणाम यह कि उनके निबधो का आकार प्राय सीमा लाँघ जाता था। परन्तु, उसका अर्थ यह नही कि प्रमुख विशेषता — 'सक्षेप'—को उन्होने महत्त्व न दिया था। उनके अनेको निबन्ध अत्यन्त सक्षिप्त भी है। किन्तु इस सक्षेप के बाद भी उनमे विषय के प्रत्येक पहलू को लिया गया है। विषय की इस पूर्णता के अतिरिक्त साहित्यकार की

मौलिकता उनके निवन्धो मे सदा झलकती रही है। शैली को व्यक्तित्व की पहचान कहने की वात यदि हिन्दी-निवन्ध-लेखको मे से किसी एक पर बिल्कुल सटीक वैठती है, तो वे शुक्ल ही थे। 'शुक्ल' के निवन्धों मे उपस्थापना का ढग इतना सधा हुवा था कि मौलिकता, सरसता, सरलता, पूर्णता, आदि सभी गुण उसमें आ जाते है। भाषा का प्रवाह, शब्द-शक्तियो का सटीक प्रयोग, मुहावरो से भाषा को जीवन्त वना देना, आदि उनकी शैली के कुछ प्रमुख गुण हैं।

किन्तु, एक दोष भी है उनके निवन्धों मे। उनके कुछ निवन्ध अतिदीर्घ हो गये हैं। वे एक स्वतन्त्र प्रवन्ध का-सा रूप ग्रहण कर गये हैं। यह 'दोष' न होता यदि विषयान्तर हो जाने की वात न होती। वास्तविकता यह है कि शुक्ल जी ऐसे निवन्धो में आलोचना के किन्ही पूर्व निश्चित सिद्धान्तो को कसौटी वनाकर साहित्य की परीक्षा आरम्भ कर वैठते हैं। उनके वे सिद्धान्त सदा ही मौलिक नही होते। किन्तु उनके प्रति उनका उत्साह या रोष कई वार 'दुराग्रह' की सीमा तक पहुँच जाता है। ऐसे प्रसगो मे वे प्रायः विषय के पक्ष के साथ-साथ विपक्ष की, तथा विपक्ष से सम्बद्ध अन्य पहलुओं की भी, विवेचना मे उतर जाते है। स्वभावत. निवन्ध के आकार पर उनका नियत्रण नही रह पाता। पर, यह सब होने पर भी उन प्रवन्ध-सदृश निवन्धो मे भी उनकी विद्वत्ता एव उनकी रसिकता ने उनका साथ नही छोड़ा है। और, वे निवन्ध भी उनकी उत्कृष्टतर रचनाओ के रूप मे स्वीकार किये गये हैं।

मनोभावो पर उनसे पहले भी निवन्ध लिखे गये। किन्तु, भारतीय, पाश्चात्य एवं आत्म-दृष्टियो को एक साथ लेकर किसी ने ऐसी पूर्ण-अधिकारमत्ता का प्रदर्शन नही किया था। फिर अपने चारो ओर के जीवन मे से ही उदाहरण चुनकर उन्होने विषय को सर्वग्राह्य वना दिया है। इसी प्रकार समालोचना के क्षेत्र मे भारतेन्दु, द्विवेदी, एव श्यामसुन्दरदास, आदि सभी ने निवन्धो के माध्यम का प्रयोग किया। किन्तु इस सरलता, इस नवीनता, और इस पूर्णता से कोई भी अपनी वात न रख सका! शुक्ल जी की यह विशेषता है कि वे अपनी मान्यता पर अडिग रहते है। किन्तु, उस अडिगता के लिये वे एक अकाट्य आधार भी प्रस्तुत करते है।

इस प्रकार शुक्ल जी का व्यक्तित्व इस चरण से आरम्भ होकर इस युग के अगले चरण पर भी छा गया है। उन्हे हम एक अलग ही शैली का प्रवर्त्तक

कह सकते हैं। कुछ भी हो, यह सत्य है कि उन्होने हिन्दी-निवन्ध-लेखन में अच्छे-अच्छे लेखको मे रुचि पैदा कर दी। और, साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया कि निवन्ध केवल शैली मात्र नही है, बल्कि वह अपनी बात को कहने का एक जबरदस्त माध्यम है। कहने वाले मे यदि विचार है, उसकी लेखनी में यदि बल है, तो निबन्ध उसके लिये अमोघ अस्त्र है। उनकी 'चिन्तामणि' इसका जीवन्त प्रतीक है।

इसी बल, शक्ति और विश्वास को लिये एक और भी निबन्धलेखक उठा, जिसके निवन्ध कुल आठ हैं, किन्तु पूर्णता, समग्रता, संक्षिप्तता, साहित्यिकता, सोद्देश्यता, एवं सरसता में जिसका सान्मुख्य कोई अन्य निबन्धकार नही कर सकता। वह था जयशंकर 'प्रसाद' ! 'प्रसाद' के निबन्धो की विशेषता उनका आचार्यत्व नही है, बल्कि उनकी प्रेषणीयता है। उनके तर्कों मे शास्त्रीयता न होकर, अनुभूति का बल है। उनकी भाषा विषय के अनुकूल गम्भीर रही है। कवित्व उसमे पद-पद पर छलकता रहा है। साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाति इस क्षेत्र मे भी वे इन गिने-चुने निबन्धो के द्वारा ही, अपना अमर स्थान बना गये है।

'निराला' ने भी निबन्ध लिखे : कुछ सरल, कुछ कठिन। निबन्ध के क्षेत्र मे वे प्रसाद व शुक्ल का स्तर तो न पा सके, फिर भी व्यक्तित्व की छाप उनके निबन्धो मे अवश्य लक्षित हुई। कवित्व छूटा नही है वहां भी। उनके तीन-चार निबन्ध संग्रह प्रसिद्ध है।

महादेवी की भूमिकाये ही उनके निबन्ध कही जा सकती है। उन्हे ही 'महादेवी का विवेचनात्मक-गद्य' के रूप मे अलग से प्रकाशित कर दिया गया है। लाक्षणिकता, बिना बोझ बने, भाषा का कार्य किस तरह सरल कर देती है, यह बात महादेवी के हर गद्य' मे स्पष्ट हुई। उनके संस्मरणो की भाषा की भाँति स्पष्टता और सरलता यहाँ नही है, किन्तु बौद्धिकता को कवित्व के आवरण मे प्रस्तुत कर उन्होने विषय की जटिलता को पराजित कर ही दिया है।

'पन्त' अपने 'गद्यपथ' के चुने प्रसगों मे कुछ 'गम्भीर' हो गये है। यह 'सग्रह' भी उनकी भूमिकाओ का सकलन-मात्र है। निश्चय ही पन्त अन्य छायावादी कवियो से इस दृष्टि से भिन्न है, कि उनके गद्य मे अनावश्यक कठोरता एव बौद्धिकता का घटाटोप सा आ गया है। विषय की पूर्णता उनका लक्ष्य रहा है, और उसमे वे सफल भी रहे है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी और माखनलाल चतुर्वेदी अपने निबन्धों मे लाक्षणिक अधिक हो उठे है। कई बार वे दोनों गद्य मे ही कविता करने लगते है। चतुर्वेदी के गद्य मे व्यजना का पुट भी आश्चर्य का रहता है। उनकी कविता की भाति उनके गद्य मे भी यदि कही उर्दू के शब्द आ गये है, तो वे अखरने वाले नही रहे हैं। द्विवेदी की समीक्षा की मिठास, और चतुर्वेदी की मौलिक विषय-नियोजना उन दोनो को अन्य-व्यतिरिक्त सिद्ध करती है।

इन सबके अतिरिक्त भी इस युग के कुछ अन्य निबन्धकार है। उनमे से बहुत से अबतक लिखते आ रहे हैं। उन्हे हम पृथक्-पृथक् वर्गों मे बाँट सकते हैं। प्रथम वर्ग उन पुराने महारथियो का है, जिन्हे विषय की विशेषता के कारण महत्त्व प्राप्त है, शैली के कारण नही: राहुल साकृत्यायन, भगवान दास केला, गोविन्दनारायण शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मुशी प्रेमचन्द आदि। इन लेखको मे से कुछ ने इसी समय लिखना आरम्भ किया, कुछ ने प्रथम चरण मे। किन्तु, शैलीगत वैशिष्ट्य की अपेक्षा नवीन विषयो की संयोजना की ओर ही उनका ध्यान रहा। इसी के सूचना-परक एव शिक्षात्मक निबन्धो को लिखने की प्रथम प्रेरणा स्वयं द्विवेदी जी से मिली थी। द्विवेदी जी ने जीवनी, आलोचना, भूगोल, विज्ञान, ज्योतिष, इतिहास, आदि सभी विषयो को निबन्धो के माध्यम से अभिव्यक्ति दी थी।

एक दूसरा वर्ग है पत्रकार-लेखको का। इन्द्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार, कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, लक्ष्मणनारायण 'गर्दे', बाबूराव विष्णुराव 'पराडकर', आदि, जिनके निबन्ध स्वतन्त्र व्यक्तित्व न लेकर, लेखों के रूप मे ही लिखे गये है। उनके ऐसे निबन्ध बहुधा सामयिक रहे हैं, इसीलिए वे स्थायी मूल्य नही ग्रहण कर पाये। कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने निबन्धो की कुछ स्वतन्त्र पुस्तके भी लिखी हैं। इन सभी लेखको की शैली में श्यामसुन्दरदास की सी उदारता व व्याख्यात्मकता स्पष्ट प्रतीत होती है।

एक अन्य वर्ग है विचारक विद्वानो का, जिनकी विद्वत्ता की व उनकी अनुसन्धान-परक चेतना की स्पष्ट प्रतिच्छाया उनके निबन्धो पर देखी जा सकती है। धीरेन्द्र वर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, वासुदेवशरण अग्रवाल, बलदेव उपाध्याय, आदि इसी वर्ग मे आते हैं। इनके निबन्धों मे सूचना व विषय चेतना की प्रधानता रहती है। शैली अपेक्षाकृत 'दुरूह' बन जाती है।

इसके विपरीत हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र के व्यक्तित्व है, जिनकी शैली मे परस्पर विभेद होते हुवे भी एक ऐसी समानता है, जो उन्हे

उपर्युक्त वर्ग से पृथक् कर देती है। उनके निबन्ध भी अत्यन्त विद्वत्ताजन्य सूचना से युक्त होते हैं। उनके निबन्धो मे भी चिन्तन और मनन की छाया होती है। किन्तु उन दोनो की ही उपस्थापना शैली ऐसी है, जिससे पाठक को यह अनुभव नही होपाता कि वह एक कठिन विषय का सामना कर रहा है। इसके विपरीत, उसे ऐसा लगता है जैसे चुटकले के रूप मे ही उसने एक बडी बात प्राप्त कर ली हो।

इन दोनो के व्यक्तित्व मे अन्तर यह है कि नगेन्द्र जहाँ अपने निबन्धो मे अपने को स्पष्टता के साथ घुलने-मिलने नही देते, और पृथक् खड़े होकर उनका निर्देशन सा करते प्रतीत होते है, वहां हजारी प्रसाद द्विवेदी का हँसता चेहरा प्रत्येक लाइन में से झाँकता सा दिखाई देता है। वे अधिकार-पूर्ण निर्णय भी करते दिखाई देते हैं, परन्तु हँसकर। शुक्ल की सी कठोरता या गम्भीरता उनमे नही आ पाती। और, ऐसा करने के लिये इन दोनो ही लेखको को व्यंग्यात्मकता या लाक्षणिकता का आश्रय अधिक नही लेना पडा है। इन दोनो मे भी नगेन्द्र कही-कही अधिक शास्त्रीय हो उठते है, जबकि द्विवेदी जी शास्त्र को भी व्यक्तित्व के आवरण मे ढक लेते हैं। द्विवेदी जी की परम्परा मे लिखने वालो मे परशुराम चतुर्वेदी, दशरथ ओझा, वागीश्वर विद्यालंकार, रामरतन भटनागर, विनय मोहन शर्मा, आदि के नाम उल्लेखनीय है। नगेन्द्र जी की परम्परा मे भगीरथ मिश्र, ओमप्रकाश, भोलाशंकर व्यास, वासुदेव उपाध्याय, शचीरानी गुर्टू, आदि के नाम आते हैं।

इन दोनो व्यक्तित्वो के अतिरिक्त दो और भी निर्देशक व्यक्ति इस युग के है, जिनकी देखरेख मे और जिनके अनुकरण पर अब भी हिन्दी के अनेक निबन्ध लेखक बढ़ रहे हैं। ये दोनो व्यक्ति है : नन्ददुलारे वाजपेयी, एवं बाबू गुलाबराय। नन्ददुलारे वाजपेयी की शैली समयानुकूल सरल अथवा शास्त्रीय होती चली है। वे 'आचार्य' की गरिमा लेकर लेखन मे प्रवृत्त होते हैं, किन्तु पत्रकार की सहज प्रतिभा उनकी शैली को जनप्रिय एवं रोचक बना देती है। अनुसन्धान और नवचेतना उन्हे प्रिय है, परन्तु निर्णयात्मक प्रवृत्ति के रूप मे वे अपने व्यक्तित्व को वहा प्रकट नही होने देते। इसके विपरीत उनमे, नगेन्द्र के समान ही, अपने व्यक्तित्व को अलग रखने की प्रवृत्ति है। दूसरी ओर बाबू जी के निबन्धो मे 'आचार्य' रूप के दर्शन यदा-कदा ही होते है। कई बार उनके निबन्धो को पढकर लगता है कि वे केवल 'निबन्धकार' है; आचार्य, आलोचक, निर्णायक, उपदेष्टा या अनुसन्धित्सु नहीं।

यह बात उन्हे अन्य निबन्धकारो से पृथक् कर देती है। वे आलोचक के गुरुतर दायित्व, आचार्य की बोझिलता, निर्णायक की उग्रता, उपदेष्टा की गम्भीरता, एव अनुसन्धित्सु की सी खोज-बीन की प्रवृति से बचे रहते है। पत्रकार की चेतना के समान वे हर बात को स्पष्ट करने का उद्देश्य लेकर भी नही चलते। उनका उद्देश्य होता है किसी भी विषय को उसी के माध्यम से स्पष्ट कर देना ! स्पष्ट ही वे व्याख्यात्मक शैली के उपस्थापक हैं। विषय से बाहर जाने, या उदाहरणों द्वारा समझाने की उनकी प्रवृत्ति नही। शास्त्रीय युक्तिजाल मे वे उलझते नही। शब्दराशि की सरलता के कारण अनावश्यक जटिलता वहां आती नही। अनुसन्धान योग्य विषयो को वे कम ही स्पर्श करते हैं। उनका उद्देश्य किसी विषय-विशेष को पाठक के सम्मुख उपस्थित कर देना भर होता है। उसकी हर बारीकी को समझाने या विश्लेषण करने का ठेका लेकर वे नही बढ़ते। विषय की इस सीमितता की प्रवृत्ति ने उन्हे 'निबन्धकार' का एक पृथक् व्यक्तित्त्व ही नही दिया है, बल्कि उन्हें वर्त्तमान युग मे अनुकर्त्ताओ का एक बडा वर्ग भी दे दिया है। सत्येन्द्र, रामकुमार वर्मा, गोपीनाथ तिवारी, चन्द्रबली पाण्डेय, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', कन्हैयालाल 'सहल', जयनाथ नलिन, शिवकुमार मिश्र, भोलानाथ तिवारी, गणपतिचन्द्र, सुरेशचन्द्र गुप्त, आदि का नाम इसी वर्ग के अनुकर्त्ताओ मे आता है।

'यथार्थयुग' मे उपरोक्त लेखक लिखते ही रहे हैं। किन्तु, व्यक्तित्त्व एवं शैली की नवीनता को लिये हुवे कुछ नवीन लेखकों का प्रदुर्भाव भी हुवा है। इन लेखको को आयु की दृष्टि से व शैली की दृष्टि से भी 'आधुनिक' समझना चाहिये। इनके उत्थान मे विविध साहित्यिक पत्रिकाओ ने योगदान दिया है। इन लेखको के कई वर्ग है।

प्रथम वर्ग को हम **प्रगतिशील** लेखको का वर्ग कह सकते है। इनमें रामविलास शर्मा, स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, जगदीश गुप्त, शिवदानसिह चौहान, प्रभाकर माचवे, रागेय राघव, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, धर्मवीर भारती, आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। सैद्धान्तिक मतवाद के प्रति आग्रह माचवे मे कम है। अन्य लेखकों मे वह पर्याप्त अंश मे है। शैली सभी की वस्तुपरक रही है। इन सबने ही निबन्ध को, शुक्ल की ही भाँति, **अपनी बात** कहने का माध्यम बनाया है।

जैनेंद्र, अज्ञेय, और इलाचन्द्र जोशी जैसे बौद्धिक-चेतना-प्रधान निबन्ध लेखको का पृथक् अस्तित्व है। ये तीनो ही महारथी अपने-अपने व्यक्तित्त्व

को, अपने निबन्धो मे. स्पष्टतः वहन करते हुवे चले हैं। जैनेन्द्र में बौद्धिकता का आवरण भी है, किन्तु छायावाद की लाक्षणिक शैली भी ! अज्ञेय मे विद्वत्ता भी है, गहराई भी है और निर्णायक की चेतना भी ! इलाचन्द्र जोशी मे वक्तव्य-विषय के प्रति कुछ लगाव या मोह की भावना है, और उसकी सतर्क अभिव्यक्ति का जोश भी। तीनों का ध्येय निबन्ध लिखना नही है। ऐसा उन्होने किसी विशिष्ट बात को कहने के लिये ही किया है। जैनेन्द्र ने अधिक निबन्ध लिखे है। दार्शनिक की प्रतिभा और साहित्यकार की लेखनी ने राजनीति, धर्म, सस्कृति, एवं साहित्य आदि सभी प्रमुख विषयों पर लेखनी चलाई है।

इन वर्गों के अतिरिक्त सम्पूर्णानन्द, रामधारीसिह दिनकर, सेठ गोविन्ददास जैसे राजनीति-प्राण लेखको का भी एक बडा दल है, जिसके पास 'राजनीति' के अतिरिक्त भी कहने को बहुत कुछ है। साहित्य एवं सस्कृति पर इन सभी ने अपनी मजी हुई लेखनी चलाई है। 'दिनकर' का व्यक्तित्त्व, अपनी सम्पूर्ण ध्वन्यात्मकता के साथ, उनके निबन्धो में व्यक्त हुवा है। शेष दोनों लेखको के निबन्धो मे गाम्भीर्य, चिन्तन एवं विद्वत्ता की छाप स्पष्ट हुई है।

इसके अतिरिक्त निबन्धकारो की एक बडी श्रेणी बच जाती है, जिन्होंने यात्रा, सस्मरण, रेखाचित्र, हास्यात्मक-निबन्ध, आदि के रूप मे बहुत सी सामग्री प्रस्तुत की है। यह सभी सामग्री मननीय है। इनमे से अधिकांश का यथास्थान वर्णन हुवा है। हास्य-मिश्रित निबन्धो का व्यक्तित्त्व भी वर्तमान समय में पथक् ही हो गया है। ससारचन्द, देवराज 'दिनेश' जैसे अनेकों लेखक इस दिशा में सिद्धहस्त है।

अनुसन्धान और शोधकार्य की बढती के साथ-साथ निबन्ध-साहित्य का आकार-प्रकार भी बढता जा रहा है। जयनाथ 'नलिन' के नवीनतम प्रकाशन 'चिन्तन और कला' ने निबन्धो की चिर-नवीन सामर्थ्य को फिर से सामने ला दिया है। **निबन्ध ही साहित्य की एकमात्र विधा है, जिसमें डाली पुरानी शराब हर बार नयी हो उठती है। और, नयी शराब अपनी मस्ती को कुछ और बढ़ा लेती है : यदि लेखक सशक्त हो।**

जीवनी

हिन्दी मे जीवनी-लेखन की परम्परा नई नही है। निश्चय ही जीवनी सम्बन्धी साहित्य पहले भी लिखा जाता रहा है। फिर भी आज जिस रूप मे जीवनियाँ लिखी जा रही है, वह ढग नया ही है। उस सम्बन्ध मे पाश्चात्य लेखको का प्रभाव अधिकांशतः उत्तरदायी रहा है।

एक बात हमे स्पष्ट समझ लेनी चाहिये। भारतीय लेखक ने, विशेषकर संस्कृत साहित्य के लेखक ने, कभी भी किसी व्यक्ति-विशेष की जीवनी को वर्त्तमान 'जीवनी' के रूप मे न लिखा था। यूँ, हमारे यहाँ महाकाव्यों, नाटकों, या काव्यों की अधिकांश परम्परा ही किसी न किसी यथार्थ जीवनी का आधार लेकर चली है। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, हनूमान्, महावीर जिन, बुद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, आदि की जीवनियाँ हमे इन्ही रूपो मे मिलती हैं। गद्यात्मक जीवनियो की दृष्टि से बाणभट्ट की 'हर्ष-चरित' अपने ढंग की अनूठी रचना है। परन्तु इस सब का वर्त्तमान 'जीवनी' से स्पष्टतम अन्तर यह है कि इनमे कवि जीवन के यथार्थ को भी कवि-दृष्टि से ही देखता और प्रस्तुत करता था। कहीं उससे भक्ति-भावना या श्रद्धा का पुट भी मिल गया, तो जीवनी मे प्रशस्ति की मात्रा बढ जाती थी। सच तो यह है कि कवि ने कभी भी 'जीवनी' को 'साहित्य' या काव्य से भिन्न विधा न समझा था, यद्यपि संस्कृत के जीवनी-लेखक की दृष्टि भी उतनी ही विशाल व व्यापक रही थी।

हिन्दी साहित्य का आरम्भ भी ऐसे जीवनी-परक काव्यो से ही हुवा। हिन्दी को यह परम्परा जैन चरित-काव्यो से मिली। किन्तु 'रासो'-ग्रन्थो मे कवित्व की मात्रा इतनी बढ गई कि 'जीवनी' का ऐतिहासिक पक्ष उसमे गुम-सा हो गया। कवि की प्रशसात्मक दृष्टि ने जीवन के विस्तार को ढक दिया।

तब आई मध्ययुग की जीवनियाँ! इनमे दो प्रकार की जीवनियाँ थी: एक ओर सन्तो के चरित्र, और दूसरी ओर राजाओ के चरित्र! सन्तो के चरित्रो के भी दो वर्ग है। प्रथम वर्ग है उन पद्यात्मक जीवन-चरितो का, जिन्हे सम्प्रदाय-सम्पादक सन्तो की स्मृति को चिरस्थायी करने के लिये लिखा गया।

इस प्रकार के चरितो में सन्तो के जीवन पर वहुत अधिक अलौकिकता का आरोप कर दिया गया। वे वहाँ 'मानव' की अपेक्षा 'अवतार' दीखने लगते हैं। दूसरी जीवनियाँ किसी एक व्यक्ति विशेष की न होकर सग्रहात्मक है। इनमे अनेक सन्तों का चरित्र कुछ गिने-चुने पद्यो मे ही दे दिया गया है। इसमें सन्त के जीवन का साकेतिक परिचय मात्र ही आ पाता है, अधिक नही। कई बार इन पद्यों मे भी भगवद्भक्ति का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिये अतिरजना से काम लिया जाता है। पहली कोटि के चरितो मे 'मूल गोसाई चरित', एवं कवीरदास व गोरखनाथ आदि की सम्प्रदायानुकूल जीवनियाँ सम्मिलित होती है। दूसरी कोटि की रचनाओ मे "भक्तमाल", "चौरासी वैष्णवन की वार्ता", "दो सौ बावन वैष्णवन ही वार्ता" आदि समवेत होती हैं। इनके अतिरिक्त राज-प्रशस्ति-परक जीवनियो के लेखक प्राय. लौकिक-भावापन्न रीति-कवि रहे है। उन्होने अपने स्वामी के प्रसाद-लाभ के हेतु ऐसी जीवनियो को लिखा। आचार्य केशव से लेकर प्राय परवर्ती अधिकाश रीति कवियो ने ऐसी प्रशस्ति-परक रचनायें लिखी है।

आधुनिक जीवनी की श्रीगणेश भारतेन्दु के तद्विषयक लेखो से होता है। किन्तु इस प्रकार के जीवनी-लेखन को स्थायिता मिली मिश्रबन्धुओ के प्रयत्नो से, जिन्होने सबसे पूर्व 'हिन्दी-नवरत्न' लिखकर इस अभाव को पूरा किया। भारतेन्दु और उनके साथियो मे से अनेको के जीवनी-परक व्यग्यात्मक लेखो का महत्त्व कम न आँका जाना चाहिये। इसके बाद तो बाबू श्यामसुन्दरदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आदि ने प्रत्यक्ष परिचय वाली यथार्थवादी जीवनियाँ लिखनी आरम्भ की। इस प्रकार की जीवनियाँ प्राचीन महापुरुषो, सन्तो, कवियो, प्रसिद्ध राजाओ, आदि सभी की लिखी गई। परन्तु इन जीवनियो को कवियो के जीवन का इतिहास मात्र कहा जा सकता है। 'जीवनी' के विषय मे यह स्मर्त्तव्य है कि उसे यदि साहित्यिक-विधाओ के अन्तर्गत लाना है, तो उसके उपस्थापन मे साहित्यिक-अभिव्यक्ति नितान्त आवश्यक है। केवल तथ्यो के संग्रहमात्र से वह जीवनी न बन जायेगी।

जीवनी और इतिहास मे यह अन्तर है कि जीवनी हमे किसी व्यक्ति के जीवन के उन पक्षो से परिचित कराती है, जिन्हे इतिहास छूता भी नही। ये पक्ष व्यक्तिगत भी हो सकते है, समष्टिगत भी। किन्तु, इनके बिना किसी व्यक्ति का 'जीवन' अधूरा है। इन्हे जाने बिना श्रोता या पाठक उस व्यक्ति के निकट सम्पर्क मे अपने को अनुभव नही कर सकता। जीवन के इन

रहस्योद्घाटक तथ्यों का निकटता व सहानुभूति के साथ चित्रण ही 'जीवनी' की श्रेष्ठता की परख बनता है।

'जीवनी' रेखाचित्र से भी भिन्न है, और सस्मरण से भी। 'रेखाचित्र' हमे अधिकाशत: व्यक्ति के बहिरंग से परिचय कराता है। फिर, उसमे विस्तार की अपेक्षा बिखरे 'सूत्रो' के द्वारा ही सब कुछ कह दिया जाता है। वह अधिक लाक्षणिक होता है। 'संस्मरण' एकागी होता है। उसमे लेखक का 'निजीपन' प्रधान रहता है। व्यक्ति-जीवन के जिन अगों से लेखक अत्यधिक प्रभावित रहा हो, 'सस्मरण' मे वह केवल उन्हे ही गृहीत करता है।

किन्तु 'जीवनी' इन सबसे भिन्न है। वह केवल ब्यौरेवार वर्णन भी नहीं है। उसमे केवल सूत्रात्मक कथा-सकेतो का समावेश भी नही है। न ही उसमें लेखक के निजी व्यक्तित्व एव उसकी निजी अनुभूति को प्रत्यक्ष मे आने की खुली छूट है। **जीवनी है : जीवनी का साहित्यिक उपस्थापन, जिसमें तिथि-क्रममय इतिहास की अपेक्षा किसी व्यक्तित्व का अन्तरंग और बहिरंग अपने सम्पूर्ण परिपार्श्व में चित्रित हो उठे। लेखक अनुभव करे कि वह किसी परिचित जीवन का विश्लेषण कर रहा है, और पाठक अनुभव करे कि वह किसी तटस्थ-चित्रण का पर्यालोचन कर रहा है।**

इस प्रकार का जीवनी साहित्य निश्चय ही हिन्दी मे कम है। आज हिन्दी के जीवनी-साहित्य का भण्डार अखूट भर जाने पर भी उसमें लेखक द्वारा तटस्थ रहकर सहानुभूति और समानुभूति द्वारा जीवन की प्रत्यक्ष उपस्थापिका जीवनियाँ कम ही लिखी गई दीखती हैं। इस दृष्टि से जिन गुने-चुने लेखको के नाम लिये जा सकते हैं, उनमे रामनाथलाल 'सुमन', सत्यदेव विद्यालकार, इन्द्र विद्यावाचस्पति, राहुल सांकृत्ययान, आदि का नाम प्रमुख रूप मे लिया जा सकता है। रामनाथलाल 'सुमन' द्वारा लिखित 'हमारे राष्ट्र-निर्माता' को बहुत दिनो तक हिन्दी का एकमात्र आदर्श-जीवनी ग्रन्थ कहलाने का अधिकार रहा है। परन्तु इसमे लघु-जीवनियाँ संकलित थी। बाद मे उन्होने स्वतन्त्र जीवनिया भी लिखी। इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा स्वामी दयानन्द, वीर गैरीबाल्डी, स्वामी श्रद्धानन्द, आदि की जीवनियाँ तटस्थतामय सहानुभूति के द्वारा प्रस्तुत की गई। 'मेरे पिता' के रूप मे अपने जनक स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी प्रस्तुत करते हुवे उन्होने एक कठिन उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। उनकी शैली आदर्श जीवनी की रही है। 'राष्ट्रवादी दयानन्द' और 'स्वामी श्रद्धानन्द' के यशस्वी लेखक सत्यदेव विद्यालंकर ने बाद में चलकर राजा

महेन्द्रप्रताप, आदि देशभक्तों की जीवनियाँ भी लिखी। उनकी शैली मे प्रवाह एवं ओज दोनो ही मिलते हैं। राहुल जी की लेखनी सभी क्षेत्रो मे चली है। 'स्तालिन', 'लेनिन', आदि कम्यूनिस्ट नेताओ की जीवनी को उन्होने, एक कम्यूनिस्ट प्रशसक की भाँति न लिखकर, साहित्यकार की भाँति लिखा है। स्वयं उसी विचारधारा के होने के कारण कुछ न कुछ व्याघात उनकी तटस्थता में आना अवश्यम्भावी था। लेखक के भी शताधिक जीवनी-परक लेख, एवं 'आचार्य कृपलानी' नामक पुस्तिका इसी दिशा मे स्थान पा चुके है।

इनके अतिरिक्त क्षेमचन्द्र सुमन, आनन्द प्रकाश जैन, सुखदेव, उमेशमिश्र, अयोध्याप्रसाद, सत्यकाम विद्यालंकार, प्राणनाथ, विश्वनाथ, आदि द्वारा लिखित सैकडों जीवनियां अब तक प्रकाश मे आ चुकी हैं। कुछ उपदेश-प्रधान जीवनियाँ भी सामने आई है। इनमे से अधिकाश का ध्येय मध्यम श्रेणी के पाठकों या नव-साक्षरो के लिये उपादेय सामग्री प्रस्तुत करना है। जीवनी के मार्मिक तथ्यों के उद्घाटन मे जाने का लेखको को कम अवकाश रहा है।

एक और वर्ग हिन्दी के जीवनी-साहित्य का है—**अनूदित जीवनियाँ** ! पिछले कुछ वर्षों मे मराठी, बगला, अंग्रेजी, फ्रैंन्च आदि देशी-विदेशी भाषाओ से अनेकों जीवनियाँ अनूदित होकर हिन्दी मे आई है। उन सबसे हिन्दी साहित्य को निश्चय ही समृद्धि मिली है। इनमे प्राय. महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, आदि वर्तमान नेताओ की जीवन-गाथाओ पर ही अधिक बल दिया गया है। इधर हिन्दी के साहित्यकारों के परिचयात्मक ग्रन्थ भी प्रकाश मे आ रहे है। इनमे जीवनी-तत्व कम और साहित्यिक-विवेचन अधिक रहता है।

निश्चय ही अभी इस क्षेत्र मे प्रगति की पर्याप्त सम्भावनाये हैं।

आत्मकथा

किसी भी लेखक की वास्तविक कसौटी 'आत्मकथा' है। दुर्भाग्य से भारत के प्राचीन साहित्य मे यह परम्परा अविज्ञात ही रही है। हमारे यहाँ लेखक ने कभी भी अपने वंश परिचय के अतिरिक्त अपने विषय मे अधिक नही कहा। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के प्रथम तीन उच्छ्वासो मे आये आत्मकथात्मक प्रसंग के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य मे वैसा एक भी प्रयास नही दिखाई देता। इसका अर्थ यह नही कि लेखकगण इस विधा से अपरिचित थे। सत्य यह है कि वे इसे एक आत्म-विज्ञापन-मात्र समझते थे। उनकी दृष्टि मे इस प्रकार के आत्म-विज्ञापन से अधिक घृणित कार्य साहित्यकार के लिये दूसरा न था। इसके विपरीत भारतीय साहित्यकार नम्रतावश अपने को तुच्छ बताकर ही चलता रहा है। बहुत हुवा तो अपनी पटुता का संकेत भर दे दिया। ऐसा प्राय: नाटकादि मे लेखक के रूप मे अपना सांकेतिक परिचय देते हुवे हुवा है।

सत्य यह भी है कि भारतीय कलाकार जानता था कि 'आत्मकथा' कहने के लिये आत्म-गर्हा को सहने की जो अपारशक्ति एवं असीम आत्मिक बल चाहिये, वह हर लेखक मे सम्भव नही। जीवनी और आत्मकथा मे केवल यही अन्तर नही है कि 'जीवनी' दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखी जाती है, और 'आत्मकथा' स्वयं अपने द्वारा लिखी जाती है। उन दोनो मे सबसे बडा अन्तर यह है कि जीवनी लेखक अपने ध्येय के सब पहलुवो से उस पूर्णता के साथ परिचित नहीं होता, जितना आत्मकथा-लेखक। यही से आत्मकथा-लेखक का महत्त्व सूचित होता है। उसे अपने जीवन के गुण-दोषो से साक्षात् परिचय ही नही होता, बल्कि उनकी अन्तर्हित सत्यता का भी ज्ञान होता है। परन्तु उस सब को निष्पक्ष और तटस्थ-रूप मे प्रस्तुत करने की सामर्थ्य सर्व-सुलभ नही होती। संस्कृत साहित्य मे बाण ही एकमात्र ऐसा साहस व बल-सम्पन्न लेखक है, जिसने अपनी लघुतर आत्मकथा मे अपनी विकृतियो को भी स्पष्टत: उद्घाटित करने मे संकोच नही किया है।

हिन्दी मे यह विधा बहुत आधुनिक है। फिर भी इतिहासात्मक आत्मकथा के रूप मे हमे सम्प्रति सर्वप्रथम कृति स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित, कुछ पृष्ठो के, 'आत्मचरित' के रूप मे मिलती है। इस के वाद भारतेन्दु द्वारा लिखे आत्मकथात्मक संस्मरण मिलते हैं। इनमे से भारतेन्दु के सस्मरण अधिक साहित्यिक है। तब महावीरप्रसाद द्विवेदी, वाबू श्यामसुन्दरदास आदि के लिखित सम्मरणो का स्थान आता है। यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि 'संस्मरण' मे आत्म-परिचय की अपेक्षा अपने परिवेश का परिचय अधिक रहता है। किन्तु 'आत्मकथा' मे व्यक्ति को अपना अन्तः-निरीक्षण करना होता है। इस प्रकार की 'आत्मकथा' का सर्वप्रथम उदाहरण हमारे सामने स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखित 'कल्याणमार्ग का पथिक' आता है। इसमे गुण-दोप विवेचन के प्रति लेखक ने तटस्थता से कार्य लिया है।

दक्षिण अफ्रीका से लौटने के वाद स्वामी भवानी दयाल सन्यासी ने, तथा उमसे पूर्व अमरीका से लौटे श्री सत्यदेव परिव्राजक ने, अपनी-अपनी आत्मकथाये लिखी। दोनो की शैली रोचक थी। दोनो मे ही राजनीति और समाज के चित्रण को प्रमुखता मिली है। दोनो ने ही यात्रात्मक उल्लेख किये है। राहुल जी के इस प्रकार के लेख और निबन्ध 'आत्मकथा' का रूप धारण नही कर पाये। वियोगी हरि एव हरिभाऊ उपाध्याय ने अपने जीवनो का तटस्थ पर्यालोचन प्रस्तुत किया।

हिन्दी के आत्मकथा-साहित्य पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे अग्रेजी मे लिखित जिन दो आत्मकथाओं से सर्वाधिक प्रभाव पडा है, वे है महात्मा गाँधी एव जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथायें। दोनो का हिन्दी अनुवाद होने पर हिन्दी-साहित्य समृद्ध ही नही हुवा, बल्कि भारतीय लेखक के सम्मुख आत्मकथा लिखने की दो शैलिया स्पष्ट हो गई। एक ओर गाँधी जी की शैली है, जिस मे समाज के परिपार्श्व के बीच भी उनका 'व्यक्ति' प्रधान रहा है। वे अपने गुणों के अतिरिक्त अपने दोषो के उद्घाटन के प्रति भी अत्यन्त सतर्क एव सावधान रहे है। दूसरी ओर, जवाहरलाल नेहरू अपने परिपार्श्व मे इतना खो गये हैं, कि कई बार उनका व्यक्ति ढूँढे भी नही मिलता। अपने व अपने पारिवारिक जनो के दोषो के प्रति भी वे इतने सचेत नही रहे हैं। ऐसा जान-वूझकर नही हुवा है। परिपार्श्व को पूरी तरह चित्रण करने की व्यग्रता मे ही ऐसा हो गया है। फिर भी भावावेश के क्षणो को, एक चतुर लेखक की भाँति, चुनने व व्यक्त करने मे वे अधिक सफल रहे है। उनकी चित्रण-सामर्थ्य

भी आश्चर्यजनक है। डा० राजेन्द्रप्रसाद की 'मेरी आत्मकथा' को भी हिन्दी मे अत्यधिक सम्मान मिला है।

हिन्दी-लेखको मे बाबू गुलाबराय की 'जीवन की असफलतायें' अधिक लोकप्रिय हुई है। बाबू जी अपने सरल व्यक्तित्व की भाति अपने जीवन की अभिव्यक्ति मे भी सरल व निष्पक्ष रहे है। देवेन्द्र 'सत्यार्थी' तथा अन्य कुछ लेखको के नाम भी इस विषय मे स्मरणीय है।

एक अनोखा प्रयास डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र मे किया है, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर। 'हर्षचरित' के पहले तीन अंको मे हर्ष ने अपना आत्म-चरित जिस शैली मे प्रस्तुत किया है, उसी शैली मे उसके आत्म-चरित को हिन्दी मे प्रस्तुत करने और अवशिष्ट अंश को पूरा करने का भार द्विवेदी जी ने अपने ऊपर लिया। यही एकमात्र ऐसी आत्मकथा है जो किसी दूसरे व्यक्ति ने किसी दूसरे के लिये लिखी है। परन्तु इसमे भी मौलिकता का सा स्वाद आ गया है।

इन्द्र विद्यावाचस्पति एवं सत्यदेव विद्यालकार के संस्मरणात्मक लेखो को 'आत्मकथा' की कोटि मे लेना उचित नही। उनमें 'संस्मरणो पर ही अधिक बल है। आत्म-जीवनी का निष्पक्ष विवेचन वहाँ नही हो पाया है। अब तो आत्मकथा लिखने की बाढ सी आ गई है। हर राजनैतिक नेता अपनी आत्मकथा छपवाने लगा है।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये आत्मकथात्मक प्रयासो मे रघुवीरसिंह के 'शेष स्मृति', एव महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' एव 'शृखला की कडियाँ', आदि को भी अन्तर्गृहीत नही किया जा सकता, क्योकि उनमे 'व्यक्तित्व' का विवेचन कम और परिपार्श्व का वर्णन अधिक है। उन्हे ससमरण कहना ही अधिक उचित है। नवीनतम प्रयासो मे सेठ गोविन्ददास की कृतियाँ मुख्य है।

हिन्दी मे इस विधा के पनपने की आशा की जानी चाहिये।

दैनिकी लेखन

'दैनिकी' या 'डायरी' का लेखन बडे लोगों का एक गुण माना जाता है। जीवन की अत्यधिक व्यस्तताओ मे से समय निकालकर जीवन पर विचार व उसके विश्लेषण का यत्न करना स्वयं अपने लिये अत्यन्त लाभप्रद होता है। बड़े-बडे नेताओ ने जीवन की घटनाओ का ऐसा क्रमबद्ध इतिहास प्रायः ही अपने पास रख छोडा है। ऐसे साहित्य के अचानक प्रकाश मे आने से उस व्यक्तित्व की आन्तरिकता पर एक नया प्रकाश पडता है। इस प्रकार के साहित्य से जहाँ हमे अनेक घटनाओ के सम्बन्ध मे फैली भ्रान्तियो की असत्यता या सत्यता का परिचय होता है, वहाँ हम लेखक के व्यक्ति जीवन एव उसकी विचारधारा के निकटतम सम्पर्क मे आ सकते हैं।

किन्तु आजकल साहित्यिक-डायरी के नाम पर बनावटी डायरियो का लिखा जाना भी आरम्भ हो गया है। स्वभावत. ऐसी 'डायरियाँ' व्यक्ति, घटना घटने की प्रतिक्रिया के क्षण मे न लिखकर, पर्याप्त वाद मे लिखता है, जिसका परिणाम होता है कि वैयक्तिक अनुभूति और आन्तरिकता का उसमे अभाव हो जाता है। जब तक व्यक्ति स्वय किसी विशिष्ट प्रभाव मे आकर कुछ न लिखे, उसके लेखन मे ऐसी कृत्रिमता का समावेश हो जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि नरदेव शास्त्री, घनश्यामदास बिडला, आदि द्वारा लिखित दैनिकी-साहित्य जैसी आत्मीयता, वारीकी व आन्तरिकता अन्यत्र नही पाई जाती। डायरी या दैनिकी 'सस्मरण' से सर्वथा भिन्न है उसमे घटना का अकन भी होता है, और अपनी प्रतिक्रिया भी; किन्तु विस्तार का वहाँ अभाव रहता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को विस्तृत रूप मे प्रस्तुत करने की अपेक्षा, विस्तृत से विस्तृत बात को संक्षिप्ततम रूप मे प्रस्तुत करने मे ही लेखक का गौरव माना जाता है। उपर्युक्त दोनो लेखक इस दृष्टि से कुशल है।

हिन्दी मे इस साहित्य का श्री गणेश करने का गौरव नरदेव शास्त्री को ही प्राप्त है। किन्तु उनसे पूर्व टाल्स्टाय की 'डायरी' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। उसके बाद भी विभाषीय दैनिकी-साहित्य मे से महादेव

भाई की गुजराती दैनिकी, एव एलेन कैम्पवेल की अंग्रेजी में लिखित डायरी के अनुवाद भी अधिक लोकप्रिय हुवे हैं। 'रावी' की 'बुकसेलर की डायरी' साहित्यिक कोटि की रचना है। उसमे एक जीवन का क्रम-बद्ध उत्थान-पतनमय वर्णन है। ऐसी प्रक्रिया 'दैनिकी-लेखन' की मूल धारणा के विपरीत जा पडती है। 'दैनिकी' मे दैनिक-घटनाओ के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त रहती है। दैनिक घटनायें निश्चित नही कि एक ही दिशा मे घटें। उनमे विविधता का समावेश रहता है। उनकी बिखरी-बिखरी सन्नियोजना मे भी कुछ न कुछ बिखरा-बिखरापन होना ही चाहिये। इस दृष्टि से कृत्रिम एव साहित्यिक प्रयास होते हुवे भी इलाचन्द्र जोशी की 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ' अधिक सटीक उतरती है।

श्रीमती सुशीला नायर की गाँधी जी के सम्बन्ध मे, तथा निर्मला देशपाण्डे एवं दामोदरदास मूँदड़ा की विनोबा जी की पद यात्रा के सम्बन्ध में लिखी गई डायरियो मे अपने अनुभवो की अपेक्षा, वर्णनात्मक शैली मे तथ्यांकनमात्र ही दिया गया है।

डा० धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, जगदीश गुप्त, आदि ने भी इस दिशा मे अपना योगदान दिया है।

इस डायरी-शैली का उपयोग कहीं-कहीं कहानियो मे भी हुवा है।

पर, अभी यह सब प्रायोगिक अवस्था में है।

संस्मरण

'सस्मरण' भी हिन्दी-गद्य-साहित्य की एक नवीन विधा है। 'जीवनी' व 'आत्मकथा' से इसका अन्तर स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। इसमे व्यक्ति विचार या स्मरण की मुद्रा मे तो रहता है, किन्तु उसका वर्ण्य आत्म या अन्य विशिष्ट जीवन न होकर विशिष्ट घटना या विशिष्ट प्रभाव होते है। 'आत्मकथा' मे व्यक्ति आत्मनिष्ठ होकर विश्व पर दृष्टि डालता है। 'जीवनी' मे वह तटस्थ हो कर अन्य जीवन के परीक्षण मे जुटता हैं। किन्तु संस्मरण मे वह आत्मनिष्ठ होकर भी किसी ऐसी घटना या विशिष्ट प्रभाव के चिन्तन मे प्रवृत्त होता है, जिससे वह स्वय सम्बद्ध अवश्य रहता है, परन्तु फिर भी जो नितान्त निजी नही है। 'सस्मरण' मे घटना या प्रभाव के विवरण की पूर्णता व आन्तरिकता अपेक्षित होती है। लेखक की पर्यवेक्षण और पर्यालोचन शक्ति की परीक्षा उससे सम्भव हो पाती हैं। 'सस्मरण' आत्मकथा या जीवनी का अग बनकर आ सकता है, पर वह उन दोनो का स्थान नही ले सकता।

इस प्रकार के संस्मरण यात्रा सम्बन्धी भी हो सकते है, विशिष्ट घटना या प्रभाव सम्बन्धी भी। ये सस्मरण विशिष्ट क्षण-चेतना से आविष्ट भी हो सकते है, और सामान्य वर्णन मात्र भी। शिकार, भ्रमण, या इसी प्रकार की अन्य वृत्तियो के 'सस्मरण' भी लिखे जाते है। परन्तु, आधुनिकतम प्रवृत्ति के अनुरूप सस्मरण भी, कहानी के सदृश ही, क्षण-चित्रण की पूर्णता अपेक्षित रखता है। लेखक किसी विशिष्ट क्षण को परिपार्श्व की पूर्णता मे चित्रण करने मे जितना ही सफल हो पाता है, उसका 'संस्मरण' उतना ही ग्राह्य हो जाता है। परन्तु, इससे पहले के सस्मरणो मे 'वक्तव्य की पूर्णता' पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है।

'दैनिकी'-लेखन से भी यह 'संस्मरण' भिन्न है। 'दैनिकी' मे व्यक्ति किसी विशिष्ट घटना के प्रति अपनी प्रतिक्रिया, अपनी सूचना भर के लिये, व्यक्त करता है। वहाँ न तो 'पूर्णता' का ध्यान रहता है, न ही भूमिका का।

'रिपोर्ताज़' या 'सूचनांकन' से भी यह इस दृष्टि से भिन्न है कि उनमे लेखक का व्यक्तित्व उतना अधिक सनिहित नही रहता।

सौभाग्य से हिन्दी मे ऐसा साहित्य पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त है। इस क्षेत्र को सर्वाधिक योग स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, वनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल साकृत्यायन, एव श्रीराम शर्मा की ओर से मिला। यद्यपि अन्य अनेक लेखकों ने भी इस दिशा मे प्रयास किया है, फिर भी जो महत्त्व इन लेखकों को मिला है, वह अन्यों को नही मिल पाया है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के सस्मरण अमरीका तथा अन्य यात्राओ के सम्बन्ध मे हैं। वनारसीदास चतुर्वेदी के सस्मरण साहित्यिकारो एवं नेताओ के सम्बन्ध में है। राहुल साकृत्यायन को भी यात्रात्मक वृत्त लिखने मे कौशल प्राप्त है। श्रीराम शर्मा के संस्मरण 'शिकारो' के सम्बन्ध मे है। कभी वे इस क्षेत्र के एकाकी महारथी थे।

महादेवी वर्मा की 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखायें', एव 'शृंखला की कड़ियाँ' इसी वर्ग मे अन्तर्गृहीत होगी। उनमे कही-कही रेखाचित्र वहुत ही सुन्दर वन पडे है, किन्तु अन्ततः वे है संस्मरण ही। साहित्यिक लाक्षणिकता उनका मुख्य लक्षण है।

हेमचन्द्र 'जोशी' की 'फ्रास यात्रा और सस्मरण' को अधिक प्रसिद्धि मिली है। उसमे साहित्यिकता की पुट भी पर्याप्त है। श्रीनारायण चतुर्वेदी के संस्मरण विनोद की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट माने गये है। पद्मसिंह 'शर्मा' को भी इस दृष्टि से प्रसिद्धि प्राप्त थी। उनकी व्यंग्यात्मक और मुहावरेदार शैली अत्यधिक रोचक और आकर्षक मानी जाती थी। राजेन्द्रलाल 'हाण्डा' का 'दिल्ली मे दस वर्ष', एवं राधिकारमण प्रसाद सिंह के अनेक संस्मरणात्मक ग्रंथ इसी क्षेत्र की अन्य प्रतिमा-पूर्ण रचनायें हैं। शिकार-सम्बन्धी सस्मरणों मे विराज, हरिवंश वेदालंकार, एवं विधानिधि सिद्धान्तालकार के नाम अग्र-गण्य है। इनके अतिरिक्त सत्यदेव विद्यालकार, इन्द्र विद्यावाचस्पति, राम-गोपाल चतुर्वेदी, भगवतशरण उपाध्याय, आनन्द जैन, एव प्रभाकर माचवे के संस्मरण समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं।

पर, एक कमी अव तक भी अखरती है कि इन सवमे क्षण-चित्रण की वह सामर्थ्य पूर्ण प्रौढता तक नही पहुँच सकी है, जिसके विना आधुनिक सस्मरण अधूरा है। इसके लिये लेखक की कल्पनाशक्ति व स्मृतिशक्ति दोनो की अत्यधिक उर्वरता एवं सम्पन्नता आवश्यक है। अभिव्यक्ति मे सामर्थ्य तो होनी ही चाहिये।

रेखाचित्र

रेखाचित्रों की परम्परा को दण्डी और बाण की संस्कृत रचनाओ तथा भक्ति एव रीति के अनेक साहित्यकारों की कला-कृतियो मे यत्र-तत्र विकीर्ण पाया जा सकता है। 'चित्रमयता' रेखा-चित्रो की ऐसी विशेपता है, जिसके विना यह संज्ञा ही सार्थक नही कहला सकती। रेखाचित्र का लेखक चित्रकार से भी अधिक सूक्ष्म चेतना का धनी होना चाहिये। उसकी रचना सच्चे अर्थो मे कुछ विकीर्ण रेखाओ के अकन पर निर्भर करती है। उसकी दृष्टि से सनिवेश योग्य एक दो रेखाये चूकी नहीं, कि उसका चित्र अपूर्ण बन जायेगा। रगो के चयन की अपेक्षा उसका कमाल उन बिखरी रेखाओ के ठीक से प्रत्यंकन मे है।

तो, क्या 'रेखा-चित्र' केवल वाह्य परिवेश से ही सम्बन्ध रखते है? नही, उनका सम्वन्ध रेखाओ द्वारा चित्र बनाने वाले चित्रकार की भाँति एक सजीव व्यक्तित्वमय मूर्त्ति सम्मुख उपस्थित कर देने से है। स्मरण रखें कि 'व्यक्तित्व' के बिना कोई भी साहित्यिक चित्र अपूर्ण और अग्राह्य रहता है। व्यक्तित्व उन रेखाओं में से ही उभरता हुवा समाने आना चाहिये। उसका सन्निवेश अलग से नही होना चाहिये। अन्यथा उसे 'रेखाचित्र' कहना अनुचित होगा।

हिन्दी मे ऐसे रेखाचित्र सर्वप्रथम पद्मसिह शर्मा एव श्रीराम शर्मा ने लिखे। श्रीराम शर्मा की 'बोलती प्रतिमा' ऐसे ही चित्रो का सग्रह है। बनारसीदास चतुर्वेदी के 'रेखाचित्र और संस्मरण' ने साहित्य-जगत् मे उनका स्थान अक्षुण्ण कर दिया है।

इस पुराने टोले के साथ अनेक नये कलाकारो भी ने इस दिशा मे कार्य किया है। प्रकाश चन्द्र गुप्त की 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच' तथा 'रेखा-चित्र' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की 'भूले हुवे चेहरे' भी इस विषयक सुन्दर रचना है। इस दृष्टि से देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम मूर्धन्य है। उनकी 'रेखायें बोल उठी' सचमुच जीवन्त 'रेखाचित्रो' से परिचय कराती है।

प्रतीकात्मक रेखाचित्रकारो मे निराला, रामवृक्ष बेनीपुरी, एव माखन-लाल चतुर्वेदी के नाम सादर लिये जा सकते हैं। निराला की यह चित्रमयता उनकी आरम्भिक कविताओ मे भी देखी जा सकती है। 'कुल्ली भाट' और 'चतुरी चमार' मे वे सफल चित्रकार की भाँति उभरे हैं। बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब', तथा 'चतुर्वेदी' के निबन्ध-गत अनेक चित्र इसी अनेक प्रकार के हैं।

महादेवी वर्मा ने अपने तीनो सस्मरणात्मक सग्रहो मे अनेक ऐसे रेखाचित्र प्रस्तुत किये है, जो केवल सजीवता मे ही अप्रतिम नही है, बल्कि साहित्यिक, दृष्टि से भी उनका स्थान मूर्धन्य है।

व्यग्यात्मक रेखाचित्रो मे हर्षदेव मालवीय, एवं समस्या-चित्रो मे राहुल जी का स्थान मूर्धन्य है। इनके अतिरिक्त अपने साहित्य मे स्थान-स्थान पर रेखाचित्रो का आश्रय लेने वालो मे विष्णु प्रभाकर, उदय शंकर भट्ट, देवराज दिनेश, महावीर अधिकारी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'कपिल', आदि के नाम सादर लिये जा सकते है। 'कपिल' की कुछ कहानियाँ रेखा-चित्रों पर ही आधारित हैं। फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने कहानियो के साथ इस क्षेत्र मे भी अधिक ख्याति पाई है।

इस कला की पूर्णता साहित्य की हर विधा के लिये आवश्यक है। जीवनी, कहानी, कविता, आदि मे सर्वत्र इस प्रकार की सजगता से ही सप्राण चित्रो का सृजन सम्भव हो पाता है। परन्तु इसके लिये लेखक मे अनुभूति एव सर्वग्राहिता की वृत्ति होनी आवश्यक है। इसके साथ ही उसे शब्द-चयन मे भी अत्यन्त सिद्ध-हस्त होना चाहिये।

प्रत्यक्ष समीक्षण

समाचार-पत्र-सम्पादन मे 'इण्टरव्यू' का अत्यधिक महत्त्व है। किसी भी विषय पर व्यक्ति के विचार जानने का सीधा तरीका है, 'प्रत्यक्ष-समीक्षण'। इससे व्यक्ति के अन्तर्मानस का निरीक्षण शीघ्र ही हो जाता है। इसका बाहरी चरित्राकन से सीधा सम्बन्ध नही है। सस्मरण मे बाहरी-जीवन की झाँकी अधिक रहती है। इस दृष्टि से यह उससे भिन्न है। आजकल इसे भी साहित्यिक विधा के रूप मे परिणत कर दिया गया है। काल्पनिक 'इण्टरव्यू' या 'समीक्षण' भी लिखे जाने लगे है। इस प्रकार के 'इण्टरव्यू' मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध मे भी प्रकाशित किये जा रहे हैं। इसमे लेखक का अपना व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष रूप मे ही झलकता है। पर यह कहना भ्रामक है कि, 'उसके व्यक्तित्त्व का कोई महत्त्व नहीं होता'। प्रश्नकर्त्ता के रूप मे इण्टरव्यू करने वाले का ही दायित्त्व होता है, समीक्ष्यमाण व्यक्ति के अन्तर्मानस की झाकी लेने का! अतः लेखक की सतर्कता, प्रौढता, एव सूक्ष्मग्राहिणी शक्ति का भी परिचय उसी मे अन्तर्हित रहता है।

इस दिशा मे डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की 'मैं इनसे मिला' नामक रचना अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी है। इसके दो भाग हैं। इसमे उन्होने प्रसिद्धतम साहित्यकारो के साथ हुई अपनी भेटो का सजीव और रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। राजेन्द्र यादव द्वारा रूसी कथा लेखक चेखव से अपनी इण्टरव्यू भी अत्यन्त रोचकता के साथ प्रस्तुत की गई है।

पत्रकारिता के बढते युग मे इस विधा को धीरे-धीरे मुख्यता प्राप्त होती जा रही है। लक्ष्मीनारायण शर्मा, डा० रामचरण महेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, ख्वाजा अहमद अब्बास, आर० के० करजिया, आदि की साहित्यकारों एवं राजनीतिज्ञो से भेटे प्रकाशित होती ही रहती है। फतहचन्द्र शर्मा 'आराधक' ने भी पत्रकार एव साहित्यकार की दृष्टि से इस क्षेत्र मे अच्छा कार्य किया है।

अब तो काल्पनिक इण्टरव्यू भी बहुत सम्भलकर लिखे जाने लगे है।

यात्रा साहित्य

यात्रा साहित्य के रूप मे सस्कृत साहित्य मे कभी भी पृथक् रूप में कुछ न लिखा गया । फिर भी महाकाव्यों, खण्डकाव्यो, एव गद्य-रचनाओ मे इस प्रकार का विवरण कही प्रत्यक्ष रूप मे, और कही अप्रत्यक्ष रूप मे आ ही गया है । मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य मे भी यह प्रवृत्ति इसी रूप मे पाई जाती है । इन वर्णनो मे प्रकृति के उन्मुक्त चित्रण का ही वैशिष्ट्य है । यात्रा साहित्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य से पूर्ववर्त्ती युग के साहित्य मे वाणभट्ट के 'हर्षचरित' का स्थान मूर्धन्य है । उस ग्रन्थ के प्रथम तीन सर्गो मे वाण ने अपनी विभिन्न यात्राओ का विवरण जिस बारीकी एव पूर्णता के साथ दिया है, कदाचित् वह आज के लेखको के लिये भी अनुकरणीय है । वह चित्रण 'यथार्थवादी' न कहा जाकर प्रत्यक्ष और यथार्थ ही कहा जाना चाहिये ।

वास्तविकता यह है कि यात्रा-साहित्य लिखने वाले साहित्यकार की आँखें पूरे परिपार्श्व को देखने के लिये पूरी तरह खुली हुई होनी चाहियें । यात्रा-साहित्य का अर्थ यात्रा के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक विवरणमात्र जुटा देने भर से नही है । उसका अर्थ है लेखक द्वारा अनुभूत सत्यो को पाठक के सम्मुख उसी मूल रूप में सजीव उपस्थित कर देना । इसके लिये खुली आंखो के साथ ही अपूर्व वर्णन-कौशल भी अपेक्षित है । संक्षेप या विस्तार प्रसगानुकूल रह सकते है ।

परन्तु यात्रा-साहित्य का अन्त यही नही हो जाता । उसके लेखक को उस यात्रा मे अपने मन पर पडे प्रभावो अथवा प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति मे भी पूर्ण समर्थ होना चाहिये । यदि लेखक केवल विवरण और वर्णन तक ही अपने उत्तरदायित्व की इतिश्री समझ लेता है, तब वह सच्चे अर्थो मे 'साहित्य' का सृजन नही कर रहा होता । साहित्य है मानसिक प्रतिक्रियाओ और प्रभावो का प्रत्यकन । यदि लेखक उन्हे पूरी अभिव्यक्ति न दे पाया, तथा पाठक को उनका 'साधारणीकरण' द्वारा प्रत्यक्ष न करा सका, तो उसका लिखना व्यर्थ है ।

अत: यात्रा-साहित्य मे लेखक की आँखों के साथ-साथ उसकी चेतना की सजगता भी आवश्यक है ।

हिन्दी मे इस प्रकार के साहित्य-सर्जकों मे स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, महता जैमिनी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, आनन्द जैन, यशपाल जैन, सेठ गोविन्ददास, अक्षयकुमार जैन, विष्णुसहाय, आदि के नाम मुख्य हैं । इनके लिखित साहित्य मे सूचना व विवरण का महत्त्व होता ही है, किन्तु लेखक के मानस की प्रतिक्रिया भी अन्तर्हित रहती है ।

साहित्यिक परिमार्जन एव चित्राकन की दृष्टि से वेणी शुक्ल, गोपाल नेवटिया, भगवतशरण उपाध्याय, प्रभाकर माचवे, रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार एवं लेखक का अन्तर्ग्रहण किया जा सकता है । शैली की दृष्टि से उपाध्याय, बेनीपुरी, एव सिद्धान्तालकार को अधिक महत्त्व प्राप्त है ।

दूसरी ओर यात्रा को यात्रा न रखकर वहाँ भी जीवन-पर्यालोचना मे उतरने और उसे समझने का प्रयास करने वालो मे देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृताप्रीतम, जैनेन्द्र, रागेय राघव, सत्यनारायण, यशपाल, आदि के नाम मुख्यता से लिये जा सकते है । निश्चय ही ऐसे वर्णनो मे साहित्यिकता का सन्निवेश अधिक रहता है ।

दैनिकी-लेखन का प्रयोग इस क्षेत्र मे राहुलजी ने सफलता पूर्वक किया है । वीरेन्द्र वर्मा के 'योरुप के पत्र' मे यह यात्रा-विवरण पत्रात्मक रूप मे दिया गया है ।

इतनी समृद्धि के बाद भी इस साहित्य की श्रीवृद्धि की पर्याप्त सम्भावनायें हैं । इस प्रकार के साहित्य के प्रकाश मे आने के लिये प्रकाशको का सहयोग अपेक्षित है । केवल समाचार पत्रो के सहारे ही ऐसा साहित्य नही पनप सकता । उसे स्थायी रूप देने के लिये पुस्तकाकार साहित्य को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये ।

पत्र साहित्य

साहित्य के अन्य किसी भी अंग की भाँति पत्र भी लेखक के अन्तर्मन के विचित्र रहस्योद्घाटक होते हैं। लेखक का सच्चा स्वरूप बहुधा उसके पत्रों से ही सम्मुख आता है। किन्तु अभी हिन्दी मे पत्रो का यह महत्त्व कम ही स्वीकृत हुवा है।

जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुत्री इन्दिरा गाँधी को उसकी शैशवावस्था मे जो पत्र अंग्रेजी मे लिखे थे, उनका हिन्दी रूपान्तर बहुत पहले ही प्रकाश मे आ चुका था। उससे हिन्दी लेखको को पत्रो की उपयोगिता का पता चला। तब श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के अवसान के बाद 'द्विवेदी पत्रावली' का प्रकाशन हुवा। इन पत्रो से द्विवेदी के आचार्यत्वमय व्यक्तित्व को समझने मे पूरी-पूरी सहायता मिली। इसी बीच लाहौर से प० भगवद्दत्त ने स्वामी दयानन्द के पत्रो का एक संग्रह प्रकाशित कराया। इससे इतिहास की कुछ उलझनो एव कई अन्य समस्याओ पर प्रकाश पडा। बाद मे पं० हरिशंकर शर्मा ने स्वर्गीय पद्मसिंह के पत्रो का सम्पादन करके एक संग्रह प्रकाशित किया। अभी कुछ दिन पूर्व प० नेहरू को लिखे गये तथा उन द्वारा लिखे गये पत्रो का एक संग्रह अंग्रेज़ी मे प्रकाशित हुवा है। उसका हिन्दी अनुवाद भी सामने आया है। इसी प्रकार महात्मागाँधी के पत्र-साहित्य को भी प्रकाशन मिला है।

इससे व्यक्ति-मानस की गहराइयो का ही परिचय नही मिलता, बल्कि पाठक के मन को एक ही सत्य अनेक रूप मे विकीर्ण मिल जाता है।

पत्रो की शैली का प्रयोग साहित्य की अन्य कई विधाओ मे भी हुवा है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने कहानी लेखन मे, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने उपन्यास-लेखन मे, बालमुकुन्द गुप्त एव विश्मभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने व्यंग्यात्मक अभि-व्यक्ति मे इस शैली का सफल उपयोग किया है। कहानी और उपन्यास मे तो अब इसका यदा-कदा उपयोग होने भी लगा है। इस माध्यम से लेखक एक विस्तीर्ण बात को भी संक्षेप मे प्रस्तुत कर देता है।

रिपोर्ताज़ या सूचनांकन

रेडियो के साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश एव साहित्यकारो की रेडियो-विभाग द्वारा नियुक्ति ने साहित्य को जिन अन्य अनेक विधाओ से समृद्ध किया है, उनमे 'रिपोर्ताज' भी एक है। इसे 'सूचनिका' या 'सूचनाकन' भी कह सकते है। समाचार पत्रों की 'रिपोर्ट' या 'सूचना' से यह सीधे रूप मे तनिक भी सम्बद्ध नही होती. फिर भी उसी आधार को लेकर आगे बढती है। इसे कुछ लोगो ने नाटकीय विधा के अन्तर्गत स्वीकार किया है। किन्तु नाटकीय तत्व के समावेश के बाद भी यह 'अभिनेय' नही है। एक वक्ता किसी विशेष सूचना को नाटकीय ढग से, गद्य या पद्य के माध्यम से, प्रस्तुत करता है। इसके लिये उसे ही विविध स्वर-लहरियो के प्रयोग की स्वतन्त्रता रहती है। फिर भी उस समस्त 'सूचना' को उसे स्वयं ही देना होता है।

ये 'रिपोर्ताज' किसी भी प्रकृति की हो सकती हैं : राजनैतिक, सामाजिक, या अन्य। इनके लेखन मे लेखक की कुशलता अपेक्षित रहती है। उसे सक्षेप के साथ रोचकता का भी ध्यान रखना होता है। किसी भी घटना का वर्णन निश्चित सीमा मे ही रहना चाहिये। समाचारपत्र की 'रिपोर्ट' या 'सूचना' मे तथ्यांकन ही रहता है। इसमे उस घटना की आन्तरिकता सामने आ जाती है। साहित्यकार के व्यक्तित्व अथवा उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का अवकाश रहने से ही इसे साहित्यिक विधा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

आजकल इस विधा मे पर्याप्त रचना हो रही है। 'रेडियो' से भी इसे सहायता मिल रही है। कुछ अग्रेजी समाचारपत्रो मे इसे पृथक् स्थान भी मिलने लगा है। परन्तु अभी यह विधा इतनी समृद्ध नही हुई है कि स्वतन्त्र प्रकाशन मे आ सके। पुस्तकाकार रूप मे ऐसी सामग्री नगण्य है।

गद्यकाव्य

'गद्यकाव्य' के स्वरूप पर विचार करते हुवे विभिन्न विचारकों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। निश्चय ही छन्दोहीन कविता 'गद्यकाव्य' मे गृहीत न होगी। साधारण गद्य का लेखक विचार की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर बल देते हुवे वढता है, जवकि 'गद्यकाव्य' मे उसका ध्यान अभिव्यक्ति की पूर्णता पर न रहकर भाव या विषय की पूर्णता पर रहता है। 'गद्यकाव्य' वस्तुत कविता ही है। वह भी भावावेग के क्षण मे ही लिखा जाता है। अन्तर इतना ही है कि छन्द की सीमाओं की बिना परवाह किये स्वाभाविकतम अभिव्यक्ति के रूप में जब कवि अपनी उमड़ती भावनाओं को सम्पूर्णता के साथ किन्हीं मचलते क्षणों में व्यक्त करता है, तो उसे 'गद्यकाव्य' कहते हैं।

वाण के वाद इस शैली मे इस युग के सस्कृत उपन्यासकार अम्बिकादत्त व्यास को ही स्थान प्राप्त है। 'व्यास' भारतेन्दु के समकालीन थे। निसर्ग-कवि भारतेन्दु मे भी गद्य की उस काव्यात्मक विधा मे लिखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। उनके वाद भी वावू व्रजनन्दनसहाय के 'सौन्दर्योपासक', एवं चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' मे जिस गद्यकाव्य के दर्शन हुवे, उसे वर्तमान गद्यकाव्य से भिन्न करके ही समझना चाहिये। इनमे अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता के साथ-साथ सम्बोधन वृत्ति की अधिकता थी।

आधुनिक गद्य-काव्य का जन्म प्रायः रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'गीतांजलि' के वाद से ही माना जाता है। सन् १९११ ई० मे ही इस पर नोवेल पुरस्कार मिल चुका था। इसका अनुकरण विश्व की सभी भाषाओ मे हुवा। हिन्दी मे भी ऐसा अनुकरण स्वाभाविक था। हिन्दी के प्रथम व प्रधान गद्यकाव्य लेखक राय कृष्णदास की 'साधना', 'छायापथ', एवं 'प्रवाल' रचनायें इसी अनुकरण पर रची मानी जाती हैं। कहते है 'प्रसाद' ने गद्यकाव्य की कोई रचना लिखी थी, किन्तु राय कृष्णदास की रचना सुनकर उन्होने अपनी कृति को नष्ट कर दिया। उनकी इच्छा थी कि इस क्षेत्र मे राय कृष्णदास को ही श्रेय मिले। वियोगी हरि की 'प्रार्थना' भी 'गीताजलि' के अनुकरण पर है ही।

गाँधीवाद और रवीन्द्र के मानवतावाद के प्रभाव में आकर जो अन्य 'गद्यकाव्य' सम्बन्धी रचनायें प्रकाश मे आई, उनमे राष्ट्रीयता, जन-जन से प्रेम, आदि भावों की प्रमुखता लिये हुवे, माखनलाल चतुर्वेदी का 'साहित्य देवता', वियोगीहरि का 'अन्तर्नाद', तेजनारायण काक का 'निर्झर' व 'पाषाण', हरिमोहन वर्मा की 'भारत-भक्ति' आदि प्रसिद्ध हैं।

रघुवीरसिंह और शान्तिप्रिय द्विवेदी का नाम गद्यकाव्य-लेखको मे भी ससम्मान लिया जाता है। रघुवीरसिंह की 'शेपस्मृतियाँ' स्वतन्त्र गद्यकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। अन्य भी कई लेखक इस दिशा मे बढ रहे हैं।

इससे मिलती-जुलती 'गद्यगीत' (मुक्तक-गद्यकाव्य) की परम्परा का उद्गम भी बगला से ही माना गया है। रविबाबू के 'स्ट्रे बर्ड्स' का हिन्दी अनुवाद 'कलरव' के नाम से श्री रामचन्द्र टण्डन ने किया। उसके बाद हिन्दी में भी इसी शैली के कुछ गद्य-गीत लिखे गये। वियोगी हरि के 'भावना' और 'ठण्डे-छीटे', शान्तिप्रसाद वर्मा का 'चित्रपट', रघुवीरसिंह का 'बिखरे फूल', तथा नोखेलाल वर्मा की 'मणिमाला' अत्यन्त प्रसिद्ध है।

गद्य-गीतो की स्वतन्त्रधारा का प्रतिनिधित्व दिनेशनन्दिनी डालमिया के गद्य-गीतो से होता है। उनकी 'शबनम', 'मौक्तिकमाल', 'दोपहरिया के फूल', तथा 'स्पन्दन', आदि रचनायें प्रसिद्ध हैं। रावी की 'शुभ्रा', तथा दधीचि की 'यौवन-तरग' का नामोल्लेख भी इस प्रसग मे आवश्यक है।

यह विधा कवित्व की आन्तरिक अनुभूति से ही पनप सकेगी। वर्तमान कविता का बहिर्मुखी झुकाव इसके पनपने के लिये उपयुक्त नही है।

हिन्दी समालोचना

रीतिकालीन अनुवाद

निश्चय ही हिन्दी समालोचना का जन्म रीतिकाल मे हो चुका था। उससे पूर्व भी नन्ददास, कृपाराम और केशवदास सदृश कवियो ने आलोचना के क्षेत्र मे अनुवादात्मक और मौलिक प्रयत्न किये थे, किन्तु ये सभी प्रयत्न एक बधी-बधाई दिशा मे थे। सस्कृत आलोचना का जो स्तर सदियो बाद आया, उसे हिन्दी कवियो ने आरम्भ मे ही अनुकरण करने का यत्न करना चाहा। परिणाम स्पष्ट था, हिन्दी आलोचना अपने साहित्य की अनुकूल गति पर न बढ कर, परम्परावद्ध और जड हो गई। सम्पूर्ण रीतियुग की आलोचना मे इसीलिये समसामयिकता, मौलिकता एव सजगता की अनिवार्य आलोचक वृत्ति नही पाई जाती। उसकी अपेक्षा पण्डिताऊपन की जकडाहट सभी जगह मिल जाती है। मौलिकता का परिचय बहुत कम मिल पाता है।

आलोचना का महत्व

आलोचना किसी भी साहित्य का अनिवार्य अग है। यदि सही रूप मे कहना हो तो वह साहित्य का संजीवन-तत्व है। साहित्य के निर्माण के साथ उसकी परीक्षा-समीक्षा होती रहे, तो वह प्राणवन्त रहता है, और जन-रुचि का ध्यान रखने मे यत्नशील होता है। किन्तु जब सामयिक साहित्य की समीक्षा से हटकर वह कोरे सिद्धान्तालोचन की बाते करने लगता है, तब एक स्वतन्त्र सत्ता रखकर भी, आलोचना-साहित्य साहित्य के लिये अनुपयोगी हो जाता है। तब उसका साहित्य मे अन्तर्ग्रहण न होकर शास्त्र मे अन्तर्ग्रहण होता है। आलोचना का क्षेत्र साहित्य है। उसे साहित्योद्यान की काँट-छाँट का निर्देशन करना है, तथा एक सुव्यवस्था व रुचि का सकेत करना है। अन्यथा साहित्य मे वह सब कुछ अन्तर्गृहीत हो जायेगा, जिसका ग्रहण साहित्य को मर्यादाहीन एव विशृखलित कर देगा। आलोचना एक सीमा है, जिसे साहित्य स्वीकार करके नही चलता, किन्तु जिसके प्रभाव को वह अस्वीकार भी नहीं कर सकता।

इसलिये आलोचना का वास्तविक रूप वही है, जो चाहे सैद्धान्तिक पक्ष मे हो या व्यावहारिक, अपने समसामयिक साहित्य की उपेक्षा न करके बढे, प्रत्युत उसकी विशेषताओ को पहचान कर उसके गुण-दोष परीक्षण एवं दिशानिर्देशन मे प्रवृत्त हो।

हिन्दी आलोचना का आरम्भ

सस्कृत की आलोचना कितनी ही शास्त्रीयता मे बद्ध होती गई हो, उसने समसामयिक साहित्य की विवेचना से कभी विमुखता ग्रहण न की, जबकि हिन्दी का रीतिकालीन आचार्य अपने ही सिद्धान्तो के उदाहरण, अपनी ही कृतियों के रूप मे, उपस्थित करता था। उनकी भी समीक्षा उसे अभीष्ट न थी। इसीलिये रीतिकालीन आलोचना से हमे यहाँ अभिप्राय नही। हमे यहाँ हिन्दी की उस आलोचना को ही देखना है जब से उसने पुराने सिद्धान्तों की समीक्षा और नये सिद्धान्तों की स्थापना इस दृष्टि से करनी आरम्भ की कि उनका समसामयिक साहित्य मे कहाँ तक उपयोग हो रहा है, या हो सकता है? और ऐसी आलोचना के जन्मदाता निश्चय ही भारतेन्दु थे। इस हिन्दी आलोचना के वर्तमान रूप का जन्म हम वही से स्वीकार करते है।

भारतेन्दु : प्रथम प्रौढ़ विवेचक

आलोचना के इस नये रूप का, भारतेन्दु द्वारा लिखा गया, उत्कृष्ट लेख सस्कृत-नाटक-सिद्धान्तो की समीक्षा पर था। सँभले हुवे गद्य एव प्रौढ भाषा-शैली, के साथ-साथ इस लेख के चिन्तन ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे पण्डिताऊपन और रूढि के दायरे से मुक्त होकर जिस स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा मे बढ रहे थे, वह अग्रेजी के तत्कालीन प्रौढ चिन्तन के मुकाबिले की थी। फिर भी उनकी विचारधारा मौलिक थी और उसे किसी विशिष्ट प्रभाव से आविष्ट नही माना जा सकता। इस लेख मे उनका स्वर निश्चय ही तत्कालीन सामान्य आलोचना के स्वर से भिन्न है। 'आलोचना' मे व्यक्तिगत व प्रभाववादी दृष्टिकोण की मुख्यता का इस युग मे एक बडा कारण यह था कि प्रत्येक प्रमुख साहित्यकार किसी न किसी पत्र के सम्पादन से सम्बद्ध था, और उसके व्यक्तिगत विचारों का महत्त्व समझा जाता था। 'अह' को प्रधान रखकर चलने वाला यह स्वर रीतिकाल से ही चला आ रहा था। मत चाहे गलत रहे हो या सही, हर लेखक उसे 'अपने विचार' के रूप मे ही व्यक्त करता आया था। भारतेन्दु के इस लेख मे यह 'अह' का स्वर अनुपस्थित है। उसमे

शास्त्र-चिन्तन की सप्रमाण विवेचना है। 'नाटक' का विषय उनकी आत्मा को प्रिय था, उनके जीवन की अनुभूति का सार था; इसलिये उसमे शुष्क चिन्तन की अपेक्षा अनुभूति की गहराई आनी स्वभाविक थी। यही कारण था कि सस्कृत-आलोचको की सी मौलिकता भी उसमे मिलती है। किन्तु. वे केवल खण्डन-मण्डन के चक्कर मे ही पडकर न रह गये।

उस युग के अन्य आलोचक

भारतेन्दु के अतिरिक्त इस युग के अन्य आलोचको मे बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र, आदि के नाम मुख्य रूप मे लिये जा सकते है। अधिकांशत पत्रकार होने के नाते उनकी आलोचनायें लेखों या निबन्धो के रूप मे होती थी, तथा उनमे वैयक्तिक रुचि और अनुकूलता की ही मुख्यता होती थी। विशेष रूप मे इस आलोचना मे सैद्धान्तिकता न होकर व्यवहारिकता ही अधिक होती थी। सामान्य आलोचनाओ के अतिरिक्त, व्यवहारिक आलोचना के क्षेत्र मे, किसी समसामयिक ग्रन्थ या कृति की आलोचना के रूप मे, प्रथम प्रयास बालमुकन्द 'गुप्त' का ही माना गया, जिसमे श्रीनिवासदास के नाटक 'सयोगिता-स्वयवर' की आलोचना की गई थी। स्वयं भारतेन्दु की भूमिकाओ ने भी इस मार्ग को प्रशस्त किया। अन्यत्र सामाजिक धारणाओ का आधार लेकर चलने वाली मिली-जुली आलोचना निबन्धो और लेखो के रूप मे पनपती रही। आलोचना की नई शैली का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ सामने न आया। इसीलिये किसी शैली की स्थिर परम्परा न बँध सकी।

पाश्चात्य आलोचना के बढ़ते चरण

द्विवेदी युग ने पश्चिम मे नई दिशाओ का विस्तार देखा था। वैज्ञानिक क्षेत्र के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र मे भी जो प्रयोग उन्नीसवी शती मे आरम्भ हुवे थे, उन्हे इस समय परिपाक प्राप्त हुवा। तर्क मे भी अधिक समसामयिकता एवं सत्यता का समावेश हुवा। साहित्य की नई प्रवृत्तियो के साथ-साथ आलोचना मे भी नई प्रवृत्तियो का समावेश हुवा। निश्चय ही **कहानी** और **उपन्यास** के क्षेत्र प्राचीन साहित्य से भिन्न और सर्वथा नये थे। भारतीय और ग्रीक आलोचना मे इनके तत्वो का भी **महाकाव्य, कथा,** अथवा **नाटक** के माध्यम से परिगणन एव ज्ञापन हुवा है। किन्तु, **उपन्यास** और **कहानी** सम्बन्धी धारणाओ का जैसा विकास १८वी तथा १९वी शती मे यूरोप मे हुवा, और बीसवी शती के आरम्भ मे उसे एक परिपक्वता प्राप्त हुई, उससे साहित्य-सम्बन्धी

चिन्तन को एक नई दिशा मिलनी स्वाभाविक थी। १६वी शती के अन्त में कार्ल मार्क्स की समाजवादी विचारधारा का फैलाव तीव्रता से होना शुरू हुवा।

आलोचना मे 'वाद'

उसका सीधा प्रभाव समालोचना के क्षेत्र मे एक दम तो न पड़ा, किन्तु यथार्थ पर अधिकाधिक बल देने की बात अधिक बल पकड़ती गई। और इस प्रकार पुराने साहित्य को 'आदर्शवादी' कह कर, नये 'यथार्थवाद' की नीव पड़ी। वादो का यह युग अपनी कहानी रखता है। जर्मनी के हेगेल, इटली के क्रोचे तथा उसी कोटि के अन्य आलोचको ने नानाविध वादो को जन्म दिया। 'यथार्थवाद' उस शृखला की एक बहुमुखी कड़ी मात्र थी, जिसने अनेक दिशाओ मे विस्तार के द्वार खोले।

'द्विवेदी' : नया उन्मेष

नवजात हिन्दी आलोचना के सतर्क प्रहरी के लिये जिस विशाल दृष्टि एवं व्यापक अध्ययन की आवश्यता थी, उसे लिये हुवे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन ही नही सम्भाला, बल्कि हिन्दी समालोचना का बहुमुखी द्वार भी खोल दिया। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के उपार्जित ज्ञान-विज्ञान के दैनिक अनुभव एवं हिन्दी पत्रकारिता मे आदर्श स्थापना के उत्साह ने उन्हें एक स्वाभाविक 'आलोचक' का रूप दे दिया। उन्हे अपने ज्ञान पर अभिमान न था, तो भी वे हिन्दी लेखको की कूपमण्डूकता को दूर करने के लिये कटिवद्ध थे। परिणामत: उनकी आलोचना मे दोष-परिष्कार की भावना अधिक रही। वहाँ हिन्दी के भावी आदर्श रूप का स्वप्न-दर्शन अधिक हुवा है, अपेक्षया आलोचना के स्वतन्त्र-विचार व विकास के! उनके 'कवि' एवं 'कवि और कविता' जैसे कुछ लेख आलोचना की दिशा मे दृढ एवं स्थिर प्रवृत्ति के प्रयास थे, किन्तु इन से स्वय आलोचक की मौलिकता प्रगट न हुई थी। इनमे भी स्पष्टतया वे वैयक्तिक रुचियो एव आदर्शवाद से अधिक प्रभावित रहे थे। यद्यपि, पाश्चात्य मतो, सस्कृत-सिद्धान्तो एव फारसी-सिद्धान्तो का भी उनका ज्ञान इनसे प्रकट हुवा है। वे उस ज्ञान मे से अपनी रुचि के अनुकूल चुनाव करके हिन्दी साहित्य की 'आलोचना' को समृद्ध करना चाहते थे। उनकी 'सैद्धान्तिक-आलोचना' निश्चय ही एक दिशा-निर्देशिका मात्र बन सकी; किन्तु इस विषय मे उनके प्रयास व्यावहारिक आलो-

चना के क्षेत्र मे ही अधिक स्तुत्य रहे। आचार्यत्व के जिस गौरव और नियन्त्रण-अनुशासन से उन्होने साहित्य-क्षेत्र का परिमार्जन करना चाहा, उस भावना से उत्पन्न उनका साहित्य, निबन्धात्मक होकर भी, 'आलोचना' के अन्तर्गत ही आता है। और, उससे हिन्दी की व्यावहारिक साहित्यिक आलोचना का रूप स्थिर होता है। यद्यपि ऐसे सम्पूर्ण साहित्य मे भारतेन्दु-युगीन आलोचको की भाति 'अह' का गौरवमय स्वर अधिक एव साहित्यिक हेतुवाद कम प्रधान रहा है। इस सब पर भी हम उन्हे **उत्कृष्ट आलोचक** नही मान सकते। यद्यपि उत्कृष्ट कोटि के आलोचको को प्रोत्साहन एवं सवर्धन देने मे उस अकेले व्यक्तित्व का बडा भारी हाथ था।

आलोचना के महारथी

द्विवेदी के साथ ही साथ, बल्कि कुछ पहले ही, हिन्दी क्षेत्र मे कुछ और व्यक्तित्व भी प्रकाश मे आये थे, जिन्होने हिन्दी आलोचना के दोनो पक्षों के सर्वांगीण विकास मे योग दान दिया। 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' के अमर लेखक मिश्रबन्धुओ (प० शुकदेव बिहारी 'मिश्र' आदि) ने हिन्दी आलोचना मे ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की नीव रखी। श्यामसुन्दर दास के अनेकविध आलोचनात्मक प्रयत्न भी सामने आये। पद्मसिंह 'शर्मा' भगवानदीन 'दीन', अयोध्यासिह 'उपाध्याय', रामचन्द्र 'शुक्ल', आदि अनेक व्यक्तियो ने इस आलोचना के बढते क्षेत्र मे प्रवेश किया। श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र 'शुक्ल' के प्रयत्नो को छोडकर बाकी सबके ही प्रयासो मे वैयक्तिक रुचि और निजी भावना की प्रमुखता रही।

तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ

आरम्भ मे इन सभी का क्षेत्र व्यावहारिक आलोचना का था। सभी ने किसी न किसी कवि का अध्ययन प्रस्तुत करते हुवे अपनी आलोचना बुद्धि का परिचय दिया। महाकवि बिहारी और देव के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन की नीव मिश्र बन्धुओ के 'हिन्दी-नवरत्न' से पडी, उसमे पद्मसिह शर्मा, भगवानदीन 'दीन' आदि ने बढ-बढ कर भाग लिया। पारस्परिक पक्ष-ग्रहण में सैद्धान्तिक स्थापनाओ की अपेक्षा वैयक्तिक रुचियो को प्रधानता दी गई। इस प्रकार की आत्मप्रधान **प्रभाववादी आलोचना** मे अनेको कमियां आनी स्वाभाविक थी। श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिह उपाध्याय, एव रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपनी विविध भूमिकाओं मे आरम्भ मे **आत्मप्रधान प्रभाववादी**

ढंग पर ही लिखा। किन्तु, उत्तरोत्तर शुक्ल व दास दोनों मे सैद्धान्तिक अध्ययन की प्रवृत्ति बढती गई। उनके निबन्धो मे इस प्रकार के सिद्धान्तो का विश्लेषण भी सामने आने लगा। 'दास' पाश्चात्य व भारतीय आलोचना मे विशेष अन्तर न देखते थे। अतः वे पाश्चात्य सिद्धान्तो की समीक्षा भारतीय शब्दावली मे, व भारतीय सिद्धान्तों की समीक्षा पाश्चात्य आलोचना के प्रकाश में करने लगे। यह बात शुक्ल जी को रुचिकर न लगी। 'वादो' के नाम पर उलझन पैदा करने वाली पश्चिमी आलोचना से वे उतने प्रभावित न थे। शैली उन्होंने निश्चय ही पश्चिम की अपनाई, किन्तु भारतीय सिद्धान्तो की व्याख्या उनका प्रमुख ध्येय रहा। उनकी भूमिकाओ मे साहित्य-समीक्षा इन्ही आलोचना सिद्धान्तो के आधार पर हुई थी। बाद मे, इसी का परिणाम था कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने **रूपक-रहस्य** एव **साहित्यालोचन** जैसे युग-प्रभावक समालोचना-ग्रन्थ लिखे, और, आचार्य शुक्ल की **चिन्तामणि** व **रस-मीमांसा** नामिक रचनाये सामने आई।

सैद्धान्तिक आलोचना का आरम्भक ग्रथ

सैद्धान्तिक आलोचना का प्रथम ग्रन्थ कन्हैयालाल 'पोद्दार' का काव्य-कल्पद्रुम' माना गया है। नायिक भेद की पुरानी विवेचना के पथ को छोडकर इसमे रस, भाव, अलंकार, आदि काव्य विषयों का ही विवेचन किया गया था पाश्चात्य शैली की विस्तृत विवेचना या सस्कृत के आचार्यों की खण्डन-मण्डनात्मक आलोचना का इसमे अभाव था, तो भी इस विषय मे नवयुग का उद्घोषक इसी ग्रन्थ को माना गया है।

नय आदर्श

'द्विवेदी' का 'रसज्ञ-रंजन' ग्रन्थ के रूप मे नही लिखा गया था। वह तो उनके कुछ लेखो का सग्रह था, जिसमे चार लेख सैद्धान्तिक आलोचना को स्पर्श करते थे। वास्तव मे इस प्रकार के लेखो की परम्परा भारतेन्दु के नाटक-सम्बन्धी लेख से आरम्भ हुई थी। बाद मे श्यामसुन्दरदास ने प्रथम-बार 'रूपक-रहस्य' के रूप में एक स्वतन्त्र ग्रथ नाटको की सैद्धान्तिक आलोचना पर लिखा था। उनका प्रयत्न सदा ही समन्वयात्मक रहा। 'साहित्यालोचन' मे सभी काव्यागो की समीक्षा की गई थी। इसमे व्याख्यात्मक ढग पर प्रत्येक पाश्चात्य मत को प्रथम बार भारतीय परिभाषा मे समझाने का यत्न किया गया था।

'शुक्ल' की मौलिकता : लोकादर्श

रामचन्द्र 'शुक्ल' का इस दृष्टि से उनसे अन्तर था। वे एक निश्चित आदर्श अपने सम्मुख लेकर चल रहे थे। 'काव्य मे लोक-मंगल की भावना' भारतीय आलोचना-पद्धति का एक अन्तर्हित सत्य अवश्य था। साहित्य का उद्देश्य चार फलो (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) को स्वीकार करते भी उसे कभी स्वतन्त्र रूप मे उद्घोषित न किया गया था। तुलसी आदि ने यदि कही स्पष्टता से इस बात को कहा भी, तो दूसरी ओर वे ही कवित्व के महत्त्व की अन्य रूप मे भी प्रशंसा कर बैठे। आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रथम बार 'लोक-मंगल' को पृथक् रूप से काव्य के उत्कर्ष के साथ उन्होंने सम्बद्ध कर दिया। जीवन के सिद्धि-पक्ष व साधन-पक्षो का विभाजन करके वे काव्य के उत्कर्ष को जीवन की व्यापकता से सम्बद्ध मान चुके थे। इस आधार पर उन्होने काव्य को दो वर्गो मे बाट दिया : प्रबन्ध काव्य अथवा साधन-पक्ष के काव्य, तथा मुक्तक अथवा सिद्धि-पक्ष के काव्य। वास्तव मे यह विभाग भी निश्चित न मान कर उन्होंने, साधन-पक्ष मे भी वीररस भरे मुक्तक आदि, तथा सिद्धि-पक्ष मे कलाप्रधान प्रबन्धकाव्य आदि का अन्तर्ग्रहण स्वीकार किया। साधन-पक्ष की प्रधानता का अर्थ था जीवन व्यापारो की व्यापकतर योजना। इसी आधार पर उन्होने भक्ति के भी कर्मप्रधान एवं रूपप्रधान दो भेद किये।

'रस-सिद्धान्त' और वाद-विरोध

इसके अतिरिक्त उनका बल 'रस-सिद्धान्त' पर रहा था। इस मत के उत्कर्ष के सम्मुख वे पाश्चात्य कला-सिद्धान्त 'अभिव्यजनावाद' आदि के वैसे ही विरोधी थे, जैसे 'वक्रोक्तिवाद', 'रीतिवाद', आदि भारतीय मतो के। रस-सिद्धान्त मे भी उनकी वास्तविक देन 'साधारणीकरण' के सम्बन्ध में है। उनकी मान्यता के औचित्य के विषय मे दो मत हो सकते है, किन्तु यह बात एकमत से स्वीकार की जानी चाहिये कि उन्होने सस्कृत के महान् आलोचक जगन्नाथ पण्डितराज (१८ वी शती) के अनेक वर्ष बाद प्रथम बार 'रस-सिद्धान्त' की व्यापक छानबीन एव उसके परिष्कार का यत्न किया। साधारणीकरण सम्बन्धी उनके विचार एकाएक अपास्त नही किये जा सकते।

'चिन्तामणि' का महत्त्व

ये सब विचार उनके उन निबन्धो मे आये थे, 'जो चिन्तामणि' में सगृहीत

हुवे थे। यही उन्होने विभिन्न भावों—प्रीति, भक्ति, भय, उत्साह, आदि—पर भी वैज्ञानिक ढग से विचार किया। और साथ ही प्रकृति-चित्रण, अभिव्यंजनावाद, आदि आधुनिकतम विषयो पर भी इन्ही निबन्धो मे स्वतन्त्र विचार किया।

पूर्णतः मौलिक

उनकी इस चिन्तन प्रणाली की मौलिक विशेषता यह थी कि वे किसी भी परम्परागत धारा के अन्धभक्त न थे। उन्होने अपनी वैज्ञानिक छानबीन की शक्ति का पूर्ण उपयोग किया था। इस दृष्टिकोण को लेकर ही क्रियात्मक क्षेत्र मे उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', और उनकी 'सूर', 'तुलसी', और 'जायसी' की भूमिकायें सामने आईं। उन की सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी एक मात्र स्वतन्त्र कृति **'रस-मीमांसा'** उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हुई। इसमे उनके विविध लेखो, एव स्मरण-सकेतो का व्यवस्थित सग्रह मात्र है। वे इसे पुस्तक का अन्तिम रूप न दे सके, फिर भी उनके मतो का निचोड आ ही गया है।

शुक्ल के बाद

शुक्ल के बाद जिन आलोचको के प्रमुख नाम आते है, उनमे 'प्रसाद', प्रेमचन्द, गुलाबराय, रामकुमार 'वर्मा', नन्ददुलारे 'वाजपेयी', नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, सूर्यकान्त, आदि को **सैद्धान्तिक पक्ष में** प्रमुखता प्राप्त है। **व्यावहारिक आलोचना** के पक्ष मे इन सबके नामों का ग्रहण तो होता ही है; उनके अतिरिक्त हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामरत्न भटनागर, शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, आदि के नाम भी प्रमुख है। सिद्धान्त पक्ष मे मौलिक चिन्तन प्रायः बहुत कम हुवा है।

'प्रसाद' की मौलिकता

'प्रसाद' ने भौतिकवाद के बढते युग मे साहित्य का सम्बन्ध 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' के साथ ही नही जोडा, बल्कि उस मे श्रेय और प्रेय दोनो का सम्बन्ध स्वीकार किया। कह सकते है कि यह अरस्तू के सत्य, शिव, सुन्दर का ही रूपान्तर मात्र था। परन्तु अवलोकनीय यह है कि साहित्य का अनुभूति से कितना गहरा सम्बन्ध है? तथा पश्चिम के कल्पनाप्रधान या कलाप्रधान साहित्य सम्बन्धी विचारो का उससे कहाँ तक मेल बैठता है? 'प्रसाद' परिचित थे कि आलोचना के कला व जीवन सम्बन्धी 'वाद' चाहे

आधुनिक हो, किन्तु रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य एव पूर्ववर्त्ती रीतिकालीन सस्कृत साहित्य मे भी कलात्मकता व कल्पनात्मकता की भावना इतनी बढ गई थी, कि साहित्य का अनुभूति के साथ पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो गया था। कल्पना का अनुभूति के साथ क्या सम्बन्ध हो? इसे उन्होने संकल्पात्मक शब्द के द्वारा स्पष्ट किया। कल्पना की दूरारूढता काव्य को निर्जीवता की किस सीमा तक ले जाती है? इसे वे भली भाँति जानते थे। पश्चिम के उठने वाले 'उच्छृखलतावादी' एव 'स्वच्छन्दतावादी' साहित्य के स्वर ने भी उन्हे इस चिन्तन के लिये आतुर किया था। इसीलिये वे साहित्य मे 'चारुत्व' या 'प्रेयत्व' को ही सब कुछ न समझकर, उसका सम्बन्ध श्रेय से भी करना चाहते थे। श्रेय से शिवत्व का सम्बन्ध है। साहित्य उपदेश देने के लिये शास्त्र का रूप तो धारण नही कर सकता, किन्तु फिर भी उसमे 'चारुता' को सुरक्षित रखते हुवे 'शिवत्व' की भावना होनी ही चाहिये। पुरातन भारतीय विचारको के अनुसार भी आल्हाद के साथ-साथ धर्मादि चार फलों या पदार्थों को भी साहित्य का उद्देश्य स्वीकार किया गया था। साहित्य उनकी व्याख्या मात्र भले ही न करे, किन्तु वह जो कुछ भी सन्देश वहन करता है, उसका सम्बन्ध यदि जीवन से है, तो वह इन चारों फलो से भिन्न नही रह सकता।

'श्रेयत्व' व अनुभूतिचित्रण : एक अनिवार्यता

इस प्रकार 'प्रसाद' द्वारा श्रेयत्त्व की स्वीकृति मे किसी 'आदर्शवाद' या उपदेशात्मकता की भावना नहीं है, वल्कि उसमे विश्लेषण पूर्वक एक अनिवार्यता का समावेश है। यही वात है उनकी संकल्पात्मक अनुभूति के सम्बन्ध मे; उसमे यथार्थ के प्रति केवल कुत्सित व गर्हित तथ्यो के उद्घाटन मे ही साहित्यकार की सामर्थ्य नही मानी गई है। बल्कि, गर्हित हो या सुन्दर—उस चित्र के प्रति लेखक की अन्तरतम की अनुभूति की ही अपेक्षा की गई है। लेखक जिस चित्र से अपनी एकात्मकता अनुभव न कर सका, पाठक के लिये वही साहित्य साधारणीकरण का आधार कैसे प्रस्तुत कर सकेगा? प्रसाद की दृष्टि मे 'कला की आत्मा' साहित्य की आत्मा से अभिन्न है। आचार्य शुक्ल जिस बात को 'मर्यादावाद' की सीमा के भीतर लाकर कहना चाहते थे, उसे ही प्रसाद ने वादो से मुक्ति देकर स्वतन्त्र रूप मे स्थिर कर दिया।

'यथार्थ' के व्याख्याता प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का स्थान आलोचक के रूप मे कम अंकित हुवा है। उनकी

सबसे बड़ी देन हिन्दी मे 'यथार्थवाद' के स्वरूप की सही व्याख्या है। उनकी यह व्याख्या प्रसाद की व्याख्या से अभिन्न है। उनके अनुसार 'यथार्थ' का अर्थ केवल गर्हा और कुत्सा से न होना चाहिये, बल्कि उसमे सुन्दरत्त्व का भी समावेश आवश्यक है। यथार्थ के दोनो ही पक्ष हैं, उनमे से किसी एक के भी चित्रण के बिना यथार्थ अधूरा है। यह सब विवेचन उन्होंने उपन्यास की विवेचना के सम्बन्ध में किया है। यथार्थवाद की उनकी यह दृष्टि प्रगतिवाद की सीमित मान्यताओ से भी अधिक व्यापक है।

बाबू गुलाबराय : समन्वय-कर्त्ता

गुलाबराय के 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'नाट्य-विमर्श', 'काव्य-विमर्श', आदि ग्रन्थो मे क्रमपूर्वक व विस्तृत रूप मे साहित्यालोचन-सम्बन्धी सिद्धान्तो का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पश्चात्य या भारतीय किसी एक मत का आश्रय न लेकर उन्होने स्तुत्य रूप मे तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास किया है। उनका प्रयास समन्वयात्मक रहा है। शीर्षकों के निर्धारण व विषय के विवेचन में उनकी मौलिकता प्रशसायोग्य रही है। उनकी शैली विशद व स्पष्ट रही है। जिन विषयो मे आरम्भ मे सन्देह था, उनमें भी वे बाद मे स्पष्टतर हुवे हैं। कुछेक स्थलो पर उन्होने आचार्य शुक्ल के भ्रमों का भी निराकरण किया है। फिर भी कोई नया सिद्धान्त वे स्थापित कर पाये हो, ऐसी बात नही है। उनका कार्य अधिकतर व्याख्या का ही रहा है। उनकी यह भी विशेषता है कि उन्होने पाश्चात्य समीक्षा पर 'काव्य के रूप' मे, तथा पूर्वी समीक्षा पर 'सिद्धान्त और अध्ययन' मे पृथक्-पृथक विचार किया है।

बाबू जी का अनुकरण

उनका यह अनुकरण बाद मे बल पकड गया। आधुनिक समय मे गोविन्द त्रिगुणायत के 'समीक्षा के सिद्धान्त' के दोनो भागो मे भी इसी आधार पर व्यापक विवेचन का यत्न किया गया है। उसमे व्यापक सग्रह का भारी श्रम किया गया है। स्वतन्त्र चिन्तन का प्रयास भी है, पर कम ही ! इससे पूर्व सोमनाथ गुप्त, योगेन्द्रनाथ मल्लिक, मोहनवल्लभ पन्त, आदि की पुस्तको में सग्रह और व्याख्या का कार्य बाबू गुलाबराय के 'काव्य के रूप के आधार पर ही हुवा है। किसी ने भारतीय मतो को अधिक समझाने का प्रयास किया है, किसी ने कम। इससे अधिक इन ग्रन्थो का मौलिक महत्त्व नही है।

पी० डी० खत्री का 'आलोचना का इतिहास' स्वतः सिद्धान्त-ग्रन्थ नही है। सीताराम चतुर्वेदी का 'समीक्षा शास्त्र' भी एक बहुमूल्य सग्रह-ग्रथ या निर्देशन-ग्रथ कहा जा सकता है। क्षेमचन्द्र सुमन एव सुरेशचन्द्र गुप्त के प्रयास भी इसी पद्धति के है।

नगेन्द्र : समन्वय की नई दृष्टि

गुलाबराय के 'नाट्य-विमर्श' मे, श्यामसुन्दरदास के 'रूपक-रहस्य' से, कुछ अधिक व स्वतन्त्र चिन्तन किया गया था। इस विषय पर मौलिकता के साथ, किन्तु पाश्चात्य सिद्धान्तो को अधिकाधिक समझते हुवे, यदि कोई प्रयास हुवा, तो वह था नगेन्द्र का। व्यावहारिक पक्ष मे पुराने ख्यातिप्राप्त इस महान् आलोचक ने सस्कृत आलोचना ग्रन्थो के प्रामाणिक हिन्दी अनुवादो को ही प्रस्तुत करवाने का यत्न नही किया, बल्कि उनकी भूमिकाओ मे अपने तुलनात्मक अध्ययन का पुट देकर मानो उनके महत्त्व को द्विगुणित कर दिया। यूं तो, ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, आदि सस्कृत ग्रथो की हिन्दी टीकाओ एव अरस्तू के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के हिन्दी-रूपान्तर की भूमिकाओ मे नगेन्द्र ने काव्य के सभी पक्षो पर पूरी तरह प्रकाश डाला ही है, फिर भी उनका सर्वाधिक महत्त्व इस बात मे है कि **उन्होंने नाटकीय सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन मे एक निश्चित दिशा को स्पष्ट किया है।** ट्रैजेडी (त्रासदी) एव कॉमेडी (कामदी) के विषय पर उन्होने हिन्दी मे पहली बार खुलकर विचार प्रगट किया है। हिन्दी-नाटकों पर उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे उनकी दूसरी देन है—**मनोविश्लेषण का क्रियात्मक प्रयोग**। फ्रॉयड के समय से इस सिद्धान्त का जितना भी प्रचार हुवा हो, हिन्दी मे इसका प्रायोगिक अध्ययन करने का श्रेय डा० नगेन्द्र को ही है। इसके प्रायोगिक पक्ष को शास्त्रीय युक्ति-जालकी दल-दल से निकाल कर, **आत्माभिव्यक्ति** के सिन्द्धान्त को सही रूप से समझाने मे वे, अन्यो की अपेक्षा, अधिक सफल हुवे है।

'उत्तम साहित्य' की नई व्याख्या

यदि 'मनोविश्लेषण' के सिद्धान्त को व्यक्ति-जीवन की सीमाओ मे स्वीकार कर लिया जाये, तो उसका अर्थ होगा साहित्य को 'व्यक्ति-मन की प्रतिक्रिया मात्र' स्वीकार कर लेना। जबकि सत्य यह है कि साहित्य व्यक्ति-मन की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति होकर भी अपनी विशालता अपने आधार की विशालता के कारण ही ग्रहण करता है। नगेन्द्र इसीलिये व्यक्ति-मन की प्रतिक्रिया

से युक्त साहित्य को भी 'साहित्य' मे ही गिनते है। किन्तु 'उत्तम साहित्य' या 'महान् साहित्य' की परिभाषा मे वे, आधार की व्यापकता के कारण, युग के प्रतिबिम्बन करने वाले साहित्य को ही गृहीत करते है। **यहाँ वे प्रगतिवादियों के लक्ष्य के कितना समीप आ जाते हैं, फिर भी उनसे कितना दूर !**

सिद्धान्त-सम्बन्धी अन्य कार्य

सैद्धान्तिक क्षेत्र की आधुनिक देनो मे विश्वेश्वर आचार्य द्वारा की गई संस्कृत आलोचना ग्रथों की हिन्दी-टीकाये, संस्कृत-आलोचक 'क्षेमेन्द्र' के औचित्य-मत की हिन्दी समीक्षा, व दशरथ 'ओझा' की सिद्धान्तालोचन सम्बन्धी पुस्तक, आदि का परिगणन किया जायेगा। इनके अतिरिक्त सत्यदेव चौधरी आदि अन्य योग्य लेखको की अनेको पुस्तके भी प्रकाशित हुई हैं। किन्तु, मौलिकता की दृष्टि से 'क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि' मे जो मौलिकता है वह अन्यों मे नही है। उसके लेखक से हमे एक स्वतन्त्र रचना की आशा रखनी चाहिए।

व्यावहारिक-पक्ष

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे पद्मसिह शर्मा व मिश्रबन्धु आदि की परम्परा का सन्तुलित परिणाम रामचन्द्र शुक्ल की शैली के रूप मे सामने आया था। उनके सामने ही गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे प्रमुख आलोचकों का उदय हुवा। गुलाबराय को व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे अपेक्षाकृत कम प्रसिद्धि मिली। उनके प्रयासो मे आलोचक की सतर्क कठोरता का अभाव ही रहा। समन्वयवादी दृष्टि की कोमलता हिन्दी के बढते स्वरूप के अनुकूल सिद्ध न हुई। डा० हजारीप्रसाद 'द्विवेदी' व डा० नन्ददुलारे 'वाजपेयी' ने शुक्ल जी का-सा ही व्यक्तित्त्व एव स्थान ग्रहण किया।

हजारीप्रसाद 'द्विवेदी' : निर्णायक प्रतिभा

डा० द्विवेदी की आलोचना-शैली को देखकर उनका सरल व्यक्तित्व सहसा सम्मुख आ जाता है। आलोचना को इतने सीधे व सरल रूप मे लेना तथा उसे 'व्यक्तित्व' के इतना निकट लाकर भी उससे अछूता और निर्वैयक्तिक रख पाना, उन्ही की विशेषता है। साहित्य और समीक्षा को भिन्न-भिन्न माननेवालो को द्विवेदी जी के आलोचनात्मक ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिये। लगता है जैसे किसी साहित्य-ग्रन्थ को ही पढा जा रहा हो, या जैसे वे तथ्यों के बोझ को वहन करने से इन्कार कर रहे हो : इस ढंग से वे तथ्यो को प्रस्तुत करते है। काव्य-

सौन्दर्य की चर्चा मे वे पारखी के साथ-साथ स्वयं कवि भी हो उठे है। निर्णायक की दृढ़ता, न्यायाधीश की न्यायप्रियता, शासक की कठोरता, और कवि की सहृदयता का एकत्र समन्वय, इस एक व्यक्तित्व मे ही हो पाया है। तभी वह 'सतर्क आलोचक' की विशाल दृष्टि रखकर भी 'कवि' की आन्तरिक दृष्टि-सामर्थ्य से हीन नहीं होने पाया है।

'वाजपेयी' · 'काव्य-सौष्ठव' के पुजारी

डा० नन्द दुलारे 'वाजपेयी' भी, द्विवेदी जी की भाँति, ऐतिहासिक शैली के आलोचक हैं, किन्तु ऐतिहासिक निरपेक्ष दृष्टि रखकर भी वे काव्य-सौष्ठव के अकन पर अधिक बल देते है। निश्चय ही इन दोनो आलोचको का नगेन्द्र की पद्धति से बाह्य मतभेद दिखाई देता है। और, कुछ सीमा तक यह मतभेद है भी। पर, काव्य-पक्ष के सौन्दर्य के अकन मे ये तीनो एक मत हैं। वाजपेयी की एक बडी विशेषता यह है कि परिस्थितियो के प्रभाव को वे भी, द्विवेदी जी की भांति, सीमित ही मानते हैं। साहित्य का यदि साहित्यकार की आत्मा के साथ कुछ भी गहरा सम्बन्ध है, तो आत्मा से सम्बद्ध वस्तु को परिस्थितियो की प्रतिक्रियामात्र घोषित नहीं किया जा सकता। अन्ततः साहित्य 'संस्कृति' का अभिन्न अंग है, क्योंकि आत्मा संस्कृति से अधिकाशत प्रभावित और परिचालित रहती है। यही कारण है कि युगो बीत जाने पर भी साहित्य की अन्तर्धारा एक और अविभाज्य रहती है। 'द्विवेदी' ने इस सत्य के व्यवहारिक पक्ष को प्रमाणत. स्पष्ट किया था, और 'वाजपेयी' ने इसके काव्यात्मक आन्तरिक पक्ष को अधिक उद्घाटित किया। वाजपेयी की शैली भी सरल है। उसमे भी अपने मतों के प्रति दृढ़ता है, युग से विरोध का साहस है। पर, निर्णायक की स्थिरता के रहते भी, शासक की कठोरता का वहाँ अभाव है।

डा० नगेन्द्र : सतर्क आलोचक

डा० नगेन्द्र ने सुमित्रानन्दन पन्त व मैथिलीशरण गुप्त, आदि के आलोचनात्मक अध्ययनो द्वारा अपनी काव्य-सजग बुद्धि, कवि-दृष्टि, एव आलोचक की गहरी पैठ का परिचय दिया है। मानवीय अध्ययन की प्रवृत्ति व चरित्रो का गहरा विश्लेषण उनकी आलोचना के अनिवार्य अंग हैं। उनके आलोचना ग्रन्थों का 'साहित्य' मे भी अन्तर्ग्रहण आसानी से हो जाता है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

शान्तिप्रिय 'द्विवेदी' छायावादी आलोचक है। काव्य की प्राण-चेतना को आध्यात्मिकता के समावेश के साथ देखते हुवे, वे 'प्रसाद' एव महादेवी की आलोचक श्रेणी मे जा बैठते है। उनकी शैली की सरसता एव सहज कवि-दृष्टि पाठक का ध्यान सहसा आकृष्ट कर लेती है।

महादेवी 'वर्मा' : आस्था और आलोचना

उसी श्रेणी मे दूसरा नाम महादेवी वर्मा का आता है। कवि हृदय के साथ-साथ आलोचक की प्रतिभा का यह सगम 'प्रसाद' के बाद अनूठा ही हुवा है। 'पन्त' और 'निराला' की आलोचनात्मक तर्क-प्रियता की अपेक्षा, यहा विश्लेपणात्मक अध्ययन का कवि के आत्मिक सकल्प से सहज सगम हुवा है। भाषा की कोमलता ने आलोचना की कठोरता को भी झुका दिया है। आध्यात्मिक आस्था मे वे भी अद्वितीय है।

पन्त : बौद्धिक आलोचक

पन्त ने जब 'विवेचनात्मक-गद्य' लिखा, तब तक उन पर से छायावादी प्रभाव समाप्त हो चुका था। अत स्वाभाविक था कि उनके गद्य मे, कवि के विश्वास की अपेक्षा, वैज्ञानिक की विश्लेपणात्मकता अधिक स्पष्ट होती। कवि का 'आत्मिक-संकल्प' तो उनके गद्य मे अब भी नही ढल पाया है। इसीलिये युगानुरूप उनकी आलोचक प्रतिभा ने भी समय-समय पर करवट ली है।

निराला की आलोचना मे कटुता भी है, विद्रोह भी। उनके निबन्धो मे सजगता है। जैनेन्द्र के साहित्य सम्बन्धी विचार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' मे अधिक सुलझे रूप मे चित्रित हुवे हे। उनकी भावना शुद्ध कलात्मक है। फिर भी लोक-दृष्टि का समावेश मे उसमे हो ही गया है।

प्रगतिवादी आलोचना

प्रगतिवादी आलोचना को इस युग मे, व्यावहारिक क्षेत्र मे, विशेप प्रश्रय मिला है। प्रेमचन्द के बाद इस दिशा मे आने वाले आलोचको ने 'वाद' को अधिक महत्त्व दिया। नलिन विलोचन शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, एव देवराज के नाम इस विपय मे प्रमुख है। देवराज की आलोचनाओ मे द्विवेदी की सी दृढता दिखाई देती है, यद्यपि दिशा एकदम विपरीत है। युग-विरोध एव युग-विद्रोह की उन्होने चिन्ता नही की है। आलोचना मे वे एकदम स्पष्ट एव दो

टूक राय देना जानते है। प्रकाशचन्द्र गुप्त व नलिनविलोचन शर्मा अपेक्षाकृत अधिक तर्क-शील हैं। देवराज की भाँति उन्हे स्वतन्त्रता पसन्द नही। उनके निर्णय उतने तीखे नही है। फिर उनमे आलोचक की गरिमा भी अधिक ही रही है। प्रगति-पथ के पथिक रामधारीसिंह 'दिनकर' और 'अज्ञेय' की आलोचनायें उतनी प्रमुख नही हैं, यद्यपि सख्या मे सीमित होने पर भी उनमे नये व स्वतन्त्र चिन्तन की झलक अवश्य मिली है। परन्तु प्रगतिवादी होकर भी स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा मे अग्रसर शिवदानसिंह 'चौहान' ने अपना स्थान निश्चय ही अन्यो से भिन्न और स्वतन्त्र बनाया है। वे प्रगतिवादी होकर भी 'वाद' की सीमाओ मे आबद्ध नही रह गये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य का, विशेषकर गद्य का, अध्ययन उन्होने पर्याप्त श्रम के साथ किया है।

इस सम्बन्ध मे धर्मवीर 'भारती', रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे एव रागेय 'राघव' के नामो का स्मरण भी रखना चाहिये। भारती ने तो 'प्रगतिवाद' पर एक समीक्षात्मक ग्रन्थ भी लिखा है। देवराज के 'साहित्यचिन्ता' मे भी पर्याप्त मौलिक व विवेचनात्मक निबन्ध हैं। अन्यो को भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण स्पष्ट करने का गौरव प्राप्त रहा है।

शोध कार्य

आलोचना के क्षेत्र मे इन दिनो दो कारणो से और भी प्रगति हुई है। पिछले कुछ दशको मे अनेक विश्वविद्यालयो मे हिन्दी को उच्चत्तर परीक्षाओ का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है। अनुसन्धान व शोध के कार्य के लिये भी हिन्दी-साहित्य एव हिन्दी का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इससे हिन्दी आलोचना को एक नई दिशा व प्रगति मिली है। निश्चय ही इस प्रकार के शताधिक प्रबन्ध अबतक प्रकाशित हुये है। ऐसे व्यक्तियो द्वारा लिखे अन्य ग्रन्थो की सख्या भी इस समय सहस्राधिक पहुँच चुकी है। परन्तु, फिर भी एक बात जो निश्चित है, वह यह कि इन सब प्रबन्धो मे ऐतिहासिक प्रणाली पर बँधे-बँधाये ढग से एव सग्रह-वृत्ति से अधिक कार्य हो रहा है। मौलिकता की दृष्टि से इनमे से कदाचित् ही कोई लेखक अपनी सम्पुष्ट धारणाओ को लेकर सामने आया है। इसीलिये शुक्ल, वाजपेयी, नगेन्द्र, या हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसा आलोचक व्यक्तित्व अथवा प्रसाद व प्रेमचन्द जैसा साहित्यिक व्यक्तित्व लेकर, इस प्रकार के आलोचको और अनुसन्धानयको मे से, एक भी व्यक्ति सामने नही आया है।

सस्ता साहित्य—इस दिशा मे साहित्य की कलेवर वृद्धि का एक दूसरा कारण है, इन्ही उच्च या माध्यमिक परीक्षाओ के पाठ्यक्रमो मे निर्धारित पुस्तको के लिये सहायक पुस्तको का निर्माण। इतिहास, भाषा-विज्ञान, आलोचना, या काव्य-विषयो, आदि पर ऐसी जितनी भी पुस्तके प्रकाशित हुई हैं, उनमे से बहुत कम से मौलिकता की आशा पूरी होती है। उनका मुख्य उद्देश्य रहता है, पाठको की अधिकाधिक सख्या। उच्च कृति को अथवा मौलिकता को समझने की सामर्थ्य के अभाव मे उनके साहित्य का जन्म होता है। इसलिये उपरोक्त विषयो पर पुस्तकें अवश्य ही सहस्राधिक प्रकाशित हुई हैं, किन्तु उनमे से कम है, जिन्हे साहित्य की प्रगति का कारण कहा जा सकता हे।

नये प्रयत्न—फिर भी इस दिशा मे प्रयत्न हो रहे हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित किया जाने वाला 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' अपने ढग का एक अनूठा प्रयत्न है। अध्ययन को विस्तृत आधार पर ले जाकर पूर्णता तक पहुँचाने का यत्न किया जा रहा है। द्विवेदी, नगेन्द्र, वाजपेयी, रामकुमार वर्मा, आदि महान् आलोचको का उसमे योगदान है। अन्यत्र भी नामवरसिंह, अगरचन्द नाहटा, एव ओमप्रकाश आदि के नाम इस दिशा मे स्मरणीय है। उनके नव्यतम प्रयत्नो मे मौलिकता और अनुसन्धान वृत्ति का एकत्र समन्वय है।

इस प्रकार हिन्दी-आलोचना ने नई दिशाओ मे नये विस्तार पाये हैं! आने वाला युग उसके सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्ष के लिये अधिकाधिक उत्कर्ष का युग होगा। किन्तु, एक बात की चेतावनी शायद उस भविष्य के प्रति आशावाद मे सहायक होगी, वह यह कि विश्व की दूरी पहले से क्रमश. क्षीयमाण होने के साथ-साथ हिन्दी आलोचक का परिचय अग्रेज़ी की सीमाओ को तोडकर, सस्कृत से तो होना ही चाहिये, पर साथ ही यदि वह फ्रैञ्च, रूसी, जर्मन, आदि भाषाओ का भी अध्ययन करने मे समर्थ हो सके, तो न केवल संकुचित दृष्टि ही दूर होगी, बल्कि विशाल मानवतावादी दृष्टि और वृहत्तर पृष्ठभूमि पर हिन्दी साहित्य का अध्ययन एव निर्माण आदि का आरम्भ भी सम्भव हो सकेगा।

साहित्य का इतिहास

पिछली शती मे हिन्दी-साहित्य का अध्ययन आरम्भ होने पर अंग्रेज अध्यापकों एवं उनके देशीय सहयोगियो का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि विशाल साहित्य की उपस्थिति के बाद भी हिन्दी-साहित्य के क्रमिक-विकास से परिचय पाने की समस्या छात्र के सम्मुख बनी ही रहती है। क्रमिक-विकास के अध्ययन की प्रक्रिया यूरोप मे भी अभी आरम्भ ही हुई थी। परन्तु इसके लिये जो सुविधा पश्चिम मे उपस्थित थी, वैसी सुविधा यहां, भारत मे, उपस्थित नही रही। पश्चिम की लेखन-प्रणाली का यह परम्परागतक्रम है कि उनके यहाँ पिछले डेढ हजार वर्ष से अधिक समय से ईस्वी सन् का प्रयोग निरन्तर रूप से प्रचलित है। अतः लेखक या राज-दरबार उसी एक सन् का प्रयोग करते रहे हैं। उससे पूर्व यूरोप मे भी भारत की ही भाँति स्थानीय रूप मे भिन्न-भिन्न सम्वत् प्रयोग होते रहते थे। किन्तु ईसाइयत के व्यापक प्रचार ने एक व्यापक सन् का प्रयोग आज से सहस्राधिक वर्ष पूर्व ही यूरोप मे प्रचलित कर दिया। परिणामतः उसके लेखक ने अपने समयोल्लेख के लिये अप्रत्यक्ष पद्धति का आश्रय न लेकर प्रत्यक्ष पद्धति का आश्रय लिया। और, इतिहास-लेखन की सबसे बडी समस्या तिथि-निर्धारण मे वहां कोई कठिनाई नही हुई। यू तो, हिन्दी-साहित्य की रचना के आरम्भ से भारत मे भी एक ही सम्वत् प्रचलित हो चुका था। फिर भी स्थानीय प्रयोग की दृष्टि से शाक, विक्रमाब्द, आदि की भिन्नता के अतिरिक्त व्यक्तिगत राजा के नाम के सम्वत्, या उसके शासन वर्ष के सम्वत्, आदि की परम्परा भी चलती रही। यहां यह स्मर्तव्य है कि 'पुराणो' या पुराने इतिहास की परम्परा मे, कभी भारत मे भी, 'कलि-सम्वत्' का प्रयोग ईस्वी सन् जितना ही व्यापक रहा था। किन्तु बाद मे यह विभेद एव तज्जन्य कठिनाई अधिकाधिक बढती गई। परिणामत: यह परिस्थिति अभी पिछले कुछ वर्षों तक भी सम्भली नही थी। इसी-लिये हिन्दी लेखको का ठीक-ठीक तिथि-निर्धारण एक कठिन समस्या के रूप मे उपस्थित होता रहा है।

किन्तु, इनमे भी बढकर एक और कठिनाई है, जो भारतीय लेखक के साथ अनादि काल से चली आई है। वह यह कि वह आत्म-परिचय से बचने की कोशिश करता रहा है। नाटकों में ही अप्रत्यक्ष रूप मे समकालिक राजा या पिता के नाम का उल्लेखमात्र हो पाया है। अन्यथा ऐसे परिचय के संकेत अप्रत्यक्ष भले ही पाये जायँ, प्रत्यक्षत: कविमुख से वे उपलब्ध नही होते। तुलनात्मक साक्षी के द्वारा ही हम उनके समय की सामाजिक परिस्थितियों आदि के निर्धारण मे समर्थ हो पाते है। मध्ययुग के हिन्दी-कवि की भी यही प्रवृत्ति रही है। आत्म-परिचय से वह कतराता ही रहा है।

आरम्भिक प्रयत्न

इन कठिनाइयो के बाद भी हिन्दी के इतिहास-लेखन के लिये कुछ सामग्री अवश्य सहायक सिद्ध हुई। ऐसी सामग्री सस्कृत मे भी यदा-कदा ही, विकीर्ण रूप मे मिली होगी। इन्हे हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा मे प्रारम्भिक प्रयत्नमात्र कह सकते है। इस प्रकार की सामग्री मे नाभादस के 'भक्तमाल', गोसाई गोकुलनाथ के 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एव 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' ग्रन्थ तथा इसी प्रकारके अन्य सन्त-वृत्तो का अन्तर्ग्रहण होता है। बहुत से कवि प्राय. सन्त भी रहे है, और सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक भी। उनके जीवन का अतिरजित वर्णन हमे सम्प्रदायो मे प्रचलित वृत्त-ग्रन्थो से भी मिल जाता है। इस सबके अतिरिक्त प्रसिद्ध ग्रन्थो की टीका सामग्री से भी हमे किंचित् सामग्री उपलब्ध होती है।

इस सब साहित्य को हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिये 'उपजीव्य' सामग्री कहेगे। इस प्रकार की उपजीव्य-सामग्री का प्रथम उपयोग किया श्री शिवसिंह सेगर ने। सन् १८८३ ई० मे उन्होने 'शिवसिंह सरोज' नाम से एक वृहत्-काय कवि-वृत्त-सग्रह निकाला। निश्चय ही, इसमे परम्परागत तथा प्रत्यक्ष सचित तथ्यो का समावेश था। साहित्य के अध्ययन एव विश्लेषण का प्रयास इसमे न था। जितनी भी हिन्दी पुस्तकें 'सेगर' महोदय ने देखी या सुनीं, प्राय उन सभी का समावेश इसमे हो गया है। फिर भी यह सग्रह-ग्रथ ही है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ सामग्री जुटाने भर का काम कर पाया है।

इसके कुछ वर्ष बाद सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने सन् १८८९ ई० मे "उत्तरी भारत की आधुनिक भाषाओ का साहित्य" नाम से एक इतिहास ग्रन्थ निकाला।

इसमे कुछ अधिक व्यौरेवार वर्णन था। पाश्चात्य ढंग पर कुछ मूल प्रवृत्तियो को ढूंढ निकालने, तथा कुछ कवियो का स्वतन्त्र रूप में मूल्यांकन करने का प्रयास भी किया गया। परन्तु उनके पास सामग्री अत्यन्त थोड़ी थी, और उन्होने ज्ञात पुस्तकालयो एवं उनमें संचित पुस्तक राशि का लाभ नही उठाया। इसलिये उनका वह 'इतिहास' भी इतिहासग्रन्थो की कोटि मे नही आता। आचार्य शुक्ल ने उसे एक 'बड़ा कवि-वृत्त-संग्रह' ही माना है।

तब प्रसिद्ध फ्रैन्च विद्वान् गार्सा द तासी का नाम आता है। उनका झुकाव उर्दू की ओर अधिक था। वे हिन्दी को अपेक्षाकृत एक निकृष्ट भाषा समझते थे। परन्तु उन्होने भी उर्दू-हिन्दी कवियो का एक वृत्तसंग्रह सन् १८९६ ई० मे निकाला। इस का नाम दिया "हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास"। वस्तुतः उर्दू के प्रमुख कवियो की चर्चा के साथ इसमे यदा-कदा हिन्दी कवियो का भी वर्णन आ गया है। कुल ७० हिन्दी कवियो का वर्णन इसमें हुवा। इसे भी 'इतिहास' कहना भ्रामक है। इसमें रह-रहकर लेखक का उर्दू व इस्लाम के प्रति पक्षपात प्रकट हुवा है।

परन्तु सन् १९०० ई० से सन् १९११ ई० तक काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने हिन्दी-ग्रन्थों की खोज का अथक कार्य किया। सैकडो अज्ञात-कवि प्रकाश मे आये, और ज्ञात कवियो के सैकडों अज्ञात ग्रन्थो का परिचय मिला। इस बीच अनेको खोज-रिपोर्टें प्रकाशित हुईं। उन सबका उपयोग करके श्यामविहारी 'मिश्र' व श्री शुकदेवविहारी 'मिश्र' ने मिलकर 'मिश्रबन्धु-विनोद' नाम से एक पूर्ण इतिहास सन् १९१३ ई० में प्रस्तुत किया। 'मिश्रबन्धु-विनोद' के तीनो भागों मे पाँच सहस्त्र कवियों का वर्णन संकलित हुवा। प्रथम बार हिन्दी-साहित्य को विशिष्ट कालों मे बाँटने का प्रयास किया गया। कवियो की स्वतन्त्रत विवेचना की गई, यद्यपि वह अत्यन्त संक्षिप्त थी। इतने कवियो का परिचय इतने संक्षेप मे देना था भी असम्भव। भाषा एवं लेखन शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माना गया। किन्तु, इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी त्रुटि यही थी कि इसमें किया गया काल-विभाजन नितान्त अप्रमाणिक, परस्पर विरोधी, एवं भ्रामक था। एक ही काल-सीमा मे अनेक 'युगों' या 'कालों' की सत्ता स्वीकार की गई। एक-एक कवि के नाम पर कालों का नामकरण किया गया। कई बार तो ये नाम अत्यधिक उलझन उत्पन्न करने वाले भी सिद्ध हुवे। फिर भी इस प्रयास का अपना महत्त्व है। कवियों के जीवन वृतो की दृष्टि से अब भी इस ग्रन्थ का आश्रय बहुधा लेना पड़ता है।

तब काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के "हिन्दी-शब्द-सागर" का स्थान आता है। इसके तैयार करने का दायित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्याम सुन्दरदास, एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय पर था। अन्तत इसमे शुक्ल जी को ही प्रमुख भार वहन करना पडा। इस बीच हिन्दी-साहित्य की एक विशाल सामग्री का पर्यवलोकन तीनो ने किया। सबसे पूर्व आचार्य शुक्ल ने 'इतिहास' का पहला आधारभूत ढाँचा प्रस्तुत किया। सन् १९२६ ई० मे "हिन्दी-शब्द-सागर" प्रकाशित हुवा। इसकी भूमिका के रूप मे उन्होने सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के इतिहास का सक्षिप्त पर्यवलोकन किया। अपने पिछले कुछ वर्षों के अध्ययापन-जन्य अनुभवो को भी इसमे उन्होने उपयुक्त किया।

इसमे उन्होने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य के वैज्ञानिक काल-विभाजन, एवं उन कालों के नामकरण आदि पर ध्यान दिया। प्रत्येक नामकरण के लिये, उन्होने सतर्क प्रमाण उपस्थित किये। वह कार्य कम महत्त्व का न था। सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य को कुछ विशिष्ट लक्षणो के आधार पर कुछ खण्डो मे विभक्त किया गया था। ऐसे अनेक कवियो का नये ढग से कुछ निश्चित मान्यताओ के आधार पर अध्ययन किया गया था, जिन्हें सामान्यतः उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा था। मिश्रबन्धुओ ने 'हिन्दी-नवरत्न' मे जो शैली अपनाई थी, 'इतिहास' की शैली वही रहनी चाहिये थी। विवेचना के उस ढग को लेकर भी शुक्ल जी ने सम्पूर्ण इतिहास पर तुलनात्मक दृष्टि रखते हुवे, यह प्रयास किया। और, इसमे उन्हे सफलता मिली।

किन्तु, यह प्रयास अत्यन्त सक्षिप्त था। उनके अपने ही शब्दो मे इसका मुख्य उद्देश्य था विद्यार्थियो को सहायता पहुँचाना। इसमे अनेक कवियो पर वे पूरे विचार व्यक्त न कर सके थे। तभी उन्हे तुलसी, सूर, और जायसी की ग्रन्थावलियो के प्रामाणिक सम्पादन एव उनकी प्रामाणिक भूमिकाये लिखने का गुरुतर दायित्व वहन करना पडा। इस अध्ययन-क्रम वे मे कई चमत्कारी-सिद्धान्तो की स्थापना मे सफल हुवे। काव्य मे 'लोकमगल' की भावना, प्रकृति के प्रति विशुद्धतावादी दृष्टिकोण, रसवादी सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता, आदि अनेक विषयो मे उन्होने कुछ निश्चित परिणाम निकाले। उनके ये सिद्धान्त ही 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध-सग्रह मे प्रकाश मे आये। अतः उनके ऐतिहासिक अध्ययन की नीव अधिकाधिक सुदृढ आधार ग्रहण करती गई।

उधर आरम्भ मे उन्ही के साथ कार्य आरम्भ करने वाले डा० श्यामसुन्दर दास व अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी स्वतन्त्र इतिहास-ग्रन्थ लिखे । उनमें से डा० दास का 'इतिहास' अधिक प्रामाणिक एवं उपादेय माना गया । उनके 'हिन्दी भाषा साहित्य' मे आचार्य शुक्ल से कोई मौलिक मतभेद न था । बल्कि, कालो का 'नामकरण' तो शुक्ल के अनुकरण पर ही किया गया । यदि कुछ अन्तर था तो उपस्थापना शैली का । डा० दास की उपस्थापना शैली विद्यार्थियों की दृष्टि से अधिक रोचक थी । किन्तु दूसरी ओर, शुक्ल जी के नवप्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् १९२९ ई०) मे जिस सैद्धान्तिक आधार को विकसित एव सपुष्ट किया गया था, वैसा आधार डा० दास न दे सके थे । डा० दास कबीर, तुलसी, व जायसी के मूल्यांकन मे भी उतना आगे न बढ सके । सूर विषयक मूल्यांकन मे भी वे तर्क की अपेक्षा भावना से अधिक परिचालित रहे हैं । एक मात्र यही कारण था कि आचार्य शुक्ल का नया इतिहास-ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय हुवा । कुछ वर्षो के भीतर इसके अनेकानेक सस्करण प्रकाशित हुवे । देश भर मे उच्च-शिक्षा-स्तर पर इसे पाठ्यक्रमो में स्थान मिल गया । दूसरे इतिहास इस के मुकाबिले मे न टिक सके ।

शुक्ल जी के इतिहास-सिद्धान्तो मे 'लोकमंगल', 'साधारणीकरण', 'प्रकृति का वस्तुगत चित्रण', आदि सिद्धान्तो की जो ऊपर चर्चा की गई है, उसके विषय मे विद्वानो मे मतभेद हो सकते है । किन्तु, शुक्ल जी ने इन सिद्धान्तो के आधार पर ही कवियो और काव्यो के उत्कर्ष व अपकर्ष की कसौटियाँ वनाली थी । उनके अध्ययन मे परिणाम पर पहुंचने की आतुरता सर्वत्र दिखाई देती हैं । निश्चय ही इस प्रकार के अध्ययन मे व्यक्तिगत रुचियों को प्रमुखता मिल जाती है । यह वात आलोचना के क्षेत्र मे सदा प्रशस्त भी नही समझी गई । आलोचक को जहाँ अपनी रुचि-अरुचि व्यक्त करने का पूरा अधिकार है, वहाँ उसमे किन्ही निश्चित निर्णयो को घोषित करने की आतुरता का होना उचित भी नहीं है । पर शुक्ल जी की प्रवृत्ति 'आचार्यत्व' की थी । अतः स्वभावत. उनके वैयक्तिक निर्णयो को उस रूप मे अभिव्यक्ति मिलनी अनिवार्य थी ।

परन्तु शुक्ल जी के बाद के प्रयत्नो मे इस दिशा मे पर्याप्त सतर्कता वरती गई । अनुसंधान की प्रवृत्ति के वढ़ जाने के कारण अब तो प्रायः सभी मुख्य कवियो पर अधिकाधिक अनुसधान होता जा रहा है । पर उस समय इतना वड़ा अनुसधान-साहित्य उपलब्ध न था । इसीलिये कुछ मौलिक प्रयत्न

ही विशेष सम्मान के अधिकारी हुवे। इनमे कुछ प्रमुख लेखको के नाम है : डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, राहुल साकृत्यायन, कृष्णशंकर शुक्ल, डा० श्री कृष्णलाल, डा० सूर्यकान्त, डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र, डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाबराय, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० भगीरथ मिश्र, एव डा० रामबहोरी शुक्ल, आदि। इनमे से भी जो सम्मान डा० द्विवेदी एवं डा० रामकुमार वर्मा के प्रयत्नो को प्राप्त हुवा वह अन्यो को नही। परन्तु इस सब ग्रन्थ-राशि के उपस्थित रहते भी शुक्ल जी का इतिहास अब भी सर्वाधिक प्रामाणिक समझा जाता है। उसका महत्त्व अब भी कम नही हो पाया है।

जहाँ तक डा० विश्वनाथ प्रसाद 'मिश्र', डा० नन्द दुलारे वाजपेयी, एवं डा० नगेन्द्र का सम्बन्ध है, इन्होने इतिहास-विषयक किन्ही ग्रन्थो का सीधे-से निर्माण नही किया। उनके प्रयास विविध कालो के सम्बन्ध मे हैं। डा० मिश्र एवं डा० नगेन्द्र की रीतिकालीन-साहित्य विषयक स्थापनाओ ने हिन्दी साहित्य के अध्ययन को नया मोड दिया है। पाश्चात्य की-सी सतर्क अनुसन्धान-वृत्ति उनके प्रयत्नो मे पाई जाती है। मिश्र जी ने अधिकांशतः शुक्ल जी की ही पद्धति का अनुकरण किया है, जबकि नगेन्द्र ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक पद्धिति का आश्रय भी लिया है। डा० नगेन्द्र एव डा० वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य के विषय मे भी व्यापक रूप मे लिखा है। नगेन्द्र को विशिष्ट प्रवृत्तियों के अध्ययन मे मौलिकता दिखाने का श्रेय प्राप्त है, जबकि वाजपेयी ने समस्त आधुनिक साहित्य पर भी अपनी लेखनी साधिकार चलाई है।

डा० वाजपेयी का दृष्टिकोण निरपेक्ष ऐतिहासिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। शुक्ल के सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण भिन्न है। शुक्ल की-सी 'मर्यादावाद' एव 'आदर्श-प्रियता' की रट यहाँ नही है। "काव्य को उसके अपने ही परिवेश एव काव्य के सामान्य आदर्शो पर ही परीक्षित करना चाहिये"—यह है मत डा० वाजपेयी का। उनका काव्य-वैशिष्ट्य पर बल रहता है। इतिहास को वे 'इतिहास' की दृष्टि से ही देखते हैं। अर्थात् विवेचना के समय क्रमिक विकास पर उनका ध्यान अधिक रहता है। उनकी शैली भी आकर्षक रही है।

डा० श्री कृष्णलाख एव श्री कृष्णशकर शुक्ल ने 'आधुनिक-काल' पर लेखनी उठाई है। उनके प्रयासो मे विस्तृत अध्ययन की-सी दिशा विद्यमान है।

डा० सूर्यकान्त एव बाबू गुलाबराय ने सम्पूर्ण इतिहास को संक्षेप मे प्रस्तुत किया है। डा० सूर्यकान्त के अध्ययन मे ज्ञान की गरिमा प्रकट हुई है, किन्तु मौलिक उपस्थापनाओ मे वे बढ नही पाये हैं। बाबू गुलाबराय का संक्षिप्त अध्ययन—'सुबोध इतिहास'—अधिक सरल व आकर्षक शैली मे लिखा गया है। उसमे मौलिकता नही है। बहुत थोड़े पृष्ठो मे ही, विद्यार्थियो के लिये उपयोगी रूप मे, उन्होने यह इतिहास प्रस्तुत किया है। उनका दृष्टिकोण अधिकांशत शुक्ल जी का अनुवर्त्ती ही रहा है। अनेक स्थलो पर उन्होने निष्पक्ष ऐतिहासिक बनने की ओर भी झुकाव दिखाया है। विद्यार्थियो मे यह पुस्तक अत्यधिक लोकप्रिय हुई है।

इस दृष्टि से व्यापकतम अध्ययन, गहन अनुसधान, एव मौलिकता का संनिवेश लिये, डा० रामकुमार वर्मा का, "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" अधिक प्रशस्त कहा जा सकता है। अभी तक प्रथम भाग भक्तिकाल तक, ही प्रकाशित हुवा है। इसका दूसरा भाग लिखने का अवकाश लेखक को नही मिल पाया है। इसी को संक्षिप्त रूप मे, एक पूर्ण इतिहास के रूप में, उन्होने पृथक् से भी लिख दिया है। उनका यह प्रयास प्रथम बार सन् १९३८ ई० मे छपा था। तब से कई संस्करण इस ग्रन्थ के हो चुके हैं। इस इतिहास ग्रंथ ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है। लेखक ने अपनी अनुसन्धानमयी प्रतिभा के अतिरिक्त समस्त उपलब्ध सामग्री का भी खुलकर उपयोग किया है। उसने कवि, परिस्थिति, रचना-वैशिष्ट्य आदि का पूर्ण परिचय दिया है। ग्रंथ का आकार बड़ा होना स्वाभाविक था। किन्तु इससे ग्रथ की उपयोगिता अत्यन्त बढ गई है। फिर भी एक बात स्पष्ट है कि लेखक किन्ही नये सिद्धान्तो की स्थापना मे प्रवृत्त नही हुवा है। अपने अध्ययन को पूर्णतम रूप मे प्रस्तुत करके भी उसने तथ्य-विवेचन तक ही अपने को सीमित रखा है। 'कबीर' तथा उनके 'रहस्यवाद' पर उसका अध्ययन विशिष्ट कहा जा सकता है। यद्यपि वहाँ भी मौलिक रूप से नवीन बात उसने कम ही कही है। इस ग्रन्थ ने निश्चय ही साहित्य-इतिहास सम्बन्धी क्षेत्र मे लेखक को अमर कर दिया है।

परन्तु हिन्दी-साहित्य के आकाश मे एक नये प्रकाश को फैलाने एव एक नयी दिशा सुझाने का श्रेय जाता है डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को। विशेष कर 'आदिकाल' व 'मध्यकाल' के सम्बन्ध मे उनकी मौलिक उपस्थापनाओ ने हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी अध्ययन मे क्रान्ति ही लादी है।

इसका एकमात्र कारण है, उनका सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से अगाध परिचय ! वास्तविकता यह है कि हिन्दी का साहित्य भारत के अद्यतन सम्पूर्ण साहित्य (वैदिक से लेकर आजतक) से विच्छिन्न करके नही पढा जा सकता। इसे समग्रता मे समझने और प्रस्तुत करने मे वही लेखक समर्थ हो सकता है, जिसने स्वयं अद्यावधि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का परिशीलन एव मन्थन किया हो। सौभाग्यवश डा० द्विवेदी को यह गौरव प्राप्त है। वैदिक साहित्य से लेकर अद्यावधि भारतीय साहित्य का उन्होने स्वय शीलिनपर किया है। भारतीय साहित्य के पारदृश्वा विद्वानों—रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं आचार्य क्षिति मोहन सेन—के सम्पर्क ने उन्हें हिन्दी-साहित्य के पुनर्मूल्यांकन के लिये प्रेरणा दी। परिणामतः अपनी पहली कृति 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' मे ही वे एक नई पृष्ठभूमि व नवीन अनुसंधानमयी दृष्टि के साथ हिन्दी-साहित्य-सेवी ससार के सम्मुख आये। इसी छोटी सी पुस्तिका में, अहिन्दी भाषियो के सम्मुख दिये गये, उनके कुछ भाषण क्रम-बद्ध थे। परिशिष्ट के रूपमे कुछ ज्ञातव्य तथ्यो का आकलन भी उन्होने कर दिया था। इस पुस्तक के प्रकाशन ने साहित्यिक अभिरुचि-सम्पन्न हिन्दी पाठको के सम्मुख विचार योग्य एक सामग्री उपस्थित की। शैली की सरलता ने पाण्डित्य की गम्भीरता को ढक लिया।

किन्तु, इसमे 'रीतिकाल' तक ही विचारणीय पृष्ठभूमिका उपस्थित की गई थी। इसी दृष्टि पर लिखे गये सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास की उनसे अपेक्षा व माग थी। वैसा होने से पहले डा० द्विवेदी ने आदिकालीन-साहित्य के सम्बन्ध मे अपने विशिष्ट भाषण 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' के सम्मुख दिये, जो बाद में पुस्तकाकार छापे गये। इन भाषणो मे उन्होंने आदिकालीन हिन्दी-साहित्य पर अत्यधिक गवेषणामय सामग्री उपस्थित की। 'पृथ्वीराज रासो' एव अन्य रासो-साहित्य के सम्बन्ध मे उन्होने कुछ अकाट्य-तर्क एवं मननीय विचार प्रस्तुत किये। इधर 'आदिकाल' के सम्बन्ध मे एक नई दृष्टि लोगो के सम्मुख आई ही थी कि उनका 'कबीर' नामक शोध-प्रबन्ध सामने आया। 'कबीर' के अध्ययन की मौलिकता, सामग्री की परिपूर्णता, एवं उपस्थापन शैली की सतर्कता ने हिन्दी साहित्य के अध्ययन को एक नई दिशा दी। और अब तो मध्यकाल की अन्य 'साधनाओ' पर भी उनकी रचनायें सामने आ चुकी हैं।

पर यह सब अधूरा था, एकागी था। उनके प्रयासो में पूर्णता लाने का श्रेय

है, उनकी छोटी सी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य' को ! कहने को यह पुस्तक विद्यार्थियो के लिये, अत्यन्त सक्षेप मे, लिखी गई है। किन्तु, अत्यन्त सक्षिप्त होकर भी जितनी विचारणीय सामग्री इस अकेली पुस्तक मे पाठको के सम्मुख उपस्थित की गई है, उस के कारण इस पुस्तक का महत्त्व बडे-बडे विद्वानो के लिये भी बढ गया है। शैली की रोचकता, भाषा की सरलता, अनावश्यक कठिनाइयो की उपेक्षा, आदि ने मिलकर उसकी उपयोगिता बढा दी है। उनसे आशा थी, और अब भी है, कि वे हिन्दी-साहित्य का एक वृहद् इतिहास भी लिखेगे। यह सौभाग्य की बात है कि डा० नगेन्द्र, डा० द्विवेदी, आदि के सम्पादकत्व मे "हिन्दी-साहित्य का वृहद् इतिहास" सोलह वृहत्काय—खण्डो मे प्रकाशित होना भी आरम्भ हुवा है। डा०द्विवेदी ने 'आदि-काल' के भाग के सम्पादन का दायित्व अपने ऊपर स्वीकार किया है। हम चाहेगे कि वे एक स्वतन्त्र इतिहास ग्रंथ भी लिखें।

डा० भगीरथ मिश्र तथा डा० राम बहोरी शुक्ल ने मिलकर एक इतिहास ग्रथ लिखा है। इसी प्रकार के अन्य प्रयत्नों मे डा० विजयेन्द्र स्नातक, जयनाथ 'नलिन', डा० गोविन्दराम, आदि के प्रयास भी गिने जा सकते हैं। इनका महत्व विद्यार्थियो के लिये सुविधापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना ही है। इस विषय मे शिवकुमार द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ' को भी उचित मान्यता मिलनी चाहिये।

परन्तु, एक कमी इन सब मे समान रूप से पाई जाती है। वह यह कि ये सभी ग्रन्थ सग्रह-ग्रन्थ-मात्र ही बनकर रह गये है। लेखक की स्वतन्त्र अध्ययन-दृष्टि उनमे नही आ पाई है। 'इतिहास' का अर्थ केवल 'कवि-वृत्त-संग्रह' या 'तथ्य-संग्रह' मात्र से नही है। 'इतिहास' की तिथियो और जीवन-परिचय मे नित्य-नूतनता का समावेश नही किया जा सकता ! यदि केवल इतने श्रम भर का ही नाम 'इतिहास' होता, तो उसे विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखने का कोई तात्पर्य ही न रह जाता। 'शैली' को 'व्यक्तित्व' कहने वाले 'शैली की पृथक्ता' पर बल देंगे। हमे उसमे भी आपत्ति नही है। शैली की नूतनता को लेकर सैकडो इतिहास सामने आये, तो हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि ही होगी। पर इससे भी 'इतिहास लेखन' समृद्ध न होगा। प्रत्येक लेखक जब तक अपने अध्ययन (स्वाध्याय) के परिणामो को ऐसी कृति मे समाविष्ट नही करता, तब तक उसका 'इतिहास' उसके वास्तविक व्यक्तित्व का परिचायक नही बनता। इस विषय मे हम आचार्य शुक्ल एव डा० द्विवेदी के

प्रयत्नो में विद्यमान मौलिक अन्तर की ओर ध्यान खीचना चाहेगे। इन दोनों से भिन्न डा० रामकुमार वर्मा का व्यक्तित्व तथ्य-सचन एव पूर्ण-अध्ययन के शैलीगत-वैशिष्टय मे है। परवर्ती इतिहास-ग्रन्थ इस दृष्टि से एकांगी एवं अपूर्ण है। उन्हें संग्रह-ग्रंथमात्र कहा जा सकता है।

कुछ शब्द, इस प्रसग में, हिन्दी-साहित्य के वृहद् अध्ययन-प्रयत्नो के सम्बन्ध में कह देना भी अनुचित न होगा। इस समय इस सम्बन्ध मे दो प्रयत्न हो रहे है: एक 'काशीनागरी प्रचारिणी सभा' के तत्वावधान मे, तथा दूसरा, 'भारतीय साहित्य-परिषद्' की देखरेख मे। 'सभा' की सम्पादन-समिति मे देश के प्राय. सभी लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो का सहयोग लिया गया है। अगले एक दो वर्ष मे ही यह कार्य पूर्ण हो जाने की सम्भावना की जा सकती है। कुल मिलाकर सोलह बृहत्-काय खण्डो मे यह कार्य सम्पूर्ण होना है, जिसमे से तीन खण्ड अब तक प्रकाश में आ चुके है। कुछ अन्य खण्डो के शीघ्र ही प्रकाश मे आने की सम्भावना है। प्रथम खण्ड हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। डा० राजबली पाण्डे के सम्पादन में भगवतशरण उपाध्याय, बलदेवप्रसाद उपाध्याय, व वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे यशस्वी लेखको के हाथों यह ग्रन्थ पूर्ण हुवा है। धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, कला, आदि सभी की परिचयात्मक पृष्ठभूमि इसमे दे दी गई है। सचमुच महान् प्रयास है। किन्तु, यह देखकर निराशा हुई कि उसमे उन विशिष्ट तत्वों के विकास को दिखाने मे कुछ जगह उपेक्षा ही की गई है, जिन का हिन्दी पर सीधा प्रभाव पडा। उदाहरणार्थ भक्ति की पृष्ठभूमि को समझने की इच्छा रखने वाला छात्र, अथवा उपजीव्य ग्रन्थो—महाकाव्यो एव पुराणो—की हिन्दी-सम्बन्धी आलोच्य सामग्री पाने से निराश ही रह जाता है। एक खण्ड 'रीतिकाल' के सम्बन्ध में डा० नागेन्द्र के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुवा है। इसमे भी डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० ओम्प्रकाश, डा० सत्यदेव चौधरी सरीखे प्रशस्त विद्वानो ने योगदान दिया है। डा० नगेन्द्र ने पृष्ठभूमिका के रूप मे अपनी पुरानी कृति को ही दे दिया है। उनसे हमे नवीनता की आशा थी। अन्य विद्वद्वरो ने अपने तई विस्तार मे जाने का भरसक यत्न किया है। किन्तु, इतने बृहत्काय ग्रन्थ को देखकर जो यह आशा बंधती थी कि नित्य नये अन्वेपणो पर पूरी दृष्टि रखकर, इसे पूर्ण बनाने का प्रयास किया जायेगा, वैसा नही हुवा है। फिर, पृष्ठभूमि मे भर्तृहरि के 'शतक-त्रय' के प्रति उपेक्षा अब तक सर्वत्र बरती जा रही है। अन्य खण्डो के विस्तार मे बिना गये, हमे मूलत: एक ही बात कहनी

है, कि ऐसे बृहत्काय प्रयत्नों में एक केन्द्रीय एवं निश्चित नीति होनी ही चाहिये। साथ ही उस ग्रन्थ का अन्तिम पारायण सभी सम्मान्य सम्पादकों द्वारा होना चाहिये। छूटे अंशों को सुझावों के अनुसार पूरा किया जाना चाहिये। यही बात कुछ घट-बढकर भारतीय-साहित्य-मन्दिर के प्रकाशन पर भी लागू होती है। 'बृहत्काय' प्रयत्नों का अर्थ काया के बृहत् होने से ही नहीं है, उसमे मौलिक दृष्टि एवं सर्वांगीण अध्ययन की भी अपेक्षा होती है। यदि लेखक अपने व्यक्तित्व की छाप, अपने सुझावों के रूप में, अपने अध्ययन में नही छोड पाया, तो इतिहास का अध्ययन 'साहित्य' की विधा में गृहीत न हो कर 'शास्त्र' की विधा मे ही गृहीत होगा।

नई-दृष्टि से कार्य करने की सम्भावना कितनी अवशिष्ट है, इस विषय में हम डा० दशरथ ओझा एव डा० बनारसी शर्मा के 'रास और रासान्वयी काव्य' की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पद्धति पर चलकर भी इस ग्रन्थ मे जितनी मौलिकता एवं सूझ-बूझ का प्रदर्शन हुआ है, उसे हिन्दी के इतिहास-लेखकों के लिये आदर्श कहा जा सकता है।

इस दिशा मे अधिकाधिक प्रयास होने चाहियें। अब तो ऐतिहासिक-शोध-प्रबन्धों की अधिक उपलब्धि भी सम्भव हो गई है, तथा उपजीव्य-सामग्री भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होने लगी है। हमें आशा करनी चाहिये कि इस विषय में ठीक दिशा मे उत्तरोत्तर अधिक प्रयास होंगे।

हिन्दी पत्रकारिता

बंगला, फ़ारसी, व अंग्रेजी पत्रकारिता ने भारत मे पहले प्रसार पाया। हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास पिछले डेढ सौ वर्षों से भी कम समय का है। सन् १८२६ ई० में हिन्दी के प्रथम पत्र का प्रकाशन हुवा। कलकत्ता से 'उदन्त मार्त्तण्ड' तथा आगरा से 'बुद्धिप्रकाश' नाम के समाचार पत्रों के प्रकाशन का आरम्भ इसी वर्ष हुवा। तब से आज तक कलकत्ता ने हिन्दी को अनेक उत्कृष्ट समाचार पत्र दिये हैं: दैनिक भी और मासिक भी! इन दोनों पत्रों के प्रकाशन के कुछ समय के अन्दर ही राजा राममोहनराय द्वारा सम्पादित 'बंगदूत' भी हिन्दी मे प्रकाशित होना आरम्भ हो गया। फिर तो अगले ५० वर्षों मे कम से कम ३६ समाचार-पत्र या साहित्यिक पत्र हिन्दी मे प्रकाशित हुवे। इन सभी पत्रों को साहित्यिक उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता। इनमे से कम का ही स्तर साहित्यिक कोटि का था। फिर भी राजा लक्ष्मणसिंह के 'प्रजा हितैषी', एवं राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के 'बनारस' अखबार का नाम प्रमुख रूप मे, लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अल्पजीवी और स्थानीय महत्त्व के अन्य कई छोटे-छोटे पत्र भी प्रकाशित हुवे।

सन् १८७३ ई० मे भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' का सम्पादन आरम्भ किया। यहाँ से पत्रकरिता का इतिहास पलटता है। उनके 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', और 'बनारस-गजट' मे राजनीति का भी पुट रहता था। किन्तु 'कविवचन-सुधा', 'बाला-बोधिनी', आदि का एक निश्चित ध्येय था। साहित्याह्लाद के साथ-साथ जन-शिक्षण की भी भावना उनके हृदय मे थी। वे इसे साहित्य-सेवा के उद्देश्य से बढा रहे थे। उनके साथ ही इस युग के प्राय: सभी प्रसिद्ध साहित्यकारों ने एक न एक पत्रिका का सम्पादन किया, और अपनी-अपनी योग्यतानुसार इस क्षेत्र की सेवा की। उनमे कुछ प्रसिद्ध पत्रिकायें थी—बालकृष्ण 'भट्ट' द्वारा सम्पादित 'हिन्दी प्रदीप', प्रतापनारायण 'मिश्र' द्वारा सम्पादित 'ब्राह्मण', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा सम्पादित 'आनन्द-कादम्बिनी', बाबू जगन्नाथदास द्वारा सम्पादित 'साहित्य-सुधानिधि', आदि।

इन सब के द्वारा साहित्य-सेवा का व्रत लेकर सम्पादक बढ़ रहे थे। परन्तु इस पर भी ये पत्रिकाये अल्प-जीवी ही रही।

सन् १८९६ ई० मे, काशीनागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के कुछ काल के भीतर ही, उसकी मुख-पत्रिका 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन आरम्भ हुवा। यह मासिक पत्रिका थी। इसका कार्य क्षेत्र शीघ्र ही अनुसन्धानात्मक हो गया। तब सन् १९०० ई० मे बाबू श्यामसुन्दरदास के द्वारा मे 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा', एव प्रयाग के अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' के संस्थापक बाबू चिन्तामणि घोष के सम्मिलित संरक्षण मे 'सरस्वती' नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका का सम्पादन प्रयाग मे प्रारम्भ हुवा। बाबू श्यामसुन्दरदास समेत पाँच सम्पादकों ने इसके सम्पादन का दायित्व प्रथम वर्ष मे सम्भाला। धीरे-धीरे अन्य सब यह उत्तरदायित्व छोड़ते गये और अन्ततः बाबूजी अकेले मैदान मे रह गये। काशी मे रहते वे प्रयाग के पत्र का सम्पादन एक बोझ ही था। फिर नागरी-प्रचारिणी-सभा एवं उसकी पत्रिका का कार्य-भार भी कम नही था। फलस्वरूप उन्होने घोष महोदय से कहकर महावीरप्रसाद द्विवेदी से 'सरस्वती' का सम्पादकत्व सम्भाल लेने की प्रार्थना की।

सन् १९०२ ई० के अन्त मे द्विवेदी जी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादकत्व सम्भालने के बाद से हिन्दी-पत्रकारिता मे नये युग का सूत्रपात होता है। इसी साल एक और महत्त्वपूर्ण घटना हुई, जिसने कुछ वर्ष बाद पत्रकारिता के क्षेत्र को अपूर्व देनें दी। यह घटना थी महात्मा मुंशीराय द्वारा 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना। बाद मे इस संस्था के प्रथम स्नातक के बाद से आज तक इस सस्था ने भारत के प्रायः सभी प्रशस्तपत्रो मे समय-समय पर प्रसिद्धतम पत्रकारो को अपने स्नातको के रूप मे भेजा। इस संस्था की स्थापना के कुछ वर्ष के अन्दर ही महात्मा मुंशीराम ने अपने उर्दू के 'सद्धर्म प्रचारक' को हिन्दी मे निकालना आरम्भ कर दिया।

किन्तु, 'सरस्वती' का महत्त्व केवल एक साहित्यिक पत्रिका के रूप मे नही है। वह तो अपने युग का एक चलता-फिरता आन्दोलन था, जिसके सूत्राधार थे महावीरप्रसाद द्विवेदी। अपने युग के सम्पादको की भाँति सम्पादन-सामग्री जुटा देना भर ही उन्होने अपना कर्त्तव्य नही माना। बल्कि लेखन, संशोधन प्रूफ-रीडिंग, पुनर्लेखन, आदि सभी कार्यों का उत्तरदायित्व अपने कन्धो पर ले लिया। १८ वर्षों के सम्पादन काल मे केवल एक बार ही ऐसा हुवा कि दो अंको को एक साथ निकालना पड़ा। अन्यथा उस युग के लिये यह अश्रुतपूर्व

बात थी कि कोई पत्रिका नियमित समय पर प्रकाशित होती रहे। सम्पादक को 'आचार्य' का महत्त्व देने वाले द्विवेदी जी ही थे। न उससे पहले यह परम्परा थी, न बाद मे रही। 'सम्पादकाचार्य' तो बाद मे भी अनेक हुवे, किन्तु 'आचार्य-सम्पादक' द्विवेदी जी ही अकेले थे! 'माधुरी', 'चाँद', आदि उस समय की अन्यान्य पत्रिकाओ की तुलना से यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। दूसरा ऐसा सम्पादक केवल बनारसीदास चतुर्वेदी को ही कहा जा सकता है।

मासिक पत्रिकाओ के क्षेत्र मे इसके बाद 'विशाल भारत' ही उसी तेज के साथ उठी। परन्तु, यह बहुत बाद की घटना है। उसके बाद द्वितीय महायुद्ध और युद्धोत्तर-काल मे तो मासिक पत्रिकाओ की बाढ ही आ गई है। किन्तु उनमे साहित्यिक उपयोगिता एव स्थायिता की दृष्टि से थोडी ही पत्रिकायें टिक पाई है। 'इन्दु', 'चाँद', 'कल्पना', और 'मतवाला' को प्रसिद्ध छायावादी कवियों का सम्पादन प्राप्त हुवा अवश्य, किन्तु वे भी स्थायी न बन सकी। वर्तमान पत्रिकाओ मे 'आजकल', 'विशाल भारत', 'सरस्वती', 'विश्व-वीणा', 'विश्व-भारती', 'सम्मेलन-पत्रिका', 'नया-साहित्य', 'साहित्य-सन्देश', 'ज्ञानोदय', 'नवनीत', 'कादम्बिनी', 'मुक्ता', आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कहानी-पत्रिकाओं और सिनेमा जगत-सम्बन्धी पत्रिकाओ की सी बाढ ही आ गई है। सम्पादकीय आदर्श की दृष्टि से इनमे से कम की पुराने आदर्शो पर पूर्ण उतरती हैं। हाँ, प्रेस पर पूँजीपतियो का अधिकार होने से बाह्य परिवेश मे अवश्य अन्तर आता जारहा है।

साप्ताहिक पत्रो का हाल भी पलट गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व तक, बल्कि उसके अन्त तक जिन साप्ताहिक-पत्रो ने हिन्दी की अथक सेवा की, उनमे से शायद ही कोई-कोई शेष रह पाया है। वीर अर्जुन, लोकमत, लोकमान्य, नवयुग, सन्मार्ग, प्रताप, आदि के पुराने अखाडे मे से कोई-कोई ही बच पाया है। उनकी जगह 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' एव 'धर्मयुग' जैसे व्यापक पत्रों ने ले ली है। इस क्षेत्र मे नवीनतम व्यापक पत्र है—'ब्लिट्ज', जिसका हिन्दी सस्करण तृतीय साधारण-चुनावो के बीच ही प्रकाशित होना आरम्भ हुवा है। स्थानीय रूप मे अन्य भी अनेको पत्र आर्य-जगत्, आर्य-मित्र, अनेकात मनु, आदि निकल रहे हैं। प्रसिद्ध दैनिक पत्रो के भी साप्ताहिक सस्करण निकल कर इस क्षेत्र की संख्या बढ़ा रहे है। कुछ सिने-पत्र भी साप्ताहिक और पाक्षिक रूप मे निकल रहे है। इनमे अखिल-भारतीय स्तर पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', एव 'धर्मयुग' को ही साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस क्षेत्र

के पुराने महारथियो मे से कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, जयन्त वाचस्पति, अवनीन्द्र विद्यालकार, महावीर अधिकारी, हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, नरेन्द्र विद्यावाच-स्पति, आदि प्रसिद्ध हैं।

दैनिक पत्रो मे भी वहुत उथल-पुथल हो गई है। हिन्दी का प्रथम प्रसिद्ध दैनिक पत्र था 'विजय', जिसका प्रकाशन देहली से सन् १९२० ई० के आस-आरम्भ हुवा था। इससे पहले दैनिक पत्र तो कई निकले, किन्तु सम्पादकीय उच्चादर्शो से युक्त वे न थे। उसी युग मे वनारस के 'आज' को प्रसिद्धि मिली। फिर 'ससार' का प्रकाशन हुवा। तव दिल्ली से 'वीर अर्जुन' व 'हिन्दुस्तान', वम्वई से 'हिन्दुस्थान', कलकत्ता से 'विश्वमित्र' व 'सन्मार्ग' आदि का प्रकाशन आरम्भ हुवा। आगरा, इलाहावाद आदि से अनेको स्थानीय पत्रो का प्रकाशन भी आरम्भ हुवा। पर उनमे से जीवित कम ही रह पाये है। पंजाव के 'हिन्दी मिलाप', एवं कलकत्ता के 'विश्वमित्र' एव 'सन्मार्ग' के अतिरिक्त वहुत से पत्रो ने वहुत उतार चढ़ाव देखे है। कभी भारत का सर्वाधिक अग्रणी 'वीर अर्जुन', एक वार लोप होकर, फिर नये हाथो से प्रकाशित होना आरम्भ हुवा है। 'लोकसत्ता' कुछ दिन चलकर ही वन्द हो गया। 'हिन्दुस्तान' वड़े उतार-चढावो के वाद फिर सम्भल गया है। इस समय वह भारत का दूसरे स्थान पर सर्वाधिक विकने एवं पढा जाने वाला हिन्दी दैनिक है। दैनिक पत्रो के इतिहास मे युद्धोत्तर विकास की दृष्टि से 'नवभारत टाइम्स' ने सर्वाधिक प्रसिद्ध प्राप्त की है। वम्वई व दिल्ली से एक साथ प्रकाशित होने वाला यह पत्र सर्वाधिक दैनिक पाठको के हाथो मे पहुँचता है। 'ससार', 'आज', आदि चल रहे हैं, पर उनकी पुरानी वात अव नही रही है। प्रतिद्वन्द्विता के इस युग मे सम्पादन ही नही धन पर भी वहुत कुछ आधारित करता है। प्रेस सम्बन्धी नवीनतम आविष्कारो के उपयोग पर ही दैनिक-पत्रो का भविष्य आधारित है।

इस क्षेत्र मे हिन्दी ने अव तक जितने महन् सम्पादक दिये है, उतने इस युग मे अन्य किसी भारतीय भाषा ने दिये हैं या नही ? नही कहा जा सकता। वावूराव विष्णुराव पराडकर, लक्ष्मणनारायण 'गर्दे', कमलापति त्रिपाठी, इन्द्र विद्यावाचस्पति, रामगोपाल विद्यालंकार, सत्यदेव विद्यालकार, आदि कुछ नाम हैं, जिन्हे हिन्दी साहित्य गर्व के साथ विश्व के चुने हुवे सम्पादको की श्रेणी के लिये प्रस्तुत कर सकता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-सम्पादक की मर्यादा वनाई, वनारसीदास चतुर्वेदी ने उसकी पद-वृद्धि का सघर्ष किया, और इन दैनिक सम्पादको ने उसे विश्व-सम्पादन की श्रेणी मे ला विठाया है।

लेखक-नामानुक्रमणिका